मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य

— डॉ॰ शिवशङ्कर अवस्थी

चौखम्बा प्रकाशन

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

६५

मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य

(तन्त्रानुसार)

लेखक—

डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी शास्त्री

एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच्० डी०

रीडर, संस्कृत विभाग,

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भूमिका-लेखक—

म० म० श्रीगोपीनाथ कविराज

एम० ए०, डी० लिट्०

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

95

MANTRA AUR MĀTṚKĀON KĀ RAHASYA

(Significance of Mantras and Matrikas according to Tantrism)

By

Dr. Shiva Shankar Awasthi Shastri

M. A. (Sanskrit-Hindi), Ph. D.

Reader, Sanskrit Department,

University of Gorakhpur, Gorakhpur.

Introduction by

M. M. Gopinath Kaviraja

M. A., D. Litt.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

तन्त्रायिणे नमः ।

(यजुर्वेद)

जयति स्वपरिस्पन्दानन्दान्दोलनलीलया ।
मन्त्रतत्त्वं त्रितत्त्वात्म तन्त्रयन्नेत्रमैश्वरम् ॥

(क्षेमराज)

अविगीता च प्रसिद्धिरागमः ।

(अभिनवगुप्त)

न विद्या मातृकापरा ।

(स्वच्छन्दतन्त्र)

ध्यायेल्लिपितरोर्मूले देवीं तन्मयपङ्कजे ।
वदन्ति सुधियो वृक्षं नित्यं वर्णमयं शुभम् ॥
परसंविन्महाबीजं बिन्दुनादमहाशिफम् ।
पृथिव्यक्षरशाखाभिः सर्वाशासु विजृम्भितम् ॥
सलिलाक्षरपत्रैः स्वैः सञ्छादितजगत्त्रयम् ।
वह्निवर्णाङ्कुरैर्दीप्तं रत्नैरिव सुरद्रुमम् ॥
मरुद्वर्णलसत्पुष्पैर्द्योतयन्तं वपुःश्रियम् ।
आकाशार्णफलैर्नम्रं सर्वभूताश्रयं परम् ॥
परामृताख्यमधुभिः सिञ्चन्तं परमेश्वरीम् ।
वेदागमादिभिः क्लृप्तसमुन्नतिमनोहरम् ॥
शिवशक्तिमयं साक्षाच्छायाश्रितजगत्त्रयम् ।
एनमाश्रित्य मुनयः सर्वान्कामानवाप्नुयुः ॥

(शारदातिलकतन्त्र)
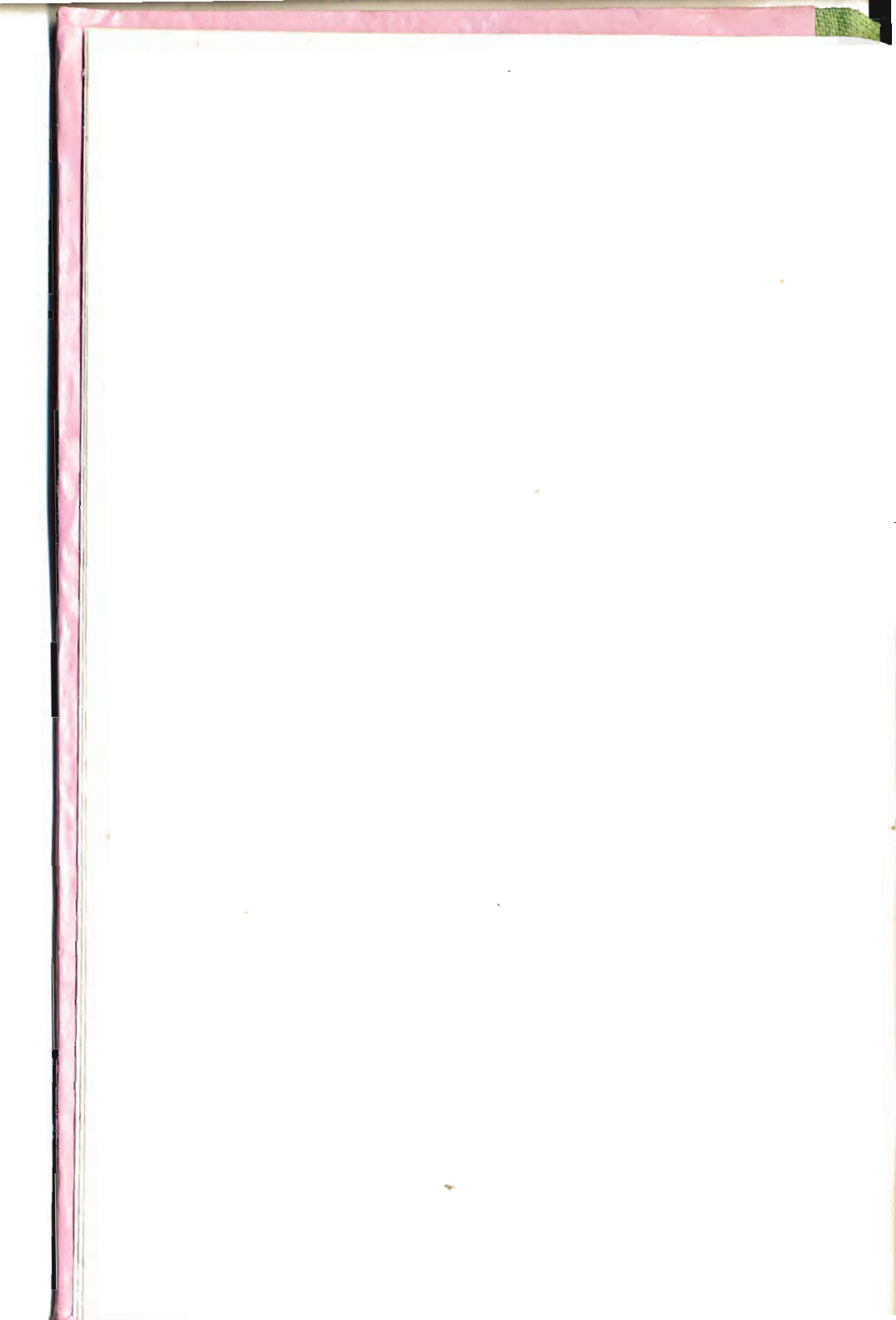
INTRODUCTION

The following pages represent a very laudable attempt to unravel the mysteries of the Science of Mantras and of the Matrikas which constitute their essence.

In ancient cultures of the world—Indian, Jewish (Qabalist), Pre-Hellenic, Egyptian, Babylonian, Median etc.,—the efficacy of sound as a potent factor for producing desired results of an unusual and marvellous type was recognised. In India, however, not only among the Vedic and Tantric Sadhakas, but also in outside circles (e. g. Shabara etc.), we observe, besides the appreciation of the potency of sound as a practical subject of study, a spirit of systematic and careful investigation into the philosophy of sound in the shape of Mantra. We are reminded in this context of the wonderful analysis of Vak, Vocal and supra-Vocal, in our ancient scriptures.

As a matter of fact, the earliest school of yogic discipline is traditionally identified with the Way of Bhairava (Srotas), which is based on a hidden knowledge of वाक्, combining in itself the elements of knowledge and action both. It is technically known as the path of स्पन्द, which is logically prior to ज्ञान and क्रिया.

It is a pleasure to find that the writer of the present book took up this obscure but most important study and has laid the interested world under a deep debt of obligation by the publication of the results of his researches in this field. His work consists of eight chapters as follows :—

The first chapter is more or less of an introductory nature. It deals with the meanings of the words तन्त्र and आगम and furnishes a short bibliography of the earliest literature from different points of view. The next two chapters, called आगमसमुच्चय, sum up the main teachings of the Tantras on the conception of वाक् and on its different varieties. In this connection he has given a brief and admirable exposition of अहन्ता which is

the quickening spirit in every मन्त्र. It may be observed that अहं as a symbol represents not only the entire field of Matrikas manifested from अ to ह as a series of discrete forces, following one another in succession, but also their emergence as a self-aware continuum, holding within it the entire creation as one with itself.

The two chapters which follow discuss on the different aspects of मातृका with their outer menifestation as phonic rays popularly known as वर्ण or letters of the alphabet. The sixth chapter dwells on the way in which the development of the Matrika Varnas is effected. The seventh chapter of the book treats of the aforesaid Varnas and the objects developed by them. So far an attempt has been made to give a detailed analysis, on the basis of ancient texts, of the question of मातृका in its different phases. The eighth and concluding chapter contains a very interesting discourse on the philosophy of मन्त्र. Here we find a short but useful summary of several facts regarding this philosophy, including their classification, their defects, the method of removing these defects etc.

The writer has based his work on older Tantric Texts including most of the important works published in the Kashmir Sanskrit Texts Series and in the Tantric Texts Series of Arthur Avalon. He has also utilised works like प्रपञ्चसार and शारदातिलक with their commentaries. But he does not seem to have made much use of the literature of सिद्धान्तशैव, वीरशैव, पाशुपत, कौल, नाथ and क्रम schools, including the भैरव school etc., whose views on Mantras and Matrikas may in some respects be found to be useful, not only as original but also as supplementary contributions.

मन्त्रशक्ति has a very important part to play in the spiritual regeneration of man. The status of the soul influenced by मन्त्रशक्ति, differs substantially from that attained by it, without such शक्ति. Matrika as an integral power is really the name of परावाक्, which is identical with the unique consciousness of the Supreme Self or परमशिव and may be justly represented as His Free Will (स्वातन्त्र्य). As पूर्णाहन्ता it serves as the Matrix of world manifestation in the sense in which the One realizes Itself

as many, and realizes the many as verily the One. There is nothing to stand in its way. But to an ordinary human soul tainted by मल, it is the basic factor in the genesis of Vikalpas in the mind, and as such it is intimately associated with the so-called six psychic centres in the human organism. From this point of view, मातृका functions properly only after the obscuration (तिरोधान) of the Lordship of the Atman has been effected by its self-alienation in the beginning of Creation.

The knowledge of an ordinary man is invariably coloured by the play of the Matrikas—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते. The aim of मन्त्रसाधना, as of every other Sadhana, is to neutralize the effects of Matrikas, so that the attainment of निर्विकल्पक ज्ञान may become possible. For this the primal necessity is that the मन्त्र should be potent and living—it should not be merely a string of dead letters, but should be infused with the freshness of vitality inherent in अहन्ता. This process implies an act of energizing and must be attained by any means. It is a difficult subject and requires close study and careful practice under the guidance of a competent Master.

I am hopeful that the study of this small book, though it may be of a preliminary character, will awaken an intelligent interest in spiritual-minded people and help them in pursuing the subject further with greater and greater thoroughness.

Sigra,
Varanasi

Gopinath Kaviraj
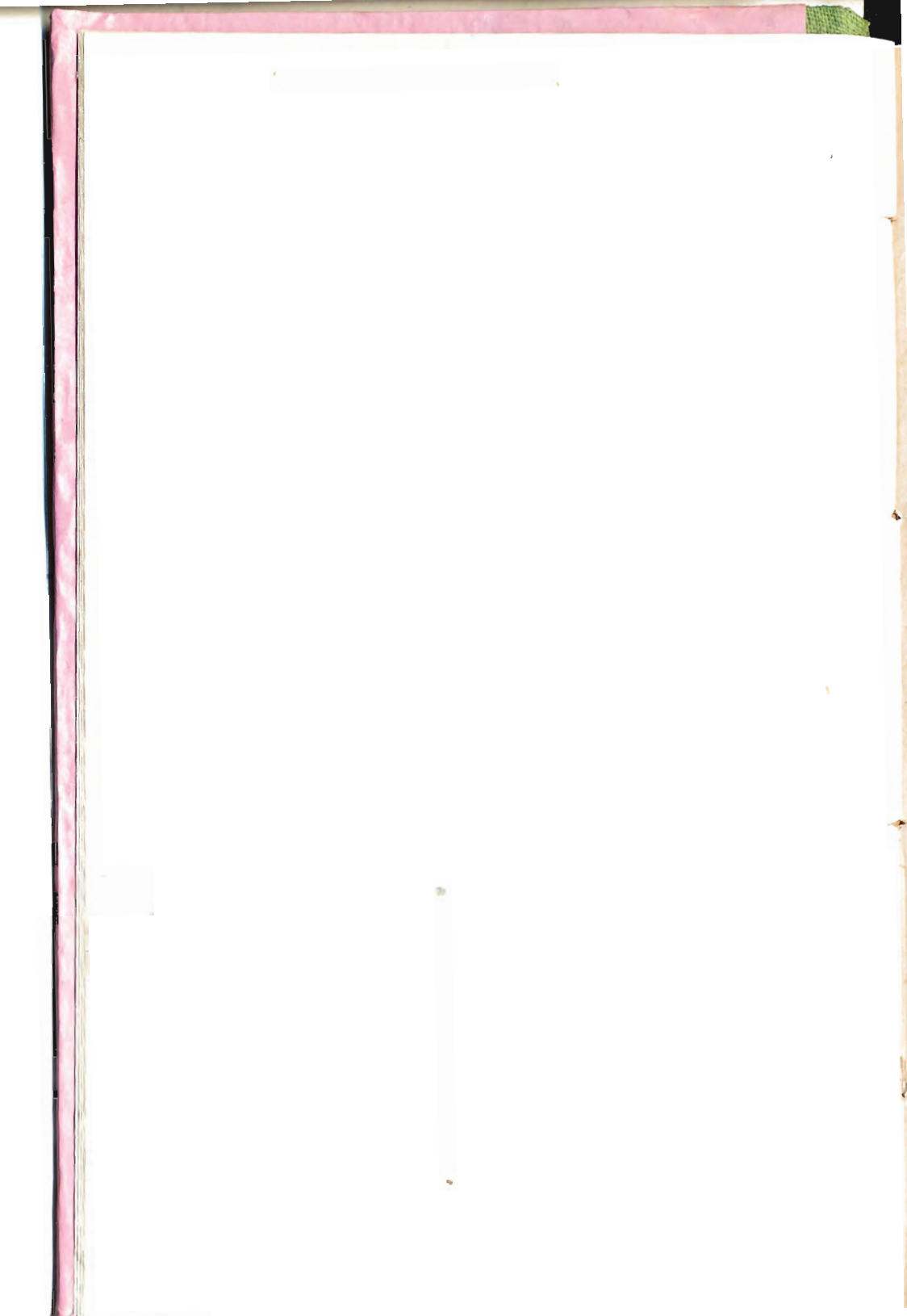
आमुख

मुझे परम हर्ष है कि मेरे विभाग के भूतपूर्व प्राध्यापक डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी ने जिस 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य' नामक शोध-प्रबन्ध को मेरे निर्देशन में प्रस्तुत किया वह ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रहा है। यह डॉ० अवस्थी के घोर परिश्रम, गम्भीर तथा व्यापक अध्ययन और दुरवगाह तन्त्रागमशास्त्र में प्रगाढ श्रद्धा का परिणाम है। इसके उत्कर्ष एवं वैशिष्टच से पूर्णतया परिचित होने के कारण मैं उन्हें प्रकाश में लाना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

आगम तथा तन्त्र अतिप्राचीन, रहस्यसङ्कुल, निगूढतम तथा परमाहित शास्त्र है—

'आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते'॥
'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्'॥

(महास्वच्छन्द)

यह मानना पड़ेगा कि तन्त्रागम पर इस प्रकार का कोई विशद ग्रन्थ हिन्दी में अब तक नहीं प्रकाशित हुआ था। मैंने 'तन्त्रागम' का प्रयोग इसलिये किया है कि इसमें प्रतिपादित सिद्धान्त, शैवागम तथा तन्त्र दोनों पर आधृत हैं।

तन्त्र में प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपिणी पराशक्ति के त्रिविध संकेतक वर्णित हैं—(१) चक्रसंकेतक, (२) मन्त्रसंकेतक तथा (३) पूजासंकेतक। इस ग्रन्थ में मुख्यतः मन्त्रसंकेतक का निरूपण किया गया है।

सृष्टि के अव्यवहित पूर्व प्राणियों के विविध अदृष्टों के वश स्वान्तःसंहृत, शिवशक्तिमय, मेयमितिमातृरूप, भेदाऽभेदतदुभयसामरस्यस्वरूप, प्रकाशविमर्शाऽपरपर्यायचिच्चैत्यात्मक, बाह्याभ्यन्तर-विविध-विचित्र विश्व की सिसृक्षा से शुद्धनिर्विकल्पचित् और तदभिन्न पराशक्ति अर्थात् समस्तभूतान्तरात्मा, अनव-

च्छिन्ना, पराभट्टारिका महात्रिपुरसुन्दरी का, ईक्षणात्मिका परावाक् (विमर्श-शक्ति) के रूप में प्रथम स्फुरण होता है।

'शिवशक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः'।

(कामकलाविलास–चिद्वल्ली)

'शिवाऽभिन्ना पराशक्तिः सर्वकर्मशरीरिणी।
वामादीच्छादिभेदेन मिथुनत्रयतां गता'॥

(स्वच्छन्दसङ्ग्रह)

'न शिवेन विना देवी, न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव'॥
'अन्योऽन्यलीनवपुषोरिह चैत्यचित्योः'।

(मातृकाचक्रविवेक)

चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियारूपा तथा कामेश्वराऽविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी परमा कला परमकाम अर्थात् कामकला भी कही जाती है।

'कला विमर्शशक्तिः'।

'तदुभयभूतकामेश्वराऽविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी बिन्दुसमष्टिरूपा कामकलेत्युच्यते'।

'आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता'॥

(का० क० वि०)

उपर्युक्त स्फुरण विविक्तशिवशक्तिरूपता या पृथगवभासमानप्रकाशविमर्श-रूपता की प्रथमावस्था है।

'काम्यते अभिलष्यते स्वात्मत्वेन परमार्थविद्भिर्महद्भिर्योगिभिरिति कामः'। अर्थात् जिसे परमार्थविद् महायोगी स्वात्मा के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं वही प्रकाश काम है।

'यत्ते कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'।

(उपनिषद्)

अन्तर्गर्भितसमस्तवर्णकदम्बका वर्ण-कला-पद-मन्त्र-तत्त्वभुवनात्मक-समस्त-प्रपञ्चजनयित्री पराशक्ति ही स्वरूपभूत इच्छा से विश्व का अपने से बाह्य सा उद्गिरण या उन्मीलन तथा पुनः अपने में ही निगिरण अर्थात् निमीलन कर लेती है। उद्गिरण चैत्यस्वरूप-विस्फुरण अथवा विविधविश्वभेदविजृम्भण

है और निगिरण चैत्यस्वरूपनिगूहन अथवा चिद्गगनविश्रान्ति है। उद्गिरण आयास तथा आकुलता है और निगिरण विश्रान्ति तथा निराकुलता है; क्योंकि विमर्श संसरणस्वभाव है और प्रकाश विश्रमणस्वभाव।

'विचित्रविश्वोद्वमनानुचर्वणक्रियातदुन्मेषसम्भ्रमा विमर्शशक्तिः।'

(मा० च० वि०)

'स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि'। (आज्ञावतार)

'संसारविश्रमजुषोः—संसरणस्वभावो विमर्शो विश्रमणस्वभावः प्रकाशः'।

(मा० च० वि०)

परशिवस्वरूप प्रकाश जब प्रपञ्च के अनुसन्धान अथवा उन्मीलन की इच्छा से अपने में ही विश्रान्त, परा-प्रकृति-माया-अविद्या आदि पदों से व्यवह्रियमाण, जगद्बीजभूत विमर्श को परमार्थतः अपने में ही कायम रखते हुए भी बाह्य सा विसर्जन करता है तब विमर्श 'विसृज्यते इति विसर्गः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विसर्ग कहलाता है। पुनः वही शिवरूप प्रकाश जब प्रपञ्च के संहार अर्थात् निगिरण की इच्छा से प्रकृति को अपने में निमीलित करने लगता है तब प्रकाश 'विन्द्यतेऽविच्छिद्यत इति बिन्दुः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार बिन्दु कहलाता है।

सर्वप्रथम सृष्टिक्रम में नित्यनिष्यन्दमानसुखबोधसुधास्वरूप, परमानन्द-सन्दोहप्रमोदभरनिर्भर, निर्मल, निर्विकल्प, निरुपमपद शुद्धचित् का निरवधि-काऽकृत्रिमसच्चिदानन्दस्वरूपिणी इच्छाज्ञानक्रियामूलस्रोतस्विनी पराशक्ति में दर्पणवत् प्रतिफलन होने पर और तत्फलस्वरूप स्वस्वरूपविमर्शसम्बन्ध के अभिव्यक्त हो जाने पर महाबिन्दु (निखिलविश्वमूल परमेश्वर) का 'पूर्णोऽहम्' इत्येवंरूप उन्मेष होता है यह महात्रिपुरसुन्दरी का अद्वितीय तथा अनुपम विलास है। तब अखिलवेदादिशब्दोत्पादक परमेश्वर, (चित्तत्त्व अर्थात् प्रकाश) स्वात्मभूतनिखिलप्रपञ्चनिलयात्मक **विमर्शशक्ति** में अनुप्रवेश करता है और उसके फलस्वरूप बिन्दुभाव को प्राप्त करता है। तदनन्तर वह विमर्शशक्ति भी स्वान्तर्गत प्रकाशमय बिन्दु में अनुप्रवेश करती है और उसके फलस्वरूप बिन्दु के उच्छून हो जाने पर उस बिन्दु से समस्ततत्त्वगर्भिणी तेजोमयी नीवारचावल की नोक के समान सूक्ष्म नादात्मिका अर्थात् नाद के रूप में आविर्भूत होती है। सारांश यह कि प्रकाश के विमर्शशक्ति में अनुप्रवेश से बिन्दु का और विमर्मशक्ति का उस बिन्दु में अनुप्रवेश से नाद का उन्मीलन होता है। इस प्रकार बिन्दु-नादस्वरूप प्रकाश-विमर्श से 'अहम्' इत्याकारक स्वरूप निष्पन्न होता है।

'अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
हकारोन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्त्तितः' ॥

(सङ्केतपद्धति)

उभयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्नहमि स्फुहम्,
....

ज्ञानक्रियोन्मुखहकारमयाऽद्वयेच्छा, विश्रान्तिरन्तर्बहिर्मुखविश्रमात्मा ।
कूटाक्षरात्मतनुरेष शिवः सुषुप्ति-विश्रान्तिरेव सविकल्पकलाल्पगन्धा' ॥

(मा० च० वि०)

'येयमपरिच्छिन्नज्ञानक्रियात्मकसदाशिवेश्वरस्वरूपज्ञानक्रिययोरधिष्ठात्री ज्ञानक्रिययोः कूटस्थत्वलक्षणेन तदधिष्ठातृत्वेनेच्छाव्यपदेशविषया इच्जास्वरूपिणी शक्तिः ॥ (मा० च० वि०)

'वन्दे तामहमक्षय्यामकाराक्षररूपिणीम्' ।

(वा० त०)

तदनुसार अकार प्रकाशस्वरूप शिवतत्त्व का और हकार विमर्शस्वरूप शक्तितत्त्व का वाचक है । इन दोनों (शिवशक्त्यात्मक प्रकाशविमर्शद्वय) से और इन दोनों में ही समस्त विश्व का उन्मीलन तथा निमीलन होता है । सारांश यह है कि–'अन्तर्गर्भितसमस्तवर्णकदम्बकाऽहङ्काररूपप्रकाशविमर्शसम्पात' से ही शब्दार्थात्मकसर्वप्रपञ्च का विकास होता है । यह मौलिक तन्त्रसिद्धान्त है । ज्ञानक्रियारूप अन्योऽन्याविनाभूत शिवशक्ति के सतत अविच्छिन्न अन्योऽन्यानुराग के कारण दोनों अन्योऽन्यस्वभाव से उपरक्तस्वभाव रहते हैं । ज्ञान प्रकाशरूप होने से शिवस्वरूप है और क्रिया विमर्शरूप होने से शक्तिस्वरूप है । इच्छा प्रकाशविमर्शसामरस्यस्वरूप है, अतएव शिवशक्तिसामरस्वरूप है ।

उद्गिरण भेदसंसार या प्रवृत्तिसंसार से सम्बन्ध रखता है और निगिरण अभेदसंसार या निवृत्तिसंसार से । पहला पशुसंसार (जीवसंसार) और दूसरा शिवसंसार भी कहा जाता है और इन दोनों में व्याप्त तथा दोनों का आधारभूत भेदाऽभेदरूप तीसरा संसार है, जो शिवशक्तिसामरस्यात्मक माना जाता है । प्रवृत्तिनिवृत्तिस्पन्दद्वयभित्तिभूत निष्पन्दमहातत्त्वरूप सामरस्यपद शाश्वत है । प्रत्येक संसार की तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं : (१) इच्छा, (२) ज्ञान और (३) क्रिया । **इच्छा** बीजावस्था है, जहाँ से संसार का प्रारम्भ होता है; **ज्ञान** ईषदुद्भेदावस्था है, जहाँ उसका कुछ विकास हो जाता है; **क्रिया** पूर्णसमुच्छ्रयावस्था या पूर्णस्फारावस्था है, जहाँ उसका सर्वतोभावेन

सर्वविध अर्थात् पूर्ण विकास हो जाता है। अवस्थाओं के नाम सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् हैं और ये सभी त्रिविध संसार के सन्दर्भ में इच्छा-ज्ञान-क्रियारूप हैं। प्रत्येक के तीन भाग हैं : (१) जड, (२) अजड और (३) जडाऽजड। तन्त्र-शास्त्र में जडता व्याप्यत्व है, अजडता व्यापकत्व और जडाऽजडता व्याप्तिसामरस्य है। निम्नलिखित प्रकोष्ठों से तीनों संसारों की त्रिविध अवस्थाओं का विवरण स्पष्ट होगा :—

भेद-संसार (पशु-संसार)

सुषुप्ति = इच्छा	स्वप्न = ज्ञान	जाग्रत् = क्रिया
(बीजावस्था या प्रारम्भ-पद)	(अल्पविकासावस्था या मध्यपद)	(पूर्णविकासावस्था या चरमपद)

अभेद-संसार (शिव-संसार)

जाग्रत् = इच्छा	स्वप्न = ज्ञान	सुषुप्ति = क्रिया

द्विविध भेदाऽभेद-संसार (शिवशक्त्यात्मकभेदाऽभेदसामरस्य-संसार)

(क) भेदोल्वण जाग्रत् = इच्छा (वह जडाऽजड-भाग, जिसमें भेद उल्वण हो)	सुषुप्ति = ज्ञान (वह जडाऽजडभाग, जिसमें भेद किञ्चिन्मात्र अभेदातिशायी हो)	स्वप्न = क्रिया (वह जडाऽजडभाग, जिसमें अभेद और भेद समरस हो जायँ)
(ख) अभेदोल्वण सुषुप्ति = इच्छा (वह जडाऽजडभाग, जिसमें अभेद उल्वण हो)	जाग्रत् = ज्ञान (वह जडाऽजडभाग, जिसमें अभेद किञ्चिन्मात्र भेदातिशायी हो)	स्वप्न = क्रिया (वह जडाऽजडभाग, जिसमें भेद और अभेद समरस हो जायँ)

मूल से ही सृष्टि के दो भाग क्रमशः अधिकाऽधिक विविक्त विलसित होते हैं : शब्द (वाचक तत्त्व) और अर्थ (वाच्य तत्त्व)। पारमार्थिक अवस्था में ये दोनों सामरस्यापन्न, अभिन्न, अखण्ड और एक तत्त्व हैं। जो संसारकलङ्काऽस्पृष्ट, शुद्धान्तर्मुख विश्रमस्वभाव परमशिव है वही सच्चिदानन्दस्वरूपिणी निरवधिकाऽकृत्रिमाऽविविक्तेच्छाज्ञानक्रियात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी है; जो

निर्विकल्प चित् है वही परा शक्ति है। किन्तु उपर्युक्त प्रथम स्फुरण से ही विसर्गभूमि में उन दोनों का क्रमशः अधिकाऽधिक पृथक्तया भान होने लगता है और यह पार्थक्य उद्गिरणावस्था या संसारदशा में चरम सीमा तक पहुँच जाता है और निगरणावस्था में बिन्दुभूमि में क्रमशः भेद निलीन होने लगता है और शिवपद में अभेद चरमसीमा तक पहुँच जाता है।

'परमशिव एव प्रकाशविमर्शात्मना निजावंशौ विभज्य कामेश्वरः कामेश्वरी भूत्वा.........'। (सङ्केतपद्धति)

वाचकपक्ष में विश्व का उन्मेष मातृका के रूप में और वाच्यपक्ष में षट्त्रिंशत्तत्त्व के रूप में होता है। प्रत्येक वर्ण मन्त्र तथा शक्ति होने के कारण 'मातृका' पद से व्यवहृत होता है। यह विमर्शशक्ति माता का परिच्छिन्न अवभास है।

'सर्वे वर्णात्मका मन्त्राः, ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया, सा च ज्ञेया शिवात्मिका'॥

(श्रीतन्त्रसद्भाव)

'वर्णः कला पदं तत्त्वं मन्त्रा भुवनमेव च।
इत्यध्वषट्कं देवि, भाति त्वयि चिदात्मनि'॥

(का० क० वि०)

'या सा तु मातृका लोके परतेजःसमन्विता।
तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनान्तरम्'॥

मातृकाएँ तथा उनके वाच्य तत्त्वों (विश्व-पदार्थों) का विवरण संक्षेपतः निम्नलिखित प्रकार से दिया जा सकता है :—

(१) मातृकाचक्रविवेक के अनुसार स्वरवर्ण-मन्त्रतत्त्वप्रदर्शकप्रकोष्ठ—

अ, इ, उ, ऋ, लृ=विसर्गपदविषयक सुषुप्त्याद्यवस्थात्रय। ए=विसर्गप्रमाता का अन्तःसंसार (स्वप्न)। ऐ=विसर्गप्रमाता का बाह्यसंसार (जाग्रत)। अः=विसर्गप्रमाता। ए=विसर्गप्रमाण। ऐ=विसर्गप्रमेय।	अ, इ, ऋ, लृ= बिन्दुपदविषयक सुषुप्त्याद्यवस्थात्रय। ओ=बिन्दुप्रमाता का अन्तःसंसार (स्वप्न)। औ=बिन्दुप्रमाता का विश्रमण-संसार (जाग्रत)। अं=बिन्दुप्रमाता। ओ=बिन्दुप्रमाण। औ=बिन्दुप्रमेय।	अः,इ,ऋ,उ,लृ, अं=विसर्गादिबिन्द्वन्तवर्णषट्क : शिवजीवात्मक बिन्दु-विसर्ग-सामरस्यरूप महाशक्ति सामरस्यपद। सारांश यह कि स्वरवर्ण विश्वबीजभूतकलाव्यञ्जक हैं।

(२) व्यञ्जनवर्ण-मन्त्र-तत्त्वप्रदर्शकप्रकोष्ठ—

ईषत्सङ्कोचभूमि

अ, इ, उ, ऋ, लृ = ये पाँच वर्ण विसर्गव्याप्ति की दशा में ईषत्सङ्कोच को प्राप्त कर अन्तःस्थ हो जाते हैं :–

(सूक्ष्म) भूत

य=वायु, सर्वकर्तृत्व कञ्चुक शक्तिसङ्कोच रूप—**कला**। यही मायातत्त्व का अधिष्ठान भी कहा जाता है।

र = अग्नि, सर्वज्ञत्वशक्तिसङ्कोचरूप—**अविद्या**।

ल = पृथ्वी, पूर्णत्वशक्तिसङ्कोचरूप—**राग**।

व=सलिल, नित्यत्वशक्तिसङ्कोचरूप—**काल**।

ळ = आकाश, व्यापकत्वशक्तिसङ्कोचरूप—**नियति**।

पूर्णसङ्कोचभूमि

अ, इ, उ, ऋ, लृ-ये ही विसर्गव्याप्ति की दशा में पूर्ण सङ्कोच को प्राप्त कर कवर्गादिपञ्चक हो जाते हैं:—

(स्थूल) भूत

कवर्ग—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश।

चवर्ग—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द।

टवर्ग–कर्मेन्द्रियवर्गः-पायु, उपस्थ, पाणी, पादौ, वाक्।

तवर्ग—ज्ञानेन्द्रियवर्गः—घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र।

पवर्ग—प्रकृति, अहंक्रिया, बुद्धि, मन, पुरुष।

मन के सङ्कल्प से विसर्जित होने के कारण मन का ही विलास समस्त ज्ञेयसङ्घात है। बुद्धि के ही व्यापार से प्रवर्त्तित होने के कारण बुद्धि का ही विलास समस्त कार्यसङ्घात है। मन तथा बुद्धि क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के आन्तर (सम्पिण्डित) रूप हैं वैसे ही जैसे बरफ जल का।

सङ्कोचत्यागभूमि

अ, इ, उ, ऋ, लृ–के बिन्दुव्याप्ति की दशा में ईषत्पूर्णत्वरूप श, ष, स, ह।

श=शुद्धि विद्या (चवर्ग का ईषत्पूर्णत्वरूप) (इन्द्रियैकात्म्यानुभवरूप)।

ष=ईश्वर (क्रियाशक्तिविलासपद) (टवर्ग का ईषत्पूर्णत्वरूप)।

स=सदाशिव (ज्ञानशक्तिविलासपद) (तवर्ग का ईषत्पूर्णत्वरूप)।

ह=विमर्शरूप शक्ति (कवर्ग का ईषत्पूर्णत्वरूप) अविच्छिन्नविश्रान्तिमयदेहात्मसामरस्यस्वरूप।

इस प्रकार करणत्रयस्थानीय चवर्ग–टवर्ग–तवर्गरूप श-ष-स का हकार में ही निमज्जन हो जाता है। शुद्धविद्या दशा का अन्तर्भाव ईश्वरदशा में, ईश्वरदशा का अन्तर्भाव सदाशिवदशा में, तथा सदाशिवदशा का अन्तर्भाव शक्तिदशा में हो जाने पर संविदुदय अर्थात् त्यक्तसङ्कोच बिन्दु का आविर्भाव हो जाता है।

स=जीव।

क्ष=पर-शम्भु।

इन्हीं मातृकाओं तथा मन्त्रों का विशद विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है। अतः इस पर अधिक लिखना अनावश्यक है। केवल 'बन्ध' और 'मोक्ष' का पर्यवसित स्वरूप थोड़े शब्दों में नीचे दिया जाता है।

विविधविलासमय विश्व, सुषुप्तिदशा में विश्रान्तितत्वनिलीन विमर्श के गर्भ में स्वयं भी निलीन रहकर भेदसंसार में विमर्श के गर्भ से आन्तर (मन

और बुद्धि) और तद्विलासस्वरूप बाह्य इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) के द्वारा विनिस्सृत तथा स्फुटस्वरूप होता है। भेदसंसार का ज्यों-ज्यों प्रसार बढ़ता जाता है त्यों-त्यों विश्व का उन्मीलन तथा इदमंश का समुच्छ्रय अधिकाधिक होता जाता है। ठीक इसके विपरीत अभेद संसार में विश्व का निमीलन और ज्यों-ज्यों विश्रान्त्यात्मक अभेद व्यापक होता जाता है त्यों-त्यों अहमंश का समुच्छ्रय होता जाता है। अतएव भेदसंसार को प्रवृत्तिसंसार और अभेदसंसार को निवृत्तिसंसार भी कहा जाता है। इदमंशसमुच्छ्रय या इदन्तौल्वण्य का तात्पर्य है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु के लिये 'यह', 'यह' शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि वह अनात्मा अर्थात् चित् (प्रकाश) से पृथक् तथा भिन्न चैत्य के रूप में भासित होता है। दूसरे शब्दों में सभी पदार्थ इदम्प्रत्ययगोचर या इदमाकारप्रतीतिविषय भासित होते हैं और ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि चैत्यविस्फूर्तिकाल में चित् के व्याप्य, अन्तर्गभित एवं चैत्याकाराकारित भासित होते रहने के कारण इदमंश समुच्छ्रित हो जाता है और इसे ही इदन्तौल्वण्य कहा जाता है। पुनः चिद्व्याप्तिपद में जब विश्व विमर्शगर्भ में निमीलित हो जाता है और समस्त चैत्य चिदेकरस हो जाता है तब इदन्ताप्रतीति-विषयापहार के फलस्वरूप इदन्ताप्रतीति स्तिमित हो जाती है और इस अभेदसंसार में अहमंश समुच्छ्रित हो जाता है और इसे ही अहन्तौल्वण्य कहा जाता है। यहाँ यह अन्तर उल्लेखनीय है कि चैत्यव्याप्तिपद में भी चित्, चैत्य के साथ भिन्नरस ही बना रहता है किन्तु चैत्य, चिद्व्याप्ति-पद में चिदेकरस हो जाता है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि बिन्दु का स्वभाव अविभेद या अभेद और विसर्ग का स्वभाव विभेद या भेद है। भेदपद में अर्थात् जडस्पन्दानुभव-काल में विश्रान्ति और अजडस्पन्द का व्यावृत्तिविषयतया अर्थात् विपरीतार्थ-तया और अभेदपद में अर्थात् अजडस्पन्दानुभवकाल में विसर्ग और जडस्पन्द का भी उसी तरह अर्थात् व्यावृत्तिविषयतया अनुभव होता है। सामरस्यपद में निष्पन्दता दोनों के ही व्यावृत्तिविषयतया भासित होती रहती है। यही है विमर्शशक्ति की 'माया' शब्द से व्यवहृत विपरीतप्रतीतिरूप विमोहशक्ति। वस्तुतः भेद, अभेद तथा सामरस्य परावाग्रूपा विमर्शरूपिणी पराशक्ति के ही क्रमशः इदमंशसमुच्छ्रयप्रयुक्त, अहमंशसमुच्छ्रयप्रयुक्त तथा उभयांशसाम्यप्रयुक्त स्वस्वरूपभूत तीन भाग हैं। तदनुसार एक ही विमर्शशक्ति अपने इदमंश-समुच्छ्रय से जीव के बन्ध का और अहमंशसमुच्छ्रय से मोक्ष का कारण होती है। वही इदन्तौल्वण्य के रूप में भासमान माया और अहन्तौल्वण्य के रूप में भासमान विद्या भी कही जाती है।

'बध्नाति चेयमिदमंशसमुच्छ्रयेण, जन्तून् विमोचयति चोन्नमिताहमंशात्' ।

'सर्वत्र वस्तुनि इदमाकारप्रतीतौ देहमात्रे चाऽहमाकारप्रतीतौ सैवोच्छ्रितेदन्ताप्रतीतिर्बन्धः; इदन्ताप्रतीत्यन्यथाभावेन सर्वत्राऽहन्ताप्रतीत्यौल्वण्यमेव च मोक्षः' । (मा० च० वि०)

परमार्थतः यह भागत्रयकरण औपचारिक है, क्योंकि प्रत्येक में परस्पर सभी सन्निविष्ट हैं और प्रवृत्तिनिवृत्तिस्पन्दद्वयभित्तिभूत निष्पन्दभूत महातत्त्व शाश्वत है ।

इस प्रसङ्ग में एक प्रश्न उठ सकता है कि जीव का संसार भेदसंसार और (जडस्पन्दात्मक) प्रवृत्तिसंसार है और शिव का संसार अभेदसंसार और (अजडस्पन्दात्मक) निवृत्तिसंसार है तथा प्रवृत्तिरूप बन्ध भेदसंसार एवं जीव से सम्बद्ध है और निवृत्तिरूप मोक्ष अभेदसंसार एवं शिव से सम्बद्ध है तो बन्ध और मोक्ष का वैयधिकरण्य क्यों नहीं हो जाता ? क्योंकि बद्ध जीव है और मुक्त शिव है । इसका समाधान यह है कि प्रवृत्तिकर्त्ता जीव जब निवृत्तिपथ ग्रहण करता है, तो शिव कहा जाता है अर्थात् शिव प्रवृत्तिपद में जीवशब्द से व्यवहृत होता है और निवृत्तिपद में शिव शब्द से । जीव और शिव में कोई पारमार्थिक भेद नहीं, केवल दशाभेद से भेद की प्रतीति होती है । यह भेद-प्रतीति उपर्युक्त विपरीतप्रतीतिरूप विमोहशक्ति का फल है । इसके अपाकरण से पारमार्थिकभाव अनावृत हो जाता है ।

'जीव एव प्रवृत्तिकर्त्ता निवृत्तिमङ्गीकुर्वन् शिव इत्युच्यते, शिवो वा प्रवृत्तिपदे जीवशब्देन व्यवहृतः पुनर्निवृत्तिपदे शिवशब्दव्यवहारं प्राप्नोति । न तु जीवशिवयोः पारमार्थिको भेदः अपि तु दशाभेदेनैव भेद इत्येकार्थता । एतदुभयपर्याययोः तयोः प्रकाशविमर्शयोरेवमेकार्थताऽनुसन्धेया ।

(मा० च० वि०)

दूसरा प्रश्न यह है कि अहमंशसमुच्छ्रय सुषुप्ति में भी होता है—तो सुषुप्त्यवस्था और मोक्षदशा में क्या अन्तर है ? इसका समाधान यह है कि सुषुप्त्यवस्था में अहमंशसमुच्छ्रय होने पर भी इदमंश स्तिमितदशा में या अन्तर्लीनावस्था में इस प्रकार बना रहता है कि भेदपद में पुनः उसका पूर्ववत् प्ररोह होता रहता है । किन्तु मोक्षपूर्वक्षण में इदमंश इस प्रकार विप्लुष्ट हो जाता है कि उसका पुनः प्ररोह नहीं होता ।

अन्ततः यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि तन्त्रागम के अनुसार निराकुलानन्दस्वरूप-शिवजीवैक्यात्मक—त्रिपुरसुन्दरीभाव में अवस्थान ही मोक्ष है

(निराकुलानन्दस्वरूप-शिवजीवैक्यात्मक-त्रिपुरसुन्दरीभावाऽवस्थानमेव मोक्ष-पदार्थः पर्यवस्यति) ।

इतने विवेचन के बाद मैं पुनः डॉ० अवस्थी के इस ग्रन्थ की श्लाघा करता हूँ । इसमें मातृकाओं के वर्ण, रूप, स्वरूप, अभिरूप, महिमा, कला, देवता, शक्ति, ऋषि और छन्द; वर्णों के साथ तिथि, ग्रह, नक्षत्र, राशि आदि का सम्बन्ध; प्राणाचार एवं प्राणीय काल तथा जपसंख्या की वैज्ञानिकता; परा प्रकृति का सङ्घटनात्मक स्वरूप, परकाल, अपरकाल, परपुरुष, अपरपुरुष तथा अपरा प्रकृति; अणु ध्वनियाँ आदि की मार्मिक व्याख्या की गई है । इसमें चतुष्पदी वाक् का विशद विवेचन किया गया है; ग्रन्थकार ने प्रसङ्गतः सप्तपदी एवं पञ्चपदी वाक् का भी निरूपण किया है । इसमें कामकलाक्षर, कुण्डलिनी और ओङ्कार की एकता का सुन्दर स्पष्टीकरण है; द्वादश कलाओं का मार्मिक निरूपण है; परावाणी, प्रतिभा या विमर्शशक्ति तथा स्वातन्त्र्यशक्ति आदि का भी विस्तृत विचार है । इस प्रकार यह ग्रन्थ बहुत उपादेय तथा लाभकारी है ।

निस्सन्देह इस ग्रन्थ से तन्त्रानुरागी पाठकों का बड़ा उपकार होगा ।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर ।

वीरमणिप्रसाद उपाध्याय
(एम. ए., बी. एल., डी. लिट्., साहित्याचार्य)

वक्तव्य

साधना के क्षेत्र में एकान्ततः अनभिज्ञ के लिए भी सबसे सरल एवं सहज साधन है शब्द । माँ की गोद में बैठा हुआ भोला शिशु जैसे निर्द्वन्द्व रहता है, शब्द की शरण में आया हुआ साधक, उसी प्रकार संसार-जलधि की महोर्मियों से क्रीडा करता हुआ भी विश्राम लाभ करता है । शब्द, पराम्बा, जगज्जननी का प्रतिरूप है और उद्‌गत अर्थ शिवरूप । जिस प्रकार शब्द, अर्थ का आधार है वैसे ही शक्ति, शिव का दिव्यासन । शब्दरूपी शक्ति का अञ्चल पकड़े बिना अर्थरूपी शिव का बोध असम्भव है । गायत्री मन्त्र में इसी लिए सविता के तेज के ध्यान करने की बात कही गई है, साक्षात् सविता की नहीं । तेज, वहाँ शक्ति का वाचक है । शम्भु के ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि को शक्तिरूप समझना चाहिए । अप्पयदीक्षित ने आनन्दलहरी में कहा है :—

शम्भोर्ज्ञानक्रियेच्छाबलकरणमनःशान्तितेजश्शरीर-
स्वर्लोकागारदिव्यासनवरमहिषीभोग्यवर्गादिरूपा ।
सर्वरेतैरुपेता स्वयमपि च परब्रह्मणस्तस्य शक्तिः,
सर्वाश्चर्यैकभूमिर्मुनिभिरभिनुता वेदतन्त्राभियुक्तैः ॥

लक्ष्मीनाराणय, राधाकृष्ण, सीताराम, पार्वतीशङ्कर आदि आख्याओं में शक्ति का जो पहले नाम लिया जाता है उसका यही रहस्य है । बोध के सोपान में शक्ति आदिम पर्व है; बिना उसका आश्रय लिए आगे बढ़ना शक्य नहीं । अद्वैतवेदान्ती संक्षेपशारीरककार ने भी माना है कि उपासना की भूमिका में चित् शक्ति को विस्मृत करके नहीं चला जा सकता :—

चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते,
सत्यैवास्य जडापरा भगवतः शक्तिस्त्वविद्यात्मिका ।
संसर्गाच्च मिथस्तयोर्भगवतः शक्त्योर्जगज्जायतेऽ-
सच्छक्त्या सविकारया भगवतश्चिच्छक्तिरुद्रिच्यते ॥
इत्येवं कथयन्ति केचिदपरे श्रद्धालवस्तत्पुनः,
कस्याञ्चिद्भुवि सम्मतं च विदुषां नेष्टं तु भूम्यन्तरे ।
कर्मोपास्तिविधानभूमिषु तथा तत्सम्मतं, निर्गुणे-
तत्त्वे तत्परवेदवाक्यविषये त्वालोचिते नेष्यते ॥२२८।३अ०।

शब्द और अर्थ के सदृश शिव और शक्ति में अभेद, भेदाभेद तथा भेद

तीनों सम्भव हैं। शक्ति को कदाचित् धर्म, कभी धर्मी और किसी अवस्था में उभयरूप माना गया है।

श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणाभियुक्तसूक्तिप्रमाण्यात् सकलचिदचित्प्रपञ्चमहाविभूतिरूपा महासंविदानन्दसत्ता देशकालादिपरिच्छेदशून्या स्वाभाविकी परमशक्तिः परब्रह्मणः शिवस्य स्वरूपञ्च गुणश्च भवति।

—आनन्दलहरी—चन्द्रिका।

शब्द, अर्थ की महिमा को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकता किन्तु अपने में निगूढ उसके अपार वैभव को इङ्गित तो करता ही है। उसी प्रकार अगणित कुन्द-कलियों की मालाओं से मण्डित नीलाम्बरा यामिनी, उषा की अरुण आभा से अठखेलियाँ करता हुआ विविध रंग-रूपमय राशि-राशि पुष्प-सम्भार, गगनाङ्गनाओं की ग्रीवा से टूट कर गिरी हुई मरकत मणियों की माला के सदृश धरती पर फैला हुआ दूर्वाङ्कुरों का हरित जाल, सहकार-मञ्जरी के मादक गन्ध से उन्मत्त कोकिल का कल-कूजन, आकाश में निर्बन्ध अवलम्बित अमृतफल से झरती हुई मधु-चन्द्रिका, किसी कुशल शिल्पी की लौह-लेखनी के सङ्केत द्वारा कठोर शिलाखण्ड के अन्तराल से अभिव्यक्त प्रस्तर-कुमारी, एवं साहित्य सङ्गीत मानवादि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के असंख्य रूपों में, अर्थब्रह्म शिव के अमित ऐश्वर्य को अंशतः अभिव्यक्त करती हुई शब्दब्रह्म-रूपिणी महाशक्ति थकती नहीं है। महामति व्यास ने कहा था—'वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त इव पुष्पफलाढ्याः।' सम्पूर्ण चराचर जगत् की क्षण-क्षण परिणति के बहाने—'यह नहीं है' 'यह नहीं है' इस प्रकार विश्व की चरम महनीयता एवं नित्यत्व का निषेध करती हुई महामाया, इस हिरण्यमय आवरण के पीछे वर्तमान अमर सत्ता, चेतना एवं आनन्दमय महोद्गम की ओर सङ्केत करती रहती है।

यह समस्त जगत् वेदों की भाषा में अग्निषोमात्मक है और तन्त्रों की वाणी में शिव-शक्तिमय। दोनों संज्ञाओं में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। इस जगत् को सर्वथा हेय और अपदार्थ समझ कर केवल आँख मूँद कर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम जिस अधिकार को लेकर संसार की भूमिका पर उतरते हैं उसका निर्वाह परमावश्यक है। किन्तु वह अधिकार कैसे चरितार्थ हो यही मूल प्रश्न है। पुराणों में 'इह लोके सुखं भुक्त्वा अन्ते ब्रह्मपुरं व्रजेत्' की जो बात कही है उसी का सङ्केत 'भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव' के रूप में तन्त्रों में मिलता है। यही पूर्णाङ्ग जीवन का आदर्श है। इस प्रकार की जीवनयात्रा जगत् के तात्विक स्वरूप को जाने बिना कैसे सम्भव है? ज्ञान

के उपायों की, यहाँ गिनती नहीं है; किन्तु हमारे लिए सहज सुलभ है, शब्द, जिसे तन्त्रों की भाषा में मातृकाशक्ति अथवा महामन्त्र कहते हैं। ध्यान की सहकारिता से मन्त्र-जप के द्वारा जन्म-जन्मान्तर का कलुष क्षालित हो जाता है और आत्मा अपने प्राकृत रूप में निखर उठती है और तब जगत् एवं जीवन-यापन की सर्वसुखद, निरामय तथा सर्वतोभद्र प्रणाली को जान लेना दुष्कर नहीं रह जाता श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है :—

'ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।'

योगसूत्र के व्यासभाष्य में एक प्राचीन गाथा उद्धृत है :—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थात् जप से ध्यानस्थ हो तथा ध्यान से जप का अभ्यास करे; इस प्रकार जप और योग के सम्पादन से परमात्मा प्रकाशित हो उठता है।

परमात्मसूर्य के पूर्णरूप से उद्भासित होने की पूर्वसूचना के रूप में पुराणी युवती आदिम उषा या प्रतिभा का हृदयदेश में आविर्भाव होता है। और तब उस प्रातिभ बोध के उज्ज्वल आलोक में तत्त्वातत्त्व कुछ भी अगोचर नहीं रह जाता। प्राचीन काल में, ऋषियों द्वारा परमात्म-प्रकाशन के लिए जिस ध्यान और मन्थन की प्रक्रिया का प्रवर्तन किया गया था; पुराणों में तन्त्रों में उसकी पूर्ण स्वीकृति देखी जाती है।

मन्त्रों-वर्णों की रहस्यमयता के प्रति सहज औत्सुक्य मुझे संस्कारतः प्राप्त रहा है। इस विषय पर शोध के लिए गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने पर मेरी तत्सम्बन्धी उत्सुकता को और बल मिला। फलतः इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ, जो कि अब प्रकाश में आ रहा है। तन्त्रों के नानाविध सम्प्रदायों एवं रहस्यों के मर्मज्ञ मनीषी, अखण्डमहायोगी विश्वविख्यात दार्शनिक, महामहोपाध्याय, पद्मविभूषण डॉ० गोपीनाथ कविराज जी इस शोध-ग्रन्थ के परीक्षक रहे हैं और उन्होंने इसकी भूमिका-लिखने का भी कष्ट उठाया है; एतदर्थ मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। लखनऊ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष, शैवदर्शन-विशेषतः काश्मीर शैवदर्शन के अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञा, क्रम एवं कौल सम्प्रदायों के इतिहास, विषय वैचित्र्य तथा मार्मिकताओं के एकमात्र गवेषणापरायण विद्वान्, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय भी इस ग्रन्थ के परीक्षक थे और इसकी प्रशंसा की थी अतः उनके प्रति भी कृतज्ञता-ज्ञापन मेरा कर्तव्य है। गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष, तन्त्रान्तर्गत मन्त्रसङ्केत, चक्रसङ्केत एवं पूजासङ्केत के मर्मज्ञ, वेदान्तवित् आदरणीय डॉ० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय, एम. ए. बी. एल., डी. लिट्.,

साहित्याचार्य मेरे निर्देशक एवं परीक्षक थे अतः मैं उनका भी अत्यन्त उपकृत हूँ। उन्होंने इस ग्रन्थ का, संक्षिप्त एवं सारगर्भित आमुख लिखने की भी कृपा की है इसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

विशेष सतर्क रहने पर भी ग्रन्थ में यत्र तत्र मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियों का रह जाना असम्भव नहीं है, जिज्ञासु पाठकगण उन्हें सरलता से सुधार लेंगे ऐसी आशा है। (हाँ, पृष्ठ १५८ की पच्चीसवीं पंक्ति के मध्य से लेकर ३२वीं पङ्क्ति में समाप्त होने वाले, वाक्य को इस प्रकार पढ़ें—'जैसे इकार, रेफांश छाया से प्रतिच्छायित होकर स्वरान्तर का रूप ग्रहण करता है वैसे ही अस्वर अनुत्तर, प्रकाशात्मा (अकार) चित्शक्त्यात्मक आदिवर्ण, 'मकार' और 'हकार' के लेशस्वरूप उपाधि का अवलम्बन करके, वैसी श्रुतिमात्र से बिन्दु और विसर्ग—इन दो रूपों में विभक्त होकर परामर्शान्तर (वर्णान्तर) का स्वरूप ग्रहण करता है—अनुत्तररूप प्रकाश, अपने स्वातन्त्र्य से, स्वरूप को छिपाकर शक्तिदशा को आभासित करके, सङ्कुचित प्रमातृरूपता को प्रकाशित करता है।'

ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर दिए गये चित्र की कल्पना सौन्दर्यलहरी के निम्नाङ्कित श्लोक के आधार पर समझना चाहिए :—

समुन्मीलत्संविकमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणति-
र्यदादत्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ॥

ग्रन्थ की सज्जा एवं सुन्दर प्रकाशन के लिए 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' तथा 'चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी' के व्यवस्थापक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं। अन्त में मेरा इतना ही वक्तव्य है कि :—

सम्भूय मातृकाभिर्महनीयाभिर्मनोविनोदाय।
व्यरचि ग्रन्थोऽशेषः लेशो न पुनर्ममेह सम्भाव्यः ॥

—शिवशङ्कर अवस्थी

विषय-सूची

को मातृका कहने का रहस्य—वर्णों के रंग, रूप, महिमा, आयुध, वाहन, शक्ति, ऋषि छन्दादि सम्बन्धी सूचना—तन्त्रानुसार मन्त्रों एवं मातृकाओं के रहस्योद्‌घाटन की प्रतिश्रुति।

मूल—बिन्दु—महाबिन्दु—प्रकाश और स्फुरणा—दोनों की सम्मिलित जगत्कारणता—प्रकाश 'अकार' स्फुरणा तथा 'हकार'—दोनों का सामरस्य 'अहं' अथवा पराहन्ता—योगिनीहृदय के अनुसार सृष्टिक्रम—स्फुरत्तात्मक लहरी से युक्त पारमार्थिक प्रकाश रूप अहमात्मक बिन्दु—शुक्ल, रक्त और मिश्र बिन्दु—हार्धकला—काम या रवि—कामकला या सृष्टि-बीज—कामकला और अहं की सर्वव्यापकता और सर्वनामता—चतुर्थ स्वर या कामकला—सेतुबन्ध के अनुसार कामकला का स्वरूप—तुरीय बिन्दु, काम नामक बिन्दु, विसर्गात्मक बिन्दुद्वय और हार्ध कला—दीपिकाकार अमृतानन्द योगी, कामकलाविलास तथा सौन्दर्यलहरी से मतभेद—समन्वय—अकार, हकार, शिव, शक्ति—अकुल, कुण्डलिनी—अकार, हकार और नाद तत्व—अहन्तामय त्रिविन्दु—कामकला या त्रिकोण—त्रिबिन्दु—त्रिकोण अथवा प्रणव या ओङ्कार—गायत्री-मन्त्र के चतुर्थ चरण में प्रणव का द्वैविध्य—प्रणव और कामकलाक्षर की एकता—क्रोधभट्टारक और पुष्पदन्त का मत—उमा और ओङ्कार—उमा ही कुण्डलिनी है—देवीप्रणव—अमात्र अथवा अर्द्धमात्र इन्दुकला और हैमवती उमा—पञ्चप्रणव—अकार से लेकर उन्मना पर्यन्त प्रणव की बारह कलाएँ—पाश जाल की अवधि और समना—मधुसूदन सरस्वती द्वारा उक्त अणु, अणुतर और अणुतम ध्वनियाँ—ओङ्कार गत अणुध्वनियाँ और बिन्दु, अर्द्धेन्दु तथा रोधिनी आदि—बिन्दु आदि कलाओं के सम्बन्ध में भास्कर-राय का मत—नव कलाएँ और नाद—कलाओं की काल-गणना—उन्मना की कालहीनता—स्वच्छन्दतन्त्र का मत—उन्मना अथवा गुरुवक्त्र—उन्मना की कालात्मकता के सम्बन्ध में योगिनीहृदय और सेतुबन्ध का मत-समन्वय—उन्मना अथवा काली नामक परा शक्ति—व्याकरणागम-सम्मत कालशक्ति, स्वातन्त्र्य या परा वाणी की एकता—काल के दो भेद—अपर काल और उन्मनी शक्ति–साक्षी, चिद्रूप, परकालात्मा—काल का द्विधात्व और आचार्य पद्मपाद—लवादि-पञ्चदश-कार्यात्मक कालपर्वाभिमानिनी अपरा काल शक्ति—बिन्दु आदि प्रणव कलाओं की आकृतियाँ—उन्मना से लेकर अकार पर्यन्त प्रणव कलाओं से व्याप्त ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड सृष्टि—सद्योजातादि-पञ्चब्रह्म-रूप अकारादि कलाओं की अणुतर कलाएँ—अर्द्धेन्दु से उन्मना पर्यन्त पुष्पदन्तोक्त तुरीय धाम

और अणुध्वनियाँ—अर्द्धमात्रा के अन्तर्गत अनेक ध्वनियों के औचित्य का प्रतिपादन—प्रणव के सात मात्राभेद और उनके वाच्य—प्रणवात्मक कुण्डलिनी शक्ति और प्रकृति-विकृतियाँ—द्वादश कलाओं एवं सप्तमात्राओं में समन्वय—शारदातिलकतन्त्र के अनुसार शब्दावरोहक्रम—क्रमागत 'शक्ति' आदि शब्दों की निरुक्ति—क्या परा की उत्पत्ति होती है? सार्द्धत्रिवलयाकारा कुण्डलिनी और सार्द्धत्रिमात्रिक प्रणव—समष्टिकुण्डलिनी, अग्निकुण्डलिनी, सूर्य-कुण्डलिनी और सोमकुण्डलिनी—परा के जन्म की बात औप-चारिक—कारणबिन्दु—कार्यबिन्दु—नाद—बीज—इनके अधिदेव, अधिभूत, और अध्यात्म—अव्यक्त शब्दब्रह्मात्मक रव—कारणबिन्दु से इसकी अभिन्नता—परतत्त्व, पराकृति और घनीभूत ब्रह्म—घनीभाव या उच्छूनावस्था, विचिकीर्षा और बिन्दु का स्वरूप-निर्देश—माया, माया की शक्ति अविद्या और कर्म का निरूपण—सामान्य और विशेषात्मक प्राणि-कर्मसंस्कार—सम्पूर्ण या कृत्स्ना पराप्रकृति—पराप्रकृति-रूप बिन्दु के अन्तराल में घटित होने वाला क्रम—त्रिधा विभज्यमान प्रकृति या कारणबिन्दु—रवात्मक शब्दब्रह्म का निरूपण—व्याकरणागम—समस्त परा-प्रकृति का स्वरूप—परा-प्रकृति और सांख्योक्त प्रकृति में भेद—परा और अपरा प्रकृति, पर और अपर पुरुष, पर और अपर काल का मेल ही मूलमहाप्रकृति है—प्रपञ्चसार तन्त्रोक्त परा-प्रकृति—हकाराक्षर का वैचित्र्य—हकारात्मक मन्त्रदेवता के पाँच प्रकार—अकार और हकार के वाचकांश और वाच्यांश—परपुरुषादि का निरूपण—वेदान्त-सम्मत माया—तन्त्र-सम्मत माया—महामाया, योगमाया, आत्ममाया—आत्ममाया या परा शक्ति—यही महामन्त्रात्मक मातृका शक्ति है।

वर्णात्मक मातृका—वर्णमालात्मक मातृका—वर्णमालात्मक मातृका के चार भेद—बिन्दुयुक्त मातृका अथवा सर्वज्ञताकरी विद्या—ब्रह्मराशि या केवलमातृका—वर्णमाला-अक्षमाला या मातृका—मुनिवर्यभागुरि—मातृका-वर्ण-क्रम के प्रवर्तक—जीव-गोस्वामी का मत—माहेश्वर वर्णमाला से भेद—विलोममातृका, वहिर्मातृका तथा अन्तर्मातृका—पचास या इक्यावन वर्णमातृकाएँ—

वर्णमाला, स्थूलमातृका या वैखरी वाक्—वैखरी शब्द के विविध निर्वचन—सूक्ष्म मातृका अथवा मध्यमा वाक्—परा, पश्यन्ती अथवा सुसूक्ष्म मातृका—भासुरानन्दनाथ और चतुर्विध मातृका—मातृका का पर रूप—सूतसंहिता का मत—तात्पर्यदीपिका और परमातृका—वाच्यवाचकात्मक जगत् की जननी भगवती पर मातृका—मातृका या अज्ञात माता—अक्रमा मातृका—सक्रमा मातृका—ज्ञानाधारमातृका—पशुमाता मातृका—मातृका शक्ति का विलास ही विश्व है—पराहन्ता, विमर्शशक्ति, ललिता भट्टारिका अथवा मातृका—मातृका शब्द की व्युत्पत्ति—विसर्ग शक्ति और मातृका—आनन्द, सार, हृदय कालकर्षिणी आदि मातृका के पर्याय—पराशक्तिरूप प्रतिभा और मातृका—विसर्ग शक्ति और सहृदयता—कुण्डलिनी अथवा मातृका—शुद्धविद्या अथवा मातृका—वागीश्वरी अथवा मातृका—अहं और इदं का सामानाधिकरण्य अथवा शुद्धविद्या—कामकला, महात्रिपुरसुन्दरी या मातृका—गणेश-ग्रह नक्षत्रादि-रूप मातृका—देश-क्रम और कालक्रम की उत्पादिका मातृका—षडध्वजननी मातृका—त्रिपुरा अम्बिका अथवा मातृका—इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक त्रिकोण अथवा जन्माधार की हेतु मातृका—अकार तथा हकार की प्रत्याहारात्मक अहन्ता या मातृका—नववर्ग—सप्तमातृकाएँ—स्वरूप—अष्टमातृकाएँ-अष्टवर्ग और देवता—वर्ग-शक्तियों के तीन भेद—घोरादि भेदों का निरूपण—पर आदि भेदों के साथ एकता—अष्टकेश्वरी—योगिनी और ब्राह्मी आदि मातृकाएँ—योगिनीहृदय के अनुसार अष्टमातृ-काओं का स्वरूप—मातृकावर्ण और क्रम-वर्णों के बीज और योनि के दो भेद—स्वरों और व्यञ्जनों की शिव और शक्तिरूपता—मातृका क्रम ही सिद्धा और पूर्वमालिनी के नाम से ख्यात है—भिन्नयोनि मालिनी अथवा उत्तर मालिनी शक्ति—मालिनी वर्ण-क्रम—रुद्र और शक्तियों की माला अथवा मालिनी—मातृका—चक्र अथवा मातृका कलाएँ—मातृका वर्णों के देवी, रश्मि आदि अभिधान—वर्णों की अग्नीषोमात्मकता—बीज और स्वर—स्वर शब्द का निर्वचन—योनि और व्यञ्जन—व्यञ्जनों के दो भेद—स्पर्श और व्यापक—सौम्य, सौर और आग्नेय वर्ण—पुरुष, स्त्री और नपुंसक वर्ण—शिव और शक्तिमय स्वर—बहिर्मातृका का विवरण ।

विसर्ग या षोडशी कला—हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त प्राणचार के बीच वर्णों का उदय—पर, सूक्ष्म और स्थूल वर्णोदय—परतर, पर-तम सूक्ष्मसूक्ष्म तथा सूक्ष्मस्थूल वर्णोदय—वर्णों का उदय अयत्नज होता है—स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार बाह्य काष्ठात्मक काल और आध्यात्मिक अहोरात्र—आध्यात्मिक मास—वर्ष—साठ संवत्सर—इक्कीस हजार छः सौ प्राणचार और जप संख्या—वर्ण और ग्रह, राशि तथा नक्षत्र—वर्णों का पञ्चभूतात्मक विभाजन—पञ्चभूत और चित्रलिपियों—वर्णों का नवधा पाञ्चभौतिक वर्गीकरण—वर्ण; ज्ञान-विज्ञान की कुञ्जी।

उपायात्मक मन्त्रों के रूप में परमेश्वर का स्फुरण—मन्त्रों में वर्तमान अव्यय शक्ति—मनन और त्राण—परावागात्मक अनुभूति ही मन्त्र है—मन्त्रवीर्य या मन्त्रोपनिषद्; मन्त्रवर्ण समुदाया-त्मक मन्त्रों में माया से प्रबल शक्ति का उपपादन—मन्त्रों की नित्यता का स्वरूप विवेचन—चित्त ही मन्त्र है; शिवसूत्र का मत—चित्त का निरूपण—मन्त्रों की त्रिधा व्याख्या—१. पूर्णाहन्तात्मक मन्त्र, २. आराधक का चित्तात्मक मन्त्र तथा ३. वर्णात्मक मन्त्र ग्राह्य और ग्राहक—प्रमेयांश और प्रमात्रंश—परमप्रमाता और अवम प्रमाता—सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकलात्मक प्रमातृगण—विज्ञानाकल अथवा मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर—शुद्ध और अशुद्ध अध्वा—विज्ञानाकलों का शुद्ध अध्वा से सम्बन्ध—विज्ञानाकलों का स्वरूप और स्थान—मन्त्रमहेश्वर—आठ मन्त्रेश्वर—सात करोड़ मन्त्र—मन्त्र या रुद्र—विज्ञानाकलों के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतन्त्र का मत—परात्रिंशिका का मत—स्पन्दशास्त्र और मन्त्र—नेत्रतन्त्र में मन्त्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रश्न—मन्त्रों की आत्मा या अधिष्ठाता—मन्त्रों का स्वरूप : आकार या निराकार—तुलनात्मक दृष्टान्त—मन्त्रों का सामर्थ्य—मन्त्रों का प्रेरक कौन ?—उत्तर—मन्त्रः—त्रितत्त्वज—मन्त्रों में शिवत्व और शक्तित्व का निरूपण—मन्त्रों में वाच्य और वाचक शक्तियाँ—मन्त्र और प्रार्थना—स्तुतियाँ—गुणकीर्तन और आशीः—गुणकीर्तन या देवता के स्वरूप की ख्याति—आशीः या सामर्थ्य—मन्त्र अथवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आमन्त्रक—मन्त्रों के भेद—पुं, स्त्री,

---

मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

आगम और तन्त्र

आगम और तन्त्र—ये दोनों शब्द सामान्यतया पर्याय रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। दार्शनिकों की प्रस्थान परम्परा के अन्तर्गत प्रमाणों की परिगणना के प्रसङ्ग में आगम का आप्तोपदेश के रूप में न केवल उल्लेख हुआ है अपितु अनिवार्य स्वीकृति भी देखी जाती है। शास्त्रात्मक आगम और प्रकृत प्रबन्ध के आधारभूत आगम अथवा तन्त्र के बीच कोई मौलिक पार्थक्य है ऐसी बात नहीं। हाँ, सामान्य-विशेषात्मकता का अन्तर अवश्य किया जा सकता है। 'आगम' की व्याख्या चार[1] प्रकार से सम्भव है :—

१. आप्तोपदेशात्मक आगम।

२. अनिबद्धप्रसिद्धि रूप आगम।

३. निबद्धप्रसिद्धि रूप आगम।

४. प्रतिभात्मक आगम।

सामान्य जनों की प्रज्ञा, मलिन मान्यताओं एवं पक्षपात से संवलित होने के कारण जनता के जीवन में प्रमाण रूप से उपारूढ़ नहीं होती है किन्तु वक्तव्य वस्तु का जिसे निर्बाध एवं पूर्ण बोध है उस आप्त के उपदेश की प्रामाणिकता के प्रति किसी को सन्देह नहीं होता। पृथक्-पृथक् प्रसिद्धियों के सम्बन्ध में पृकक्-पृथक् आप्तता देखी जाती है। पाणिनि[2] और वररुचि आदिकों की आप्तता

---

१. एवं प्रतिभारूपेण निबद्धानिबद्धप्रसिद्धयात्मना च त्रिविधमागमं प्रदर्श्य रूपान्तरमपि अस्य दर्शयति 'अन्योऽपि' इति। एतासु तिसृषु प्रसिद्धिषु प्रमाणान्तरमूलत्वं न अन्वेष्यम्, आप्तवादे तु तदन्वेषणीयमेव। आप्तिर्वक्तव्ये वस्तुन्यधिगतिस्ततश्च वक्तव्यवस्त्वधिगतिः, सा विद्यते यस्य, स आप्तः।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, अ० २, वि० ३, पृ० १०२

२. तथा हि पाणिनिवररुचिप्रभृतेर्व्याकरणे, आप्तता प्रसिद्धा, न अक्षपादादेः। पुरुषाप्तवादेन तु लोकाप्तवादपरिग्रहः—तदाह चरणाप्तवाद इति। अयं च आप्तवादः पूर्वोक्तमागमभेदं यथायोगं व्याख्यानादिद्वारेणानुगृह्णाति। तत एव सर्वं आगम आप्तोपदेशशब्देन भगवत्पतञ्जलिप्रभृतिभिः संगृहीतः।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, अ० २, वि० ३, पृ० १०३

व्याकरण में प्रसिद्ध है किन्तु अक्षपादादिकों की नहीं। ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं में इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आप्तता प्रसिद्ध है। यही चरणाप्तवाद अथवा शास्त्राप्तवाद है। पुरुषाप्त की व्याख्यागत उपलब्धियों को जब लोक में पूर्ण समादर प्राप्त हो जाता है तब पुरुषाप्तवाद ही लोकाप्तवाद के रूप में परिणत हो जाता है। 'आगम' शब्द के मूल में 'परम्पराख्याति' की प्रधानता है। आप्त इसीलिए आप्त (प्राप्त) है क्योंकि वह इस परम्परागत वस्तुतथ्य को, जो कालवश उच्छिन्न हो गया था, हृदयङ्गम करके जन-जीवन के बीच प्रकट करता है।

प्रसिद्धि अथवा निरूढ़ि ही 'परम्परा' की उपनिषद् है जो 'आगम' की आख्या को उपलब्ध कर सकी है। यह प्रसिद्धि[1] विशिष्ट वाक्यरचनाओं के रूप में निबद्ध अथवा महाजनों के अनुष्ठानों में अनिबद्ध रूप में देखी जाती है। इन सबका आदिम स्रोत है प्रतिभात्मक आगम अथवा परशक्ति या विमर्श—

प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेति।

ई० प्र० वि० वि०, पृ० ९३

इसी का स्पष्टीकरण स्वच्छन्दतन्त्र में मिलता है—

अदृष्टविग्रहात् शान्ताच्छिवात्परमकारणात्।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम्॥
अमूर्ताद् गगनाद्यद्वन्निर्घातो जायते महान्।
शान्तात्संविन्मयात् तद्वच्छब्दाख्यं शास्त्रम्—॥"

ई० प्र० विवृतिविमर्शिनी, पृ० ९७ में उद्धृत

'आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः। ३४०।

स्वच्छन्दतन्त्र, पटल ४

वस्तुतः परमेश्वर[2] के रूप का पूर्णतया, अभेद रूप से विमर्शन करने वाली परशक्ति ही आगम है और उस तत्त्व का प्रतिपादक शब्द सन्दर्भ भी। आगम की यह परा कोटि है, भिन्न-भिन्न आगमों का उद्भव यहीं से होता है। समग्र

---

१. निबद्धः इति-विशिष्टवाक्यरचनाभिः। ई० प्र० वि० वि०, पृ० १००
अनिबद्धापि इति—महाजनानुष्ठानशेषतयैव स्थिता। वही, पृ० १०१

२. आसमन्ताद् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा परशक्तिरेवागमः तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसन्दर्भः तदुपायत्वात् शास्त्रस्य।

स्वच्छन्दोद्योत, पटल ४, पृ. २१४

आगम अनादि हैं। जिसके[1] हृदय में जिस सिद्धान्त की निरूढ़ि हो गई उसके लिए वही आगम है। 'दृढ़विमर्शरूपं शब्दनमागमः, आसमन्तादर्थं गमयतीति (ई० प्र० वि० वि०, पृ० ८५, अ० २, वि० ३)। प्रतीति या ज्ञान विशेष की निरूढ़ि ही दृढ़ता है। दृढ़तापूर्वक विमर्श स्वाधिकृत आगम का अभ्यास है, जो उसे प्रतीति के अनुरूप बनाने में समर्थ होता[2] है अर्थात् जो जैसा होने की भावना करता है वह वैसा ही हो जाता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' (गीता, अ० १७, श्लोक ३) आदि से इसी बात को स्पष्ट किया गया है।

आगमों[3] की भिन्नता नियत अधिकारी तथा देश, काल, दशा, सहकारी आदि के विचार से होती है।

बौद्ध एवं कापिलादि आगमों की अनादिता में भी कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि भावना के बल से प्राप्त क्षणिकता रूप विमर्श वाला व्यक्ति ही तो बुद्ध है। और उसे क्षणिकादि भावना का उपदेश देने वाला गुरु है पूर्व बुद्ध, उसका भी कोई अन्य उपदेष्टा है—इस प्रकार यह अनियतवक्तृता पारमेश्वर विमर्श या प्रतिभात्मक आगम में पर्यवसित हो जाती है। यही दशा चौबीस तत्त्वों की भावना से भावित कपिल की भी समझनी चाहिए। इसलिए सभी आगम

---

१. सर्वथा अनुमाने न आश्वसितव्यम्। अपि तु आगम एव, स च यो यस्य हृदये निरूढिमुपगतः स एव। ननु एवं यस्य न किञ्चिन्निरूढं, तस्य किम्। ननु एवं यस्य चक्षुषी न स्तः, तस्य किम्?

ई० प्र० वि० वि०, अ० २, वि० ३, पृ० ९६

२. प्रतीतेर्निरूढिर्दृढता। शब्दनरूपत्वं विमर्शनं, यदान्तरं चित्स्वभावस्य अन्तरङ्गं रूपं प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पं, तेन यद्विमृष्टं, तत्तथैव भवति इति नात्र विवादो यथा गरुड़ एव अहं क्रीडामि पन्नगैर्विषममृतीकरोमि इति। तथा च आहुः—'आत्मानं यादृशं योऽत्र भावयेत्तादृशो ह्यसौ।' 'आत्मानं यादृशं वेद देवा एनं तथा विदुः।' इति च। ततः स एव विमर्श आगम इति उच्यते मुख्यतया, तदुपयोगितया तु उपचारेण तज्जनकोऽपि शब्दराशिः।

ई० प्र० वि० वि०, अ० २, वि० ३, पृ० ९६

३. सर्व एव हि आगमो नियताधिकारिदेशकालदशासहकारिप्रभृतीनामृश्य विधिनिषेधादिविमर्शमयः। ततश्च कश्चित् पुरुषः कञ्चिदेव देवसिद्धाद्यन्यतम-करणीयौचितविमर्शं स्वात्मसंयोजनेन विमृशन् भगवता सृष्टः, अन्यस्तु अन्यं विमर्शमिति। दृढनिरूढिरेव च तत्तदधिकारिलक्षणं मुख्यमिति दर्शितं श्रुत्यैव—'यश्चैनमेवं वेद' इति, 'विद्वान् यजेत् इति'। तदर्थमेव च उक्तं—श्रद्धामयोऽयं पुरुषः इत्यादि। वही, पृ० ८५

अनादि[1] हैं। वेद[2], शैव-वैष्णव आदि आगमों का जो विमृश्यमान अर्थ अनुष्ठान द्वारा प्रसिद्ध है वह अमुक के द्वारा उक्त है, व्यक्ति विशेष के द्वारा उत्पादित है, इस काल से लेकर ही प्रवृत्त हुआ है—इस प्रकार परिच्छिन्न नहीं किया जा सकता। वहाँ अनवच्छिन्न प्रकाशधर्मक परमेश्वर ही विमर्श रूप से विद्यमान रहता है अतः अनादिता भी अबाधित है। कठ आदिकों, भार्गव, मतङ्गप्रमुखों एवं नारद प्रभृति द्वारा प्रसिद्ध अनादि अनुष्ठान ही, समास एवं व्यास रूप में उपकल्पित वाक्य-योजनाओं द्वारा शब्दरूप में निबद्ध[3] किया जाता है।

वेद भी एक प्रकार का आगम ही है जो सम्पूर्ण आगमों का अविसंवादी है—

नुमस्त्वां ऋग्यजुःसाम्नां शुक्रतः परतः परम्।
यस्य वेदात्मिकाज्ञेयमहो गम्भीरसुन्दरी॥

स्तवचिन्तामणि ६९

इच्छादि तीनों शक्तियों से युक्त, ऋगादि वेदों की शुक्र अथवा वीर्य या सार रूप तीनों वाणियों से परे, परशक्तिरूप आनन्दधाम है। उससे भी परे, समस्त शक्तियों की प्रतिष्ठा रूप परम शक्ति का विश्राम पद है; जिसकी गाम्भीर्य और सौन्दर्य की अतिशय रूप आज्ञा है—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेवादि सहस्त्रों विषयों से सगर्भ वेदागम।[4]

---

१. न हि बुद्धो नाम नियतः कश्चित् अपि तु भावनाबलप्रतिलब्धक्षणिकादिदृढविमर्शः। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरुः पूर्वबुद्धः तस्यापि अन्यः—इति क्रमेण अनियतवक्तृकत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुतः। एवं चतुर्विंशिति तत्वभावभावनाभावितः कपिलो मन्तव्यः अत एव सर्वागमा अनादय एव।

—ई० प्र० वि० वि०, पृ० ९७

२. वेदशैववैष्णववादीनां हि योऽर्थो विमृश्यमानः परस्परानुष्ठानेन प्रसिद्धः, सोऽनेनैव उक्तः, अनेनैव उत्पादितः, अमुष्मात् कालादारभ्यैव प्रवृत्त इति न अवच्छेदभागिति अनवच्छिन्नप्रकाशधर्मो विमर्शात्मा परमेश्वर एवेति अनादित्वमेव तत्र। वही, पृ० ९२

३. द्रष्टव्य ई० प्र० वि० वि०, पृ० ९२

४. ऋगादीनां शुक्रं सारं वीर्यं वाक्त्रयं पूर्वं व्याख्यातमिच्छादिशक्तित्रयमयं ततो यत्परं परशक्त्यात्मकमानन्दधाम, ततः परं समस्तशक्तिप्रतिष्ठारूपपरमशक्तिविश्रान्तिधाम; तत् नुमः। अहो इति गाम्भीर्यस्य सौन्दर्यस्य च अतिशयं द्योतयन् अध्यात्माधिभूताधिदेवादिविषयार्थसहस्रगर्भत्वमाचक्षाणः सर्वागमाविसंवादितां वेदागमस्य आह। ई० प्र० वि० वि०, पृ० ९९

वेद सामान्यता निगम के नाम से विख्यात है। शब्दब्रह्मविद् महावैयाकरण भर्तृहरि ने कहा है—कोई भी आगमों को अकर्तृक नहीं मानता। त्रयी अर्थात् वेद ही आगमों का मूल है। पूर्वागमों के उच्छिन्न हो जाने पर वेद में ही बीज रूप से सन्निविष्ट रहने के कारण उन्हीं के आधार पर आगमान्तरों का निबन्धन किया जाता है। अतः उनकी (आगमों की) भी प्रवाह से अनादिता[1] सिद्ध होती है—

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवादौ व्यवस्थिता ॥१३४॥

वाक्यपदीय, प्र० का०

पूर्वोक्त विवेचना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि आगम का 'परम्परा प्राप्त' ही मौलिक अर्थ है। परम्परा का भी स्रोत वेद या निगम है। भर्तृहरि के मत में आगम और स्मृति[2] में कोई अन्तर नहीं। आगम की रहस्यमयता के सम्बन्ध में निम्नांकित विवरण अधिक उपादेय होगा :—

निगम अथवा वेद में सूर्य मुख्य है। सूर्य को त्रयी[3]—वेदत्रय का रूप ही बताया गया है। आगम में वही बिन्दु, प्रकृति अथवा शब्दब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है। शब्दब्रह्म के वाच्य तत्त्व सदाशिव अथवा पञ्चमुख महेश्वर को वैदिक 'आदित्य' में देखा जा सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—

आदित्य[4] देवमधु है, द्युलोक उसका तिरछा बांस है, अन्तरिक्ष मधुमक्षि-

---

१. तानि पूर्वागमेषु विच्छिन्नेषु अन्येषु प्रणेतृषु आगमान्तरानुसन्धाने बीजवदवतिष्ठन्ते। तान्येव बीजान्यासाद्य पुनः प्रणेतृभिरागमा निबध्यन्ते इति प्रवाहानादित्वं सिद्धमिति नागमा आप्रमाणमिति भावः।

वाक्यपदीय टीका, पृ० ५१–५२

२. साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः। १४३ ब्रह्मकाण्ड (वा०प०)
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः ४८८ द्वि० का० (वा० प०)
स्मृतो ह्यर्थः पारम्पर्यादविच्छेदेन पुनः पुनर्निबध्यत इति अनादिरागममूला चेयमपि स्मृतिः। वा० प० टीका, प्र० का०, पृ० ५५

३. सैषा त्रयी एव विद्या तपति। शतपथ ब्रा० १०।५।२।२

४. असौ वा आदित्यो देवमधु, तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरीक्षम् अपूपः मरीचयः पुत्राः। छा० उ०, ३।१

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयः ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः।

ऋच एव मधुकृतः, ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः। ३।२

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यः यजूंष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पम्। ३।२।१

काओं का छत्ता है, किरणें बच्चे हैं। आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की किरणों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं इतिहास पुराणात्मक पुष्प रस प्रवाहित होता है। ऊर्ध्वगत रश्मियों से गुह्य आदेशात्मक मधुकर एवं ब्रह्म (प्रणव) तत्त्वात्मक पुष्प का रस प्रवाहित होता है। आदित्य के पूर्वादि मुखों को अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम और ब्रह्मा के नाम से कहा गया है। ये अग्नि आदि सदाशिव के सद्योजात, तत्पुरुष, वामदेव, अघोर और ईशान[1] मुख हैं। आदित्य अथवा सदाशिव के ईशानात्मक ऊर्ध्वमुख से निर्गत गुह्य आदेश ही आगम है। यही बात स्वच्छन्द तन्त्र में भी कही गई है—

मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम् ॥४५॥

पटल ११

सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजुःस्मृतः।
अघोरः सामवेदस्तु पुरुषोऽथर्व उच्यते ॥४२॥
ईशानश्च सुरश्रेष्ठः सर्वविद्यात्मकः स्मृतः ॥४३॥

पटल ११

साम्बपञ्चाशिका के सातवें तथा आठवें श्लोक में भी पूर्वोक्त विवृति का संकेत निम्नांकित रूप में मिलता है—

'त्रिगुणवपु, सर्वज्ञ, अव्याकृत, जगत्कारणरूप जिस सूर्यमण्डल में बिन्दु-रूप शब्दब्रह्म सन्निविष्ट है। तथा जो उत्तम योगियों के हृदय में ब्रह्माकार में परिणत बुद्धि वृत्ति के लिए, और मध्यम योगियों को अर्चिरादि पथ द्वारा ब्रह्मलोक पर्यन्त निर्वाण मार्ग के रूप में शोभित होता है, वेदत्रयी का आधार-

---

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयः ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पम्।

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयः ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः इतिहासपुराणं पुष्पम्। अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयः ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतः ब्रह्मैव पुष्पम्, ता अमृता आप।

तद्यत् प्रथमं अमृतं तद् वसव उपजीव्यन्ति अग्निना मुखेन।
अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीव्यन्ति इन्द्रेण मुखेन।
अथ यत् तृतीयममृतं तदादित्या उपजीव्यन्ति वरुणेन मुखेन।
अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीव्यन्ति सोमेन मुखेन।
अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीव्यन्ति ब्रह्मणा मुखेन।

—छा० उ०, अ० ३, ख १–१०

१. द्रष्टव्य—'दि ऋग्वेदिक कल्चर आफ दि प्रिहिस्टारिक इण्डस'

—द्वि० ग्रन्थ, पृ० ११०

भूत प्रणव ही जिसका सूक्ष्म मण्डल है, सम्पूर्ण प्राणियों के अन्त:करण में इन्द्रियों से अग्राह्य अतिसूक्ष्म रूप में वर्तमान तथा बाह्य आकाश में स्थूल और व्यापक रूप में अवस्थित उस सूर्यमण्डल की, अविद्या नाश के लिए, मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

'देवगण, पितर तथा मनुष्यों द्वारा प्रतिदिन उपभुक्त होकर क्षीण चन्द्रमा, जिसमें प्रवेश करके पूर्णता लाभ करता है, तथा जिस मधुमय आदित्य में वेद, मधु-मक्षिकाओं[1] के सदृश शोभित होते हैं मैं उसी सूर्यमण्डल के मध्य में स्थित अमित आनन्दरूप अमृत के शरणापन्न होता हूँ।'

वस्तुत: महेश्वर[2] के वक्त्र से निर्गत, एवं गिरिजा के मुख में आगत ज्ञान को 'आगम' कहने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। सदाशिव रूपी सूर्य के ऊर्ध्व मुख से ज्ञान अहर्निश निर्गत हो रहा है। उसको ग्रहण करने के लिए तदनुरूप शक्ति की आवश्यकता होती है। यह गिरिजाख्य शक्ति किसी भाग्यशाली व्यक्ति के अन्त:करण में जागरूक होकर उस ज्ञान-धारा को आत्मसात् करती है। अनन्तर उसी व्यक्ति को निमित्त बनाकर यह शक्ति उस माहेश्वर ज्ञान को वाक्यों में निबद्ध करती है। इस प्रकार का निबन्धन ही लोक में आगम के नाम से ख्यात होता है।

भिन्न-भिन्न शास्त्रों के अतिरिक्त 'आगम' शब्द एक विशेष साहित्य के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस साहित्य में शुभागम पञ्चक तथा अट्ठाइस कामिक

---

१. यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि परमं भाति निर्वाणमार्ग:।
त्रय्याधार: प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्त:सूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तये तत् प्रपद्ये ॥७॥
यस्मिन् सोम: सुरपितृनरैरन्वहं पीयमान:
क्षीण: क्षीण: प्रविशति यतो वर्धते चापि भूय:।
यस्मिन् वेदा मधुनि सरघाकारवद्भान्ति चाग्रे
तच्चण्डांशोरमृतममितं मण्डलस्थं प्रपद्ये ॥८॥

—साम्बपञ्चाशिका

२. आगत: शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजानने।
मग्नश्च हृदयाम्भोजे तस्मादागम उच्यते ॥

—रुद्रयामल, वाचस्पत्यम्, में उद्धृत, पृ० ६१६

आदि आगम प्रसिद्ध हैं। समय, मिश्र और कौल नामक तान्त्रिक मार्गों में शुभागम पञ्चक का स्थान समयमार्ग[1] के अन्तर्गत है।

१. वासिष्ठसंहिता, २. सनकसंहिता, ३. शुकसंहिता, ४. सनन्दनसंहिता, ५. सनत्कुमारसंहिता—ये ही शुभागम के नाम से प्रसिद्ध हैं। आजकल ये ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर तथा भास्करराय ने इनको बहुशः उद्धृत किया है। इन संहिताओं में—षोडश नित्याओं, चक्रविद्या अथवा चन्द्रकलाविद्या एवं श्रीचक्र तथा षट्चक्रों का व्यापक वर्णन किया गया है। चन्द्रकला विद्या के अन्तर्गत वर्णमाला का भी रहस्यमय वर्णन मिलता है। समय मत की जानकारी के लिए—'तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया' इस आनन्दलहरी के इकतालिसवें श्लोक की लक्ष्मीधरा व्याख्या देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'समयाचारतत्परा' इस ललितासहस्रनाम के ८८ वें श्लोक पर सौभाग्यभास्कर द्रष्टव्य है। अट्ठाइस आगम निम्नांकित हैं[2]—

---

१. अयं शुभागमपञ्चकनिरूपितो मार्गः वशिष्ठसनकशुकसनन्दनसनत्कुमारैः—पञ्चभिः मुनिभिः प्रदर्शितः। अयनेव समयाचार इति व्यवह्रियते।

—सौन्दर्यलहरी के ३१ वें श्लोक की लक्ष्मीधर कृत टीका

२. शरीरपक्षेऽपि कामिकागमे—

'कामिकं पादकमलं योगजं गुल्फयोर्युगम्।
पादद्वयाङ्गुलीरूपे कारणप्रसृताह्वये।
अजिता जानुनोर्युग्मं दीप्तमूरुद्वयं विभोः।
पृष्ठभागेंऽशुमानस्य नाभिः श्रीसुप्रभेदकम्।
विजयं जठरं प्राहुर्निःश्वासं हृदयात्मकम्।
स्वायम्भुवं स्तनद्वन्द्वमनलं लोचनत्रयम्।
वीरागमः कण्ठदेशो रुरुतन्त्रं श्रुतिद्वयम्॥
मुकुटं मुकुटं तन्त्रं बाहवो विमलागमः।
चन्द्रज्ञानमुरः प्रोक्तं बिम्बं वदनपङ्कजम्।
प्रोद्गीततन्त्रं रसना ललितं गण्डयोर्युगम्।
सिद्धं ललाटफलकं सन्तानं कुण्डलद्वयम्।
किरणं रत्नभूषा स्याद्वातुलं वसनात्मकम्।
अङ्गोपाङ्गानि रोमाणि तन्त्राण्यन्यापि कृत्स्नशः।
एवं तन्त्रात्मकं रूपं महादेव्या विचिन्तयेत्।

—सौभाग्यभास्कर, पृ० ६८

१. कामिक, २. योगज, ३. कारण, ४. प्रसृतागम, ५. अजितागम, ६. दीप्तागम, ७. अंशुमानागम, ८. सुप्रभेदागम, ९. विजयागम, १०. निःश्वासागम ११. स्वायम्भुवागम, १२. अनलागम, १३. वीरागम, १४. रौरवागम, १५. मुकुटागम, १६. विमलागम, १७. चन्द्रज्ञानागम, १८. बिम्बागम, १९. प्रोद्गीत, २०. ललितागम, २१. सिद्धागम, २२. सन्तानागम, २३, किरणागम, २४. वातुलागम। २५. सूक्ष्म, २६. सहस्र, २७. सर्वोत्तर, २८. परमेश्वर।

कामिकागम में प्रारम्भिक चौबीस आगमों का ही उल्लेख है। किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी आगम थे—इस बात का भी संकेत वहीं मिल जाता है। अप्पय दीक्षित[1] ने 'शिवार्चन चन्द्रिका' में अट्ठाइस आगमों की श्लोक संख्या का वर्णन किया है। इससे इनकी संख्या का अट्ठाइस होना निश्चित प्रतीत होता है। इन आगम ग्रन्थों में विविध ज्ञान-विज्ञानात्मक सामग्री के अतिरिक्त ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस के उपायों का वर्णन किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने सम्भवतः इसी को लक्ष्य में रखकर तत्त्ववैशारदी में कहा है—"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः"।

आचार्य अभिनवगुप्त ने, तन्त्रलोक के प्रथम आह्निक में भी पूर्वोक्त अट्ठाइस आगमों का उल्लेख किया है—

दशाष्टादशवस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥ १८ ॥

अर्थात् दश शिवागम, अट्ठारह रुद्रागम तथा चौसठ भैरव तन्त्रों के रूप में विभक्त परमेश्वर के शासन का सार ही त्रिकशास्त्र है; और उसका भी सारभूत मालिनीमत कहा जाता है।

राजानक[2] जयरथ ने, इसी श्लोक की टीका करते हुए श्रीकण्ठी नामक

---

१. द्रष्टव्य भास्करी, तृतीय भाग, पृ० ७ की भूमिका–डा०के०सी०पाण्डेय

२. एतच्च श्रीश्रीकण्ठ्यामभिधानपूर्वं विस्तरत उक्तं, तद्यथा—

'स्रोतस्यूर्ध्वे भवेज्ज्ञानं शिवरुद्राभिधं द्विधा।
कामजं योगजं, चिन्त्यं मौकुटं चांशुमत्पुनः।
दीप्त.........................न्तरं पुनः।
शिवभेदाः समाख्याता रुद्रभेदास्त्विमाञ्छृणु।
विजयं चैव निःश्वासं मद्गीतं पारमेश्वरम्।
मुखबिम्बं च सिद्धं च सन्तानं नारसिंहकम्।

किसी पुरातन ग्रन्थ से आठ द्वैतवादी, अट्ठारह द्वैताद्वैतवादी, एवं चौसठ अद्वैतवादी तन्त्रों को उद्धृत किया है।

तन्त्र शब्द का प्रयोग आयुर्वेद, मीमांसा, तथा सांख्यादि शास्त्रों के अर्थ में भी हुआ है। 'ब्रह्मयामल' के—

तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता।
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी॥

इस श्लोक से 'तन्त्र'[1] के विविध अर्थों का संकेत मिलता है। वस्तुतः भावी विश्व की रूप-रेखा जहाँ बनती है–तानी जाती है वह सूक्ष्मकृति सम्पन्न अभेद का रूप वस्तु-तत्त्व ही तन्त्र है : अनन्तर वही वस्तुतत्त्व, जब कुछ पूर्व दशा से उन्मिषित होता है तब भेद और अभेद रूप को प्राप्त करके भावी प्रसार अथवा फैलाव का मध्यावस्थात्मक ठाठ या तन्त्र कहलाता है और भेदात्मक पूर्ण प्रसार तो तन्त्र है ही। इस प्रकार तन्त्र की त्रिधा स्थिति ही सम्भव है। इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।

तन्त्रालोक टीका, प्र० आ०, पृ० ४५

भैरव अभेद दशा है, रुद्र भेदाभेद दशा और शिव भेद दशा है। पीछे कहा गया है कि त्रिक ही तन्त्रों का सार है। यही बात वेद के लिए भी प्रसिद्ध है। ऋक्, यजुः और साम यह त्रयी वेद का सार है[2]। यजुः अभेदावस्था है

चन्द्रांशु वीरभद्रं च आग्नेयं च स्वयम्भुवम्।
विसरं रौरवाः पञ्च विमलं किरणं तथा।
ललितं सौरभेयं च तन्त्राण्याहुर्महेश्वरि।
अष्टाविंशतिरित्येवमूर्ध्वस्रोतोविनिर्गताः॥

१. तन्त्र शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ—१. कुटुम्बभरणादिकृत्य, २. सिद्धान्त, ३. औषधि, ४. प्रधान, ५. परिच्छद, ६. वेदशाखाभेद, ७. हेतु, ८. उभयार्थक प्रयोग, ९. इतिकर्तव्यता, १०. तन्तुवाय, ११. राष्ट्र, १२. परच्छन्दानुगमन, १३. स्वराष्ट्र चिन्ता, १४. प्रबन्ध, १५. शपथ, १६. धन, १७. गृह, १८. वयन-साधन, १९. कुल, २०. शिवादिशास्त्रभेद। —वाचस्पत्यम्, पृ० ३२२५

२. स वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो, यजूंषि, सामानि। सा या सा वागसौ स आदित्यः।.........मण्डलमेवर्चः,
अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि। शतपथ ब्रा० १०

ऋक् भेदाभेदावस्था है और साम भेदावस्था। सूर्य के रूप में त्रयी तप रही है। सूर्य के अन्तराल में अधिष्ठाता रूप से विद्यमान पुरुष यजुः है, मण्डल ऋक् है, और साम है सूर्य की त्रिभुवनव्यापी रश्मिमाला।

सूर्य[1] रूपी सदाशिव गुरु और शिष्य—शिव और पार्वती के रूप में तन्त्र की अवतारणा कर रहे हैं। विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता[2] और अश्वक्रान्तात्मक त्रिधा भेदों में विभक्त होकर तन्त्र प्रसृत हो रहा है। स्पष्ट है कि यह विभाजन यजुः, ऋक् और साम अथवा पुरुष, पिण्ड और रश्मि-प्रसार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही भेद, भेदाभेद और अभेदात्मक तन्त्रों की 'उपनिषद्' है। एक ही वस्तु किस प्रकार भिन्न-भिन्न तथा भिन्न अवस्था ग्रहण करती है इसी का निरूपण विविध तन्त्रों द्वारा किया जाता है। और इस प्रक्रिया में कोई असामञ्जस्य भी नहीं।

विष्णुक्रान्तादि[3] क्रमों से सम्बद्ध चौसठ-चौसठ तन्त्रों के तीन वर्ग हैं।

विष्णुक्रान्ता वर्ग के तन्त्र ग्रन्थ—

१. सिद्धीश्वर
२. कालीतन्त्र
३. कुलार्णव
४. ज्ञानार्णव
५. नीलतन्त्र
६. फेत्कारी
७. देव्यागम
८. उत्तर
९. श्रीक्रम
१०. सिद्धियामल
११. मत्स्यसूक्त
१२. सिद्धसार
१३. सिद्धिसारस्वत
१४. वाराही
१५. योगिनी
१६. गणेशविमर्शिनी
१७. नित्यातन्त्र
१८. शिवागम

---

१. गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥ परात्रिंशिकाविवरण, पृ० १२

२. असौ वा आदित्य एष रथः। शतप० ९।४।१।१५
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्। ऋ० २, अस्यवा० सूक्त

३. The extent of the 'Tantra Shastra' may in a small degree be made apparent by a reference to the groups (of 64 Tantras each) which have been assigned to the regions known as 'Vishnu-Kranta, Ratha-Kranta and Ashva-Kranta'. The following tantras are assigned by the मासिद्धिसारतन्त्र to the several regions though there are differences of opinion as regards particular Tantras. —तन्त्राभिधान की भूमिका—आर्थर अवलन

१९. चामुण्डा
२०. मुण्डमाला
२१. हंसमहेश्वर
२२. निरुत्तर
२३. कुलप्रकाश
२४. देवीकल्प
२५. गन्धर्व
२६. क्रियासार
२७. निबन्ध
२८. स्वतन्त्र
२९. सम्मोहन
३०. तन्त्रराज
३१. ललिता
३२. राधा
३३. मालिनी
३४. रुद्रयामल
३५. वृहद् श्रीक्रम
३६. गवाक्ष
३७. सुकुमुदिनी
३८. विशुद्धेश्वर
३९. मालिनीविजय
४०. समयाचार
४१. भैरवी
४२. योगिनीहृदय
४३. भैरव
४४. सनत्कुमार
४५. योनि
४६. तन्त्रान्तर
४७. नवरत्नेश्वर
४८. कुलचूडामणि
४९. भावचूडामणि
५०. दैवप्रकाश
५१. कामाख्या
५२. कामधेनु
५३. कुमारी
५४. भूतडामर
५५. यामल
५६. ब्रह्मयामल
५७. विश्वसार
५८. महाकाल
५९. कुलोड्डीश
६०. कुलामृत
६१. कुब्जिका
६२. यन्त्रचिन्तामणि
६३. कालीविलास
६४. मायातन्त्र ।

रथक्रान्तावर्गीय तन्त्र—

१. चिन्मय
२. मत्स्यसूक्त
३. महिषमर्दिनी
४. मातृकोदय
५. हंसमहेश्वर
६. मेरु
७. महानील
८. महानिर्वाण
९. भूतडामर
१०. देवडामर
११. बीजचिन्तामणि
१२. एकजटा
१३. वासुदेवरहस्य
१४. वृहद्गौतमीय
१५. वर्णोद्धृति
१६. छायानील
१७. वृहद्योनि
१८. ब्रह्मज्ञान
१९. गरुड
२०. वर्णविलास
२१. बालाविलास
२२. पुरश्चरणचन्द्रिका
२३. पुरश्चरणरसोल्लास
२४. पञ्चदशी
२५. पिच्छिला
२६. प्रपञ्चसार
२७. परमेश्वर
२८. नवरत्नेश्वर
२९. नारदीय
३०. नागार्जुन
३१. योगसार
३२. दक्षिणामूर्ति
३३. योगस्वरोदय
३४. यक्षिणीतन्त्र
३५. स्वरोदय
३६. ज्ञानभैरव
३७. आकाशभैरव
३८. राजराजेश्वरी
३९. रेवती
४०. सारस
४१. इन्द्रजाल
४२. कृकलासदीपिका
४३. कङ्कालमालिनी
४४. कालोत्तम
४५. यक्षडामर
४६. सरस्वती
४७. शारदा
४८. शक्तिसङ्गम

४९. शक्तिकागमसर्वस्व
५०. सम्मोहिनी
५१. इन्द्रजाल
५२. चीनाचार
५३. षडाम्नाय
५४. करालभैरव
५५. षोढ़ा
५६. महालक्ष्मी
५७. कैवल्य
५८. कुलसद्भाव
५९. सिद्धितद्धरि
६०. कृतिसार
६१. कालभैरव
६२. उड्डामरेश्वर
६३. महाकाल
६४. भूतभैरव ।

अश्वक्रान्ता वर्ग से सम्बद्ध तन्त्र—

१. भूतशुद्धि
२. गुप्तदीक्षा
३. वृहत्सार
४. तत्त्वसार
५. वर्णसार
६. क्रियासार
७. गुप्ततन्त्र
८. गुप्तसार
९. वृहत्तोडल
१०. वृहन्निर्वाण
११. वृहत्कङ्कालिनी
१२. सिद्धातन्त्र
१३. कालतन्त्र
१४. शिवतन्त्र
१५. सारात्सार
१६. गौरीतन्त्र
१७. योगतन्त्र
१८. धर्मकतन्त्र
१९. तत्त्वचिन्तामणि
२०. बिन्दुतत्त्व
२१. महायोगिनी
२२. वृहद्योगिनी
२३. शिवार्चन
२४. शम्बर
२५. शूलिनी
२६. महामालिनी
२७. मोक्ष
२८. वृहन्मालिनी
२९. महामोक्ष
३०. वृहन्मोक्ष
३१. गोपीतन्त्र
३२. भूतलिपि
३३. कामिनी
३४. मोहिनी
३५. मोहन
३६. समीरण
३७. कामकेशर
३८. महावीर
३९. चूडामणि
४०. गुर्वर्चन
४१. गोप्य
४२. तीक्ष्ण
४३. मङ्गला
४४. कामरत्न
४५. गोपलीलामृत
४६. ब्रह्माण्ड
४७. चीन
४८. महानिरुत्तर
४९. भूतेश्वरी
५०. गायत्री
५१. विशुद्धेश्वर
५२. योगार्णव
५३. भेरुण्डा
५४. मन्त्रचिन्तामणि
५५. यन्त्रचूडामणि
५६. विद्युल्लता
५७. भुवनेश्वरी
५८. लीलावती
५९. वृहच्चीन
६०. कुरञ्ज
६१. जयराधामाधव
६२. उज्जासक
६३. धूमावती
६४. शिव ।

आचार्य शङ्कर ने सौन्दर्यलहरी[1] में तन्त्रों की चौंसठ संख्या का उल्लेख

---

१. चतुःषष्टया तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रो पशुपतिः ।
पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥ सौन्दर्यलहरी, श्लोक ३१

किया है टीकाकार लक्ष्मीधर ने वहीं चौंसठ तन्त्र ग्रन्थों का विवरण भी प्रस्तुत किया है। चौंसठ संख्या रहस्यमय है। सम्भव है संख्या शम्भु[1] द्वारा अभिमत चौंसठ वर्णों की निर्देशिका हो। वर्णों को भी तन्त्र[2] कहने में कोई अनौचित्य नहीं, क्योंकि उन्हीं के द्वारा सम्पूर्ण वाङ्मय का वितान ताना जाता है।

लक्ष्मीधर ने चतुःशती[3] नामक ग्रन्थ से चौंसठ तन्त्रों को उद्धृत किया है। चतुःशती, वामकेश्वरतन्त्र के ही प्राथमिक ४ सौ श्लोकों को कहते हैं। उत्तरचतुःशती सुन्दरी अथवा योगिनी हृदय है। दोनों को मिलाकर नित्या-षोडशिकार्णव की आख्या दी गई है। वामकेश्वरतन्त्र, सेतुबन्ध, कुलचूडामणि-तन्त्र तथा लक्ष्मीधर के अनुसार चौंसठ तन्त्र—

१. महामायातन्त्र (कुलचूडामणि–मायोत्तरतन्त्र), २. शम्बरतन्त्र (कुल-चूडामणि—महासारस्वत), ३. योगिनी, ४. जालशम्बर, ५. तत्त्वशम्बर, ६. भैरवाष्टक (कुछ लोगों के मत में—१. असिताङ्ग, २. रुरु, ३. चण्ड, ४. क्रोध, ५. उन्मत्त, ६. कपाली, ७. भीषण, ८. संहार—ये आठ पृथक् तन्त्र है) ७. बहुरूपाष्टक—ब्राह्मी, ८. माहेश्वरी, ९. कौमारी, १०. वैष्णवी, ११. वाराही, १२. माहेन्द्री, १३. चामुण्डा, १४. शिवदूती—यामलाष्टक, १५. ब्रह्मयामल, १६. विष्णुयामल, १७. रुद्रयामल, १८. लक्ष्मीयामल, १९. उमायामल, २०. स्कन्दयामल, २१. गणेशयामल, २२. जयद्रथयामल, २३, चन्द्रज्ञान, २४. वासुकि (लक्ष्मीधर—मालिनी), २५. महासम्मोहन (लक्ष्मी-धर ने संख्या १ में महामायाशम्बर और २ में योगिनीजालशम्बर को रक्खा है, सम्भवतः उन्होंने लक्ष्मण नामक टीकाकार का अनुसरण किया है। भास्कर-राय ने, ऋजुविमर्शिनी को प्रायः तथा अर्थरत्नावली को कहीं-कहीं अपना आदर्श बनाया है ऐसा प्रतीत होता है।), २६. महोच्छुष्म, २७. वातुल, २८. वातुलोत्तर, २९. हृद्भेद, ३०. तन्त्रभेद, ३१. गुह्यतन्त्र, ३२. कामिक, ३३. कलावाद, ३४. कलासार, ३५. कुब्जिकामत,

---

१. त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः पाणिनीय शिक्षा

२. सर्वः शब्दः १३। सर्वार्थः १४। नित्यः १५। तन्त्रः १६।
पूर्वपाणिनीयसूत्र

३. ऋजुविमर्शिन्यामुक्तम्—श्रीवामकेश्वरं नाम शास्त्रं तन्त्रं प्रकाशते।
मध्ये शास्त्रस्य तस्यास्ति नित्याषोडशिकार्णवः॥
तत्र च द्वे चतुःशत्याविति— सेतुबन्ध, पृ० ७

३६. तन्त्रोत्तर, ३७. वीणातन्त्र, ३८. त्रोतल, ३९. त्रोतलोत्तर. ४०. पञ्चामृत, ४१. रूपभेद, ४२. भूतोड्डामर, ४३. कुलसार, ४४. कुलोड्डीश, ४५. कुल-चूड़ामणि, ४६. सर्वज्ञानोत्तर, ४७. महाकालीमत, ४८. महालक्ष्मीमत, ४९. सिद्धयोगेश्वरीमत, ५०. कुरूपिकामत, ५१. देवरूपिकामत, ५२. सर्ववीर-मत, ५३. विमलामत, ५४. पूर्वाम्नाय, ५५. पश्चिमाम्नाय, ५६. दक्षिणाम्नाय, ५७. उत्तराम्नाय, ५८. निरुत्तर, ५९. वैशेषिक, ६०. ज्ञानार्णव, ६१. वीरावलि, ६२. अरुणेश, ६३. मोहिनीश, ६४. विशुद्धेश्वर। (लक्ष्मीधर के अनुसार–२६ वामजुष्ट तथा महादेव भी एक पृथक् तन्त्र है। गौरीकान्त ने दोनों को दो पृथक् तन्त्र माना है किन्तु भास्कर राय महादेव को सम्बोधन मात्र मानते हैं।)

लक्ष्मीधर ने पूर्वोक्त तन्त्रों को अवैदिक बताते हुए इन्हें हेय कोटि में रक्खा है। उनका कहना है कि ये तन्त्र ऐहिक सिद्धि मात्र परक हैं।[1] यद्यपि उन्होंने अपनी टीका में तन्त्रों के विषयों का भी उल्लेख किया है, किन्तु प्रतीत होता है उन्हें उपर्युक्त समस्त तन्त्रों के देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था।

भास्करराय का मत ठीक इसके विपरीत है।

एवमेतानि शास्त्राणि तथान्यान्यपि कोटिशः।

भवतोक्तानि मे देव सर्वज्ञानमयानि च॥ २२।१ वि०

वामकेश्वर तन्त्र के इस श्लोक की व्याख्या में उन्होंने कहा है कि— "महामाया से लेकर विशुद्धेश्वर पर्यन्त चौसठ तन्त्रात्मकशास्त्र वेदरूप हैं। क्योंकि उन्हें उपनिषद् का शेष भाग कहा जाता है। तन्त्रों को शास्त्र कहने में कोई विवाद नहीं है क्योंकि वे वेद के समान ही भगवदाज्ञारूप हैं। परशुराम ने भी अपने कल्पसूत्र में पञ्चाम्नायों को परमार्थसार रूप माना है। ऐसी स्थिति में सौन्दर्यलहरी की व्याख्या में किसी के द्वारा तन्त्रों को अवैदिक कहना प्रलाप मात्र है। अतः उसकी उपेक्षा ही करना चाहिए।"[2]

राजानक जयरथ ने तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक गत अट्ठारहवें श्लोक की टीका करते हुए तन्त्रों को उद्धृत किया है। पूर्वोक्त तन्त्रों के साथ इनका साम्य नहीं के तुल्य है।

---

१. द्रष्टव्य—नित्याषोडशिकार्णव तथा सेतुबन्ध, विश्राम १।

२. एतानि महामायादिविशुद्धेश्वरान्तानि चतुःषष्टिस्तन्त्राणि। शास्त्राणि वेदरूपाणि। तन्त्राणामुपनिषच्छेषत्वात्।.........

भगवान् परशुरामोप्याह—पञ्चाम्नायान्परमार्थसाररूपान् प्रणिनायेति। एवं स्थिते यत्सौन्दर्यलहरीव्याख्याने केनचित्प्रलपितमिमानि तन्त्राण्यवैदिकानी-त्यादि तत्प्रतारकभ्रान्तान्यतरजल्पितत्वादुपेक्ष्यम्। सेतुबन्ध, वि० १, पृ० २४

(१) भैरव तन्त्र—

१. स्वच्छन्द[1]	४. क्रोध	७. महोच्छुष्म
२. भैरव	५. उन्मत्तभैरव	८. कपालीश
३. चण्ड	६. असिताङ्ग	

---

१. भैरवं यामलं चैव मताख्यं मङ्गलं तथा।
चक्राष्टकं शिखाष्टकं बहुरूपं च सप्तमम्॥
वागीशं चाष्टमं प्रोक्तमित्यष्टौ वीरवन्दिते।
एतत् सादाशिवं चक्रं कथयामि समासतः॥
स्वच्छन्दो भैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः।
असिताङ्गो महोच्छुष्मः कपालीशस्तथैव च॥
एते स्वच्छन्दरूपास्तु बहुरूपेण भाषिताः।
ब्रह्मयामलमित्युक्तं विष्णुयामलकं तथा॥
स्वच्छन्दश्च रुरुश्चैव षष्ठं चाथर्वणं स्मृतम्।
सप्तमं रुद्रमित्युक्तं वैतालं चाष्टमं स्मृतम्॥
अतःपरं महादेवि मतभेदा छृणुष्व मे।
रक्ताख्यं लम्पटाख्यं च मतं लक्ष्म्यास्तथैव च॥
पञ्चमं चालिका चैव पिङ्गलाद्यं च षष्टकम्।
उत्फुल्लकं मतं चान्यद्विश्वाद्यं चाष्टमं स्मृतम्॥
चण्डभेदाः स्मृता ह्येते भैरवे वीरवन्दिते।
भैरवी प्रथमा प्रोक्ता पिचुतन्त्रसमुद्भवा॥
सा द्विधा भेदतः ख्याता तृतीया तत उच्यते।
ब्राह्मी कला चतुर्थी तु विजयाख्या च पञ्चमी॥
चन्द्राख्या चैव षष्ठी तु मङ्गला सर्वमङ्गला।
एष मङ्गलभेदोऽयं क्रोधेशेन तु भाषितः॥
प्रथमं मन्त्रचक्रं तु वर्णचक्रं द्वितीयकम्।
तृतीयं शक्तिचक्रं तु कलाचक्रं चतुर्थकम्॥
पञ्चमं बिन्दुचक्रं तु षष्ठं वै नादसंज्ञकम्।
सप्तमं गुह्यचक्रं च खचक्रं चाष्टमं स्मृतम्॥
एष वै चक्रभेदोऽयमसिताङ्गेन भाषितः।
अन्धकं रुरुभेदं च अजाख्यं मूलसंज्ञकम्॥
वर्णभण्टं विडङ्गञ्च ज्वालिनं मातृरोदनम्।
कीर्तिताः परमेशेन रुरुणा परमेश्वरि॥

(२) यामल तन्त्र

९. ब्रह्मयामल	१२. रुरु	१५. रुद्र
१०. विष्णुयामल	१३. ······	१६. वैताल
११. स्वच्छन्द	१४. आथर्वण	

(३) मत—

१७. रक्त	२०. मत	२३. उत्फुल्लक
१८. लम्पट	२१. चालिका	२४. विश्वाद्य
१९. लक्ष्मीमत	२२. पिङ्गला	

(४) मङ्गलतन्त्र—

२५. पिचुभैरवी	२८. कला	३१. मङ्गला
२६. तन्त्रभैरवी	२९. विजया	३२. सर्वमङ्गला
२७. ब्राह्मी	३०. चन्द्रा	

(५) चक्राष्टक—

३३. मन्त्रचक्र	३६. कलाचक्र	३९. गुह्यचक्र
३४. वर्णचक्र	३७. बिन्दुचक्र	४०. खचक्र
३५. शक्तिचक्र	३८. नादचक्र	

(६) बहुरूप—

४१. अन्धक	४४. मूल	४७. ज्वालिन
४२. रुरुभेद	४५. वर्णभण्ट	४८. मातृरोदन
४३. अज	४६. विडङ्ग	

भैरवी चित्रिका चैव हंसाख्या च कदम्बिका ।
हृल्लेखा चन्द्रलेखा च विद्युल्लेखा च विद्युमान् ॥
एते वागीशभेदास्तु कपालीशेन भाषिताः ।
भैरवी तु शिखा प्रोक्ता वीणा चैव द्वितीयका ॥
वीणामणिस्तृतीया तु सम्मोहं तु चतुर्थकम् ।
पञ्चमं डामरं नाम षष्ठं चैवाप्यथर्वकम् ॥
कबन्धं सप्तमं ख्यातम् शिरश्छेदोऽष्टमः स्मृतः ।
एते देवि शिखाभेदा उन्मत्तेन च भाषिताः ॥
एतत्सादाशिवं चक्रमष्टाष्टकविभेदतः ॥

तंत्रालोक टीका, पृ० ४२–४३, प्र० आ०

(७) वागीश—

४९. भैरवी	५२. कदम्बिका	५५. विद्युल्लेखा
५०. चित्रिका	५३. हृल्लेखा	५६. विद्युमान्
५१. हंसा	५४. चन्द्रलेखा	

(८) शिखाष्टक—

५७. भैरवी	६०. सम्मोह	६३. कबन्ध
५८. वीणा	६१. डामर	६४. शिरश्छेद
५९. वीणामणि	६२. अथर्वक	

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि तन्त्रों की संख्या निश्चित नहीं है।

तन्त्र, सामान्य शास्त्रवाचक होकर भी विशेष तान्त्रिक ग्रंथों के अर्थ में ही क्यों रूढ़ हो गया, इसका उत्तर भी खोज लेना कठिन नहीं है। विविध क्रियाकलाप, उपासना, योग तथा देवताओं के यांत्रिक, मांत्रिक एवं पुरुषविध आदि स्वरूपों के एकत्र विस्तृत समावेश को लेकर ही सम्भवतः इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में तंत्र यह आख्या प्ररूढ़ हो गई।"

आश्वलायन एवं कात्यायन श्रौत सूत्रों में कहा गया है—कर्मात्मक अङ्गों की संहति ही तन्त्र है, अर्थात् आरात् उपकारक कर्मों का सकृत्[1] अनुष्ठान ही तन्त्र के नाम से कहा जाता है।

दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः तन्त्रस्य तत्राम्नातत्वात्। १।१।३

आश्वलायन-श्रौतसूत्र।

तन्त्रमङ्गसंहतिः—कर्काचार्य

कर्मणां युगपद्भावः तन्त्रम् १।७।१ कात्यायन-श्रौतसूत्र

यत्र प्रधानकर्मणां युगपद्भावः सह प्रयोगः तत्र आरादुपकारकाणां अङ्गानां तन्त्रं सकृदनुष्ठानं भवति। न प्रतिप्रधानं पृथक्-पृथक्, यदि सकृत्कृतं बहूनां उपकरोति तत्तन्त्रमित्युच्यते। यथा बहूनां मध्ये कृतः प्रदीपः। —कर्काचार्य

यजुर्वेद[2] में तन्त्रायी शब्द का आदित्य के अर्थ में प्रयोग हुआ है। कालचक्र ही तन्त्र है उस तन्त्र में वर्तमान आदित्य को ही तन्त्रायी कहा जाता है।

---

१. अनेकोद्देश से सकृत्प्रयोग के अर्थ में तंत्र का प्रयोग याज्ञवल्क्य स्मृति में भी मिलता है :—"द्वौ दैवे प्राक् त्रयः पित्र्ये उदगेकैकमेव वा। मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदैविकम्। याज्ञ०। पितृश्राद्धे मातामहश्राद्धे च वैश्वदैविकं तन्त्रेण कार्यमिति। मिताक्षरा।

२. तन्त्रायिणे नमः। अध्याय ३८, कं० १२

"तन्त्रे कालचक्रे एति निरन्तरं गच्छति तन्त्रायी तस्मै आदित्याय नमोऽस्तु। एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष ह्येमाँल्लोकाँस्तन्त्रमिवानुसञ्चरति" ।१४।२।२।२२ इति श्रुतेः । —वेददीप

उन्नीसवें अध्याय की अस्सीवीं कण्डिका में भूषणविशेष वस्त्र तथा यज्ञ के अर्थ में भी तन्त्र[1] शब्द का प्रयोग मिलता है।

ऋग्वेद, दसवाँ मण्डल, इखत्तर सूक्त की नवीं ऋचा में 'वाक्प्रपञ्च'[2] अथवा 'ताने बाने' के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार आगम शब्द में जहाँ परम्परा प्राप्त प्रसिद्ध के निबन्ध का बोध होता है वहीं तंत्र द्वारा उसके बहुमुखी वितान का निर्देश भी।

तांत्रिक ग्रंथों में अनंत ऐहिक कामनाओं एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए मन्त्रों को अनिवार्य तथा महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। मंत्रों में निहित इस महनीयता के पीछे कौन-सी शक्ति कार्य करती है इसका सम्पूर्ण विज्ञान तंत्रों में ही पाया जाता है। मंत्र-विज्ञान की यथार्थता का आकलन न कर पाने के कारण ही सामान्य जनों की, मंत्रों के सम्बन्ध में उदासीनता एवं उपहासपरता स्वाभाविक है। मंत्रों की सङ्घटना, वर्णों के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। अतः मन्त्रों के स्वरूप की आलोचना में वर्णों की उपेक्षा करके आगे बढ़ना सम्भव नहीं। वर्ण[3] पृथक्रूप में तथा वर्णमाला अपने समुदितरूप में मंत्रस्वरूप ही है ऐसी तंत्रों की मान्यता है। मनुष्यों ने व्यवहार सौकर्य के लिए वर्णों की कल्पना की अथवा उनका कोई नित्य वैज्ञानिक स्वरूप है—इस विवाद के लिए तंत्रों में स्थान ही नहीं है। मनुष्य की आकृति या शरीर नामक संस्था में जन्म से ही वर्णों की सूक्ष्म संस्थिति रहती है। तथा इन वर्णों—आहत ध्वनियों के समाहारक अनाहत नाद अथवा प्रणव का सतत घोष भी वहीं होता रहता है। ये समस्त वर्ण उसी एकाक्षर रविरूप अव्याकृता वाक् से क्षरित होते हैं। यह अव्याकृता वाक् पराची अपर प्रणवरूप है। यह गतिशील जीवन स्पन्दन है। इससे परे परप्रणवरूप पर-

---

१. सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञं सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्।
—माध्यन्दिनसंहिता

२. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञया।।—ऋग्वेद

३. सर्वेऽपि वर्णाः केवलाः संयुक्ताः समुदिता अपि सर्वार्थसाधका मंत्रा एवेति।
प्रयोगक्रमदीपिका (प्रपञ्चसारतंत्रटीका), तृ० पटल

शब्दात्मक कुण्डलिनी की स्थिर घनावस्था है जो जीवन का मूल है। वर्ण रश्मियों के सहारे अपर प्रणवात्मक पराग्वर्ती अव्याकृता वाक् में निमग्न होकर—रवि मण्डल को भेद कर—साधकगण परशब्दरूप कुलकुण्डलिनी शक्ति की महामञ्जूषा को उद्घाटित करके धन्य हो जाते हैं।

मूल या परशब्द ही महाशक्ति है जो अगणित अर्थों के समाहारात्मा ब्रह्म या भूमा को अपने अन्तःस्तर में छिपाये रहती है। यह शब्दात्मक शक्ति और अर्थात्मक शिव ही महामिथुन या दिव्यदम्पति हैं जिनके द्वारा विविध वैचित्र्य-मय विश्व एवं शरीर संस्थाओं का अहरह निर्माण होता रहता है। शब्द, रूपों—अर्थों का महाअयन है, यह वह कामगवी है जिसकी शरण में आकर पुनः परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता। प्राणों के प्ररूढ़ मल को क्षालित करके ये वर्णरश्मियाँ उसके स्वाभाविक शक्ति स्रोत को उद्घाटित कर देती हैं जिससे प्राणी का सहज समृद्धि सम्भार उन्मिषित हो उठता है। तन्त्रों में वर्णों एवं उनके चरम स्वरूप को मातृका कहने का यही रहस्य है कि वे अज्ञात दशा में प्राणी को, वाचकशब्दानुवेध द्वारा शोक-स्मय-हर्ष-राग आदि रूप धारण करके बन्धन में डालती है और ज्ञात होने पर यही सिद्धमाता का कार्य करती हैं।

प्रत्येक वर्ण का अपना रंग, रूप, आयुध, वाहन, शक्ति, ऋषि, छन्द आदि होते हैं। वर्णों की आकृति का विस्तार हजारों और करोड़ों योजनों की सीमा में पाया जाता है। यह बिस्तार अतिरञ्जित तथा काल्पनिक नहीं है। वर्ण के अन्तराल में अवस्थित पुरुष अथवा देवता, उसका पिण्ड अथवा मूर्ति तथा मण्डल सम्बन्धी विस्तृत सीमा का योजनों में आकलन विज्ञान-सम्मत है। ऐसे शक्तिशाली वर्णभट्टारकों तथा उनसे सङ्घटित मन्त्रों के ऐश्वर्य के प्रति अनास्था अज्ञानमूलक है। प्रकृत प्रबन्ध में तन्त्रों की पूर्वोक्त परम्परा के आधार पर मन्त्रों और मातृकाओं के रहस्योद्घाटन का प्रयास किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

आगम समुच्चय–१

सम्पूर्ण विश्व के अन्तराल में अवस्थित अगणित प्रमेयरूप अर्थ किसी न किसी शब्द अथवा पद द्वारा बोधित होते हैं। इसीलिए उन्हें पदार्थ कहा जाता है। शब्दानुवेध के बिना वस्तुरूप अर्थ की गति नहीं। इन्हीं पदार्थों को लेकर जागरावस्था में जो वाग्व्यवहार देखा जाता है, कर्णगोचर शब्द की यह अत्यन्त स्थूल दशा है। तांत्रिकों ने चेतनतत्त्व को पाँच स्तरों में देखा था :— १. जागर, २. स्वप्न, ३. सुषुप्ति[1], ४. तुरीय और ५. अतितुर्य[2]। शब्द की भी जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थाएँ होती हैं। तुरीय शब्द ही शब्दब्रह्म है जिसका अतिक्रम करके अतितुर्य अथवा परब्रह्म पद की प्राप्ति होती है। परब्रह्म ही परमशिव है।

शब्द का सघोष और अघोष बाह्य व्यवहार उसकी जागरावस्था है। समष्टिरूप में हम इसे विराट् शब्द कह सकते हैं। दूसरों से श्रूयमाण शब्द सघोष या वाचिक शब्द है। अघोष अथवा उपांशु स्वयं श्रुत होता है दूसरों के द्वारा नहीं। 'उपगताः स्वसमीपमेव प्रविष्टा अंशवः प्रसरा यस्य सः उपांशुः (ई० प्र० वि० वि० अ० १ वि० ५, पृ० १८८) जाग्रत दशा में सर्वत्र सघोष और अघोषात्मक वाग्व्यापाररूप शब्दानुविद्धता प्रधानरूप से दिखाई देती है।

---

१. द्रष्टव्य वरिवस्यारहस्य, पृ० २३

इन्द्रियदशकव्यवहृतिरूपा या जागरावस्था। ३७।

\+ \+ \+

अन्तःकरणचतुष्कव्यवहारः स्वाप्निकावस्था। ३८।

\+ \+ \+

आन्तरवृत्तेर्लवतो लीनप्रायस्य जीवस्य।

वेदनमेव सुषुप्तिः.................................। ३९।

तुर्यावस्था चिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम्। ४०।

\+ \+ \+

आनन्दैकघनत्वं यद्वाचामपि न गोचरो नृणाम्।

तुर्यातीतावस्था..............................। ४१।

वारिवस्यारहस्य, प्र० अंश

२. प्रपञ्चसारतन्त्र के टीकाकार पद्मपादाचार्य ने स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सामान्य और साक्षी के नाम से इन पाँचों का उल्लेख किया है, पृ० २।

यह स्थूल शब्द वैखरी वाणी के नाम से कहा जाता है। विखर अर्थात् शरीर में उत्पन्न होनेवाली—शरीरेन्द्रियपर्यन्त चेष्टा-सम्पादक वाणी ही वैखरी वाणी है। "विखरः शरीरं, तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासम्पादिकेत्यर्थः।" ई० प्र० वि० वि० अ० १, वि० ५, पृ० १८७।

वैखरी, स्थूल, सूक्ष्म और परभेद से तीन प्रकार की है। स्फुट वर्णों की उत्पत्ति में जो कारण है वह स्थूल वैखरी है पद वाक्यादि उसके अनेक कार्य हैं।

या तु स्फुटानां वर्णनामुत्पत्तौ कारणं भवेत्। २४४।
सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्यं वाक्यादिभूयसा। ३ आ०।

—तन्त्रालोक।

विवक्षात्मक[1] अनुसन्धान को सूक्ष्म वैखरी कहते हैं। अनुपाधिमान्[2] चिदात्मक स्वरूप ही वैखरी का पररूप है। वैखरी को क्रियाशक्ति कहा जाता है। यद्यपि अस्फुट क्रियाशक्ति अपनी बीजावस्था-परमाकला दशा में रहती है किन्तु यहाँ वैखरी दशा में वह स्फुटरूप ग्रहण करती है। वामकेश्वर तंत्र के अन्तर्गत नित्या षोडशिकार्णव के अनुसार परमाशक्ति अथवा त्रिपुरा या परावाक् जब स्वनिष्ठ स्फुरता का ईक्षण करती है तभी, विश्व का उदय होता है।

यथा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य सम्भवः॥ ६॥

—नित्याषोडशिकार्णव वि० ६

परमाशक्ति के ईक्षण में न केवल इच्छा किन्तु ज्ञान और क्रिया भी सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है। सेतुबन्ध[3] में योगिवर भास्करराय ने इसको पूर्णतया स्पष्ट किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी क्रिया को विमर्शात्मिका स्वीकार करते हुए कहा है कि वह (क्रिया) मूलभूमि में संवेदन का ही अवलम्ब ग्रहण करती है अतः क्रिया ज्ञान की पुच्छभूत है।

---

१. तन्त्रालोक, तृ० आ०, श्लोक २४६

२. वही, श्लोक २४७

३. वस्तुतस्तु तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति श्रुतावीक्षणस्य बहु स्यामित्याकारकताप्रदर्शनात्प्राथमिकी वृत्तिरिच्छाज्ञानोभयरूपा।...किं बहुना तत्तमोऽकुरुतेत्यादि श्रुत्यन्तरपर्यालोचनया सैव च कृतिरूपाऽपि।......एतेन स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतिरप्युपपद्यते। तत्र बलशब्दस्येच्छापरत्वेन प्राचीनैर्व्याख्यानात्।.........तेनेच्छया स्फुरत्तां पश्येदिति पदत्रयेणेच्छाकृतिज्ञानानामैक्यध्वननात् इच्छादित्रयसमष्टिरूपशान्तादेवीस्वरूपमीक्षणमित्युक्तं भवति।
सेतुबन्ध, पृ० १८६–८७

"सा हि क्रिया मूलभूमौ संवेदनमेव अवलम्बते विमर्शरूपत्वात् ।" "तथैव परं प्रति जिज्ञापयिषुः प्राणे स्फुटीभूता वैखरी । शरीरे तु स्पन्दनरूपा क्रिया । इयति च सर्वत्र विमर्शरूपतैवानुगता ।" "यत एव ज्ञानस्यैव क्रिया पुच्छभूता" ।

(ई० प्र० वि० वि० अ० १ वि० १, पृ० १०५)

"विमर्शरूपानधिकस्वभावा हि समस्ता क्रियेत्युक्तम्" ।

वही अ०१, वि०५, पृ० १८८

वैखरीरूप स्थूल वाक्, कारणबिन्दु से कार्यबिन्दु तथा नादात्मक मूल, अंकुर, और प्रसररूपों को पार करके बिन्दुरूप में पुनः परावर्तनात्मक संहार दशा का बोध करानेवाली है । अतः इसे रौद्री शक्ति भी कहा जाता है । प्रकाशांशरूप रौद्री और विमर्शांशरूप क्रिया का मेल ही वैखरी वाणी है । यहीं आकर विश्व चक्र के ठाठ या तंत्ररूप त्रिकोण का संघटन होता है । इसीलिए वैखरी को भी उज्ज्वल **शृङ्गाटवपु** (सिंघाड़े का आकार) की आख्या मिली है ।

तत्संहृतिदशायां तु बैन्दव रूपमास्थिता ।। ३९ ।।
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैव शृङ्गाटवपुरुज्ज्वला ।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ।। ४० ।।

योगिनीहृदय

सुप्रसिद्ध बिन्दु, नाद और बीज—इस त्रयी में वैखरी वाक् को बीज कहा जाता है । परावाक्रूप[1] शब्दब्रह्म, हृदय से मुख पर्यन्त, वायु के द्वारा कण्ठादि स्थानों में अभिव्यक्त होकर अकारादि वर्णरूप ग्रहण करके श्रोत्र ग्राह्य स्पष्टतर प्रकाशरूप स्थूल भाव धारण करता है । विराट् पुरुष और इस स्थूल वैखरी वाक् की एकता है । **"ननु शब्दार्थयोस्तादात्म्यस्यैव शक्तिपदार्थत्वान्निर्गुणस्यापि ब्रह्मणः शब्दब्रह्माभिन्नत्वेन किमिति तत्र सत्यादि शब्दानां लक्षणेत्याशङ्क्य वैखर्यात्मकपदानां विराट्पुरुषेणैव सह तादात्म्येन शुद्धब्रह्मतादात्म्यं नास्त्यैवेति समाधित्सया वाचं विभजते"** । सौ० भास्कर, पृ० ९८–९९

---

१. अथ तदेव वदनपर्यन्तं तेनैव वायुना कण्ठादिस्थानेष्वभिव्यज्यमानमकारादि-वर्णरूपपरं श्रोत्रग्रहणयोग्यस्पष्टतरप्रकाशरूपबीजात्मकं सद्वैखरी वागुच्यते ।

सौभाग्यभास्कर, पृ० ९९

अथ विराड्रूपिणीं बीजात्मिकां हृदयादास्यान्तं अभिव्यज्यमानां शब्द-सामान्यात्मिकां वैखरीमाह वक्त्र इति । विशेषेण खरत्वात् वैखरी ।

पद्मपादाचार्यकृत-विवरण, पृ० ३३ प्रपञ्चसारतन्त्र-टीका ।

वक्त्रे वैखर्यथ रुहदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्णा–
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसङ्घः ॥ ४३ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, द्वि० पटल

गौडपादरचित 'सुभगोदय' की टीका 'वासना' को उद्धृत करते हुए श्री पुण्यानन्दाचार्यकृत 'काम-कलाविलास' की टीका में कहा गया है—[1]परा भूमि बीजात्मक जन्मस्थानीय है, पश्यन्ती लतागुच्छ; मध्यमा सौरभ और वैखरी अक्षमाला है।

वैखरी का स्वरूप अभिलापात्मक है वह पञ्चदशाक्षरराशिमय एवं सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक शब्दों की आत्मा है।

वैखरी नाम अभिलापरूपिणी[2] पञ्चदशाक्षरराशिमयी सर्ववैदिकलौकिक-शब्दात्मिका शक्तिरित्युच्यते। कामकलाविलास टी० पृ० २४

यहाँ वैखरी को पञ्चदशाक्षरमय कहा गया है जब कि प्रसिद्धि पचास या एक्यावन अक्षरों की है। भास्करराय ने सौभाग्यभास्कर में देवी के स्थूल, सूक्ष्म और पर इन रूपों का निर्देश किया है। कर-चरणादि विशिष्ट स्थूल-रूप हैं, मन्त्रमय सूक्ष्म और वासनामय पररूप है। गङ्गादिक का जो जलादि-मयरूप है वह चतुर्थ स्थूलतर है। सूक्ष्म के भी तीन भेद हैं। १. सूक्ष्म, २. सूक्ष्मतर और ३. सूक्ष्मतम। तीनों को क्रमशः पञ्चदशाक्षरी विद्या, काम-कला और कुण्डलिनी समझना चाहिए। 'देव्यथर्वशीर्ष' में—

---

१. परा भूर्जन्म पश्यन्ती बल्लीगुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ॥ काम० क० वि, पृ २४

२. अभिलाप से यहाँ अभिप्राय वर्णात्मक शब्दों से ही है। वैसे अभिनव-गुप्त ने आन्तर शब्दात्मक सञ्जल्प को अभिलाप कहा है। "अभिलप्यते आभिमुख्येन विषयिविषयपरवशतात्यागेन बोधस्वातन्त्र्ये शब्देन च विषयस्य तादात्म्यापादनेन व्यक्ततया प्रमातृसाक्षात्कारपर्यन्ततया उच्यते परामृश्यते येन, सोऽभिलापः आन्तरशब्दलक्षणः सञ्जल्पः।" (ई० प्र० वि० वि० अ० २, वि० २, पृ० ११५) भर्तृहरि ने भी कहा है कि—जब पदार्थस्वरूप, शब्द के द्वारा आच्छादित या एकीकृत के सदृश प्रतीत होता है तो वह शब्द अभिजल्प कहलाता है। "सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद्रूपमेकीकृतं यदा। शब्दस्यार्थेन तं शब्द-मभिजल्पं प्रचक्षते।" वाक्यपदीय २।१३०। 'सः' इस अनुसन्धान में स्मृति, 'सोऽयं' इन अनुवेध में प्रत्यभिज्ञा, 'स इव अयं' इस अनुरोध में उत्प्रेक्षा, 'स एवायं' इस अनुयोग में व्यवच्छेद (विभाग)—ये विकल्प भेद भी अभिलापमूलक हैं। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति को 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना' में 'अभिलाप' से बाह्य और चिन्तनात्मक दोनों वाग्व्यापार अभीष्ट हैं।

कामो योनिः कमला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः ।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्योम् ।।

तथा सौन्दर्यलहरी में—

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः [1]
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः ।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम् ।। ३२ ।।

के द्वारा पञ्चदशाक्षरी विद्या का उद्धार किया गया है। यह विद्या अत्यन्त रहस्यमय है। इसे सोमसूर्यानलात्मक त्रिखण्ड मातृका-मंत्र कहा गया है। पन्द्रह अक्षरों वाली इस विद्या से सम्पूर्ण पचास मातृका-वर्णों का ग्रहण हो जाता है। लक्ष्मीधर ने उपर्युक्त श्लोक की टीका में कहा है :—

शिव, शक्ति, काम और क्षिति यह आग्नेयखण्ड है। रवि, शीतकिरण, स्मर, हंस, शक्र—यह वर्ण-पञ्चक सौरखण्ड है। दोनों खण्डों के बीज रुद्रग्रन्थि स्थानीय हृल्लेखा बीज है। परा, मार और हरि इस वर्णत्रयी से सौम्यखण्ड का निरूपण किया गया है। सौम्य और सौरखण्ड के मध्य में विष्णुग्रन्थि-स्थानीय भुवनेश्वरी-बीज स्थापित है। चौथा एकाक्षर चन्द्रकलाखण्ड है। सौम्य और चन्द्रकलाखण्ड के मध्य में ब्रह्मग्रन्थिस्थानीय हृल्लेखा-बीज है। सौम्य, सौर और अनलात्मकता के अतिरिक्त—ज्ञान, इच्छा और क्रिया; जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; विश्व, तैजस और प्राज्ञ; तम, रज और सत्त्व—इन त्रिरूपों में भी खण्ड-विभाग समझना चाहिए। रमा[2] बीजात्मक चन्द्रकलाक्षर-संयुक्त पंचदशाक्षरी विद्या में, सोलह चन्द्रकलाएँ, सूर्य की चौबीस और अग्नि की दश कलाएँ आ जाती हैं। ये पचास कलाएँ ही मातृका-वर्ण हैं और पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के अन्तर्भूत हैं—

"षोडशेन्दोः कला भानोः द्विर्द्वादश दशानले ।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी ।

---

१. पञ्चदशाक्षरी विद्या

१ खण्ड क, ए, ई, ल, ह्रीं
२ ,, ह, स, क, ह, ल, ह्रीं
३ ,, स, क, ल, ह्रीं

इसके लिए द्रष्टव्य वरिवस्यारहस्य, नित्याषोडशिकार्णव तथा सेतुबन्ध।

२. श्रीं—यह षोडशी कला है इसी बीज को श्रीविद्या कहते हैं। आचार्य लक्ष्मीधर ने इसी के लिए लिखा है कि—"चन्द्रकलाखण्डं तु गुरूपदेशादवगन्तव्यम्"। श्रीरङ्गम् संस्करण, पृ० ११९ सौन्दर्यलहरी।

"एता: पञ्चाशत्कला: पञ्चाशद्वर्णात्मिका: पञ्चदशाक्षरीमन्त्रे अन्तर्भूता: । तथा आदिमेन ककारेणान्तिमो लकार: प्रत्याहृत: तन्मध्यवर्तिनां वर्णानां ग्राहक: । अयमेव लकार: एकारपूर्ववर्तिना अकारेण प्रत्याहृत: पञ्चाशद्वर्णग्राहकः । लक्ष्मीधरा टीका, पृ० १२१ श्रीरङ्गमसंस्करण

इस विद्या में आये हुए ककारादि वर्ण—षोडश स्वर और तिथिरूप त्रिपुरसुन्दरी आदि[1] नित्याओं के प्रकृतिभूत हैं । पञ्चदशाक्षरीविद्यागत—कलात्मक[2] प्रत्याहार से किस प्रकार पचास वर्णों का संग्रह होता है यह अग्रिम विवरण से स्पष्ट हो जायगा । वस्तुत इस विद्या में 'क' से लेकर 'ल' पर्यन्त कला शब्दवाच्यता को गौण समझना चाहिए । क्योंकि व्यंजन, स्वरों के अङ्गरूप ही होते हैं । कलाओं (व्यञ्जनों) में स्वर की प्रधानता है—इस प्रकार गुणप्रधान भावप्रदर्शन के लिए इसमें दो प्रत्याहारों का आश्रय लिया गया है जो सनत्कुमार आदि को अभीष्ट है और उनकी संहिता में प्रतिपादित है । दूसरे प्रत्याहार 'अल्' से सभी वर्ण गृहीत होते हैं क्षकार क–ष का समुदित रूप है । इतना संकेत प्रकृत प्रसङ्ग में पर्याप्त होगा । पुण्यानन्द ने इन सभी बातों को दृष्टि रखते हुए वैखरी[3] को पञ्चदशाक्षरमयी कहा है ।

वैखरी वर्णों का वासनात्मक सूक्ष्मरूप ही मध्यमा वाणी है । वैखरी में वर्ण स्थूल होते हैं यहाँ वर्ण सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहते हैं । मध्यमा वाक् हिरण्यगर्भ शब्द है । इसकी तांत्रिकी संज्ञा नाद भी है । पूर्वोक्त शब्दब्रह्म वायु-के द्वारा नाभि से हृदयपर्यन्त अभिव्यक्त होता हुआ निश्चयात्मिका बुद्धि से युक्त होकर विशेष स्पन्द प्रकाशरूप नादमय वाक् के नाम से कहा जाता है । इसमें विद्यमान प्रकाशांश[4] को ज्येष्ठाशक्ति और विमर्शांश को ज्ञानशक्ति कहते हैं । शब्द संसार की स्थापना मध्यमा द्वारा ही होती है । मध्यमा वाणी

---

१. महात्रिपुरसुन्दरी, कामेश्वरी, भगमालिनी नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महाविद्येश्वरी (महावज्रेश्वरी) शिवदूती, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नित्या, नीलपताका, विजया, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनिका, चित्रा ।

द्रष्टव्य नित्याषोडशिकार्णव प्र० विश्राम, श्लोक २७,२८,२९ ।

२. द्रष्टव्य सौन्दर्यलहरी की टीका लक्ष्मीधरा श्लोक ३२ ।

३. वैखरी शब्द की अन्य भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियों के लिए द्रष्टव्य अध्याय ४ ।

४. प्रकाशस्यांशभूता वामाज्येष्ठारौद्रय: शक्तियस्तिस्रो ब्रह्मविष्णुरुद्रा: पुंरूपा: । तत्समष्टि: शान्तात्मिका शक्तिस्तुरीया । विमर्शस्यांशभूता: इच्छा-ज्ञानक्रिया: । वरिवस्या०, पृ० ४२

की संघटक शक्तियाँ है :—विष्णुपर्याय ज्येष्ठा शक्ति तथा विष्णुशक्ति पृथिवी के पर्यायस्वरूप ज्ञानशक्ति। इसीलिए वह वाणी विश्व स्थिति में कारण बनती है। महात्रिकोण में यह ऋजु रेखा का कार्य करती है।

ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता।
ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा ॥ ३८ ॥

नित्याषोडशिकार्णव ६ विश्राम

पद्मपदाचार्य ने मध्यमा[1] शब्द की व्युत्पत्ति 'मध्ये मा बुद्धिर्यस्याः सा' (प्रपञ्चसा० त० विवरण) इस प्रकार की है। वे कहते हैं–'मध्यमा वाणी[2] बाह्य अन्तःकरणाद्यात्मक है; यह हिरण्यगर्भरूप बिन्दुतत्त्वमय, नाभि से लेकर हृदय-पर्यन्त स्थान में जिसकी अभिव्यक्ति होती है तथा विशेष स्पन्दसङ्कल्पादिरूप है। भास्करराय इसे नादमयी[3] कहते हैं और आचार्य पद्मपाद बिन्दुमयी। वस्तुतः बिन्दुमयी कहना विचारणीय है क्योंकि इस प्रकार—"स बिन्दुनाद-बीजत्वभेदेन च निगद्यते।" (प्रपञ्चसा० प्र० पटल ४३ श्लोक) इस मूल सन्दर्भ से विरोध पड़ता है। शारदातिलक तंत्र के प्रथम पटलगत एक सौ नवें श्लोक की व्याख्या में राघवभट्ट ने मध्यमा को 'नादबिन्दुमयी'[4] लिखा है और साथ ही किसी अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ को भी उद्धृत किया है जिसमें 'नाद-रूपिणी'[5] का ही उल्लेख है। किन्तु 'शारदातिलक' के मूल में कहा गया है—'**बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः**' ॥ ८ ॥ प्रथम पटल। पर्याप्त अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यहाँ (इस श्लोक में) क्रम

---

१. मध्ये स्थिता मध्यमा। तदुक्तं—
'पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि वैखरीव बहिः।
स्फुटतरनिखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा तयोरस्मात् ॥

सौ० भा०, पृ० १००।

२. अथ बाह्यान्तःकरणाद्यात्मिका हिरण्यगर्भरूपिणीं बिन्दुतत्त्वमयीं नाभ्यादि-हृदयान्ताभिव्यक्तिस्थानविशेषस्पन्दसङ्कल्पादिसतत्त्वात् मध्यमां वाचमाह।

प्र० सा० तन्त्र टीका, पटल २, पृ० ३३

३. अथ तदेव शब्दब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्च-यात्मिभया बुद्धचा युक्तं विशेषस्पन्दप्रकाशरूपनादमयं सन्मध्यमा वागित्युच्यते।
(भास्करराय सौभा० भा० पृ० ९९)

४. पृ० ६१ आगमानुष्ठानसमिति संस्करण।

५. सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी।

राघवभट्ट, प्र० पटल, पृ० ९०

अविवक्षित है[1] अथवा दृष्टिभेद ही इसमें कारण है। यहाँ यह ध्यान रहना चाहिए कि बिन्दु पश्यन्ती और नाद मध्यमा का बोधक है। किन्तु ये नाद-बिन्दु कार्यरूप हैं। कारणात्मक नादबिन्दु की चर्चा आगे की जायगी।

'एतौ नादबिन्दू प्रथमोक्तनादबिन्दुभ्यामन्यौ तत्कार्यरूपौ ज्ञेयौ।
तदुक्तं—स बिन्दुर्भवति त्रिधा।

राघवभट्ट, प्रथम पटल, पृ० १७

सत्य तो यह है कि मध्यमा को नाद और ध्वनि आदि पदों से बोधित किया जाता है। मध्यमा के दो भेद होते हैं—प्रथम सूक्ष्म और द्वितीय स्थूल। सूक्ष्म से ही स्थूल का उद्भव होता है।

द्विविधा मध्यमा सा सूक्ष्मस्थूलाकृतिः स्थिता सूक्ष्मा।
नवनादमयी स्थूला नववर्गात्मा च भूतलिप्यात्मा॥ २७॥
आद्या कारणमन्या कार्यं त्वनयोर्यस्ततो हेतोः।
संवेयं नहि भेदस्तादात्म्यं हेतुहेतुमदभीष्टम्॥ २८॥

कामकलाविलास

सूक्ष्म नवनादमय है, स्थूल नववर्गात्मक तथा भूत लिपिस्वरूप है। नवनाद निम्नाङ्कित है :—

१. चिणि	४. शङ्खनाद	७. वेणुनाद
२. चिणिचिणी	५. तन्त्रीनाद	८. भेरीनाद
३. घण्टानाद	६. तालनाद	९. मृदङ्गनाद[2]

ये नाद सामान्य श्रोत्रग्राह्य नहीं हैं योगियों द्वारा इनका अनुभव किया जाता है। **"तत्र सूक्ष्मा समाधिबलेन अनुभूयमाना"**। का० पृ० ३१। नवनादों की समष्टि को ही भास्करराय ने मध्यमा कहा है। यह परावाणी के सदृश न तो अत्यन्त सूक्ष्म है और न वैखरीवत् अत्यन्त स्थूल। अतः इसे मध्यमा कहा जाता है[3]।

---

१. आचार्य पद्मपाद ने 'अकचटतपाद्यैः'—इस प्रपञ्चसार के आदिम श्लोक की व्याख्या में भी मध्यमा को बिन्दुरूप और पश्यन्ती को नादात्मक लिखा है।　　　　पृ० ४–५ आगमानुष्ठान स० सं०

२. द्रष्टव्य कामकलाविलास, पृ० ३२

३. ततो नव नादाः अविकृतशून्यादयो जाताः तत्समष्टिश्च नादध्वन्यादि-पदवाच्या नातिसूक्ष्मा परावन्नातिस्थूला वैखरीवदतो मध्यमाख्या मातृका मध्य-मावयवरूपमविकृतशून्यस्पर्शनादध्वनिबिन्दुशक्तिबीजाक्षराख्यं नादनवकं मूला-धारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम्।

वरिवस्यारहस्य अंश १. पृ० १७

पूर्वोक्त नव नादों से ही सूक्ष्म अ, क, च, ट, त, प, य, श, ल स्वरूप नव-वर्गात्मा स्थूल मध्यमा का जन्म होता है। इससे ही पुनः स्थूल अ, क, च आदि वर्णात्मा वैखरी जन्म ग्रहण करती है। कामकलाविलास की टीका में 'भूत-लिप्यात्मा' का अर्थ—"**भूताश्च ते लिपयश्च भूतलिपयः, अत्र लिपीनां भूतत्वं चेष्टाविशेषाक्षरन्यासाभिव्यङ्ग्यत्वम्।" तच्च कल्पनामात्रमेव—अक्षराणां तेजोरूपात्मकत्वात्।**" (पृ० ३२) किया गया है। इससे चित्रलिपि का संकेत मिलता है।

स्वच्छन्द[१] तन्त्र में नाद, जो स्वयं अव्यक्त ध्वनिरूप है, आठ भेदों में व्यक्त है, ऐसा कहा गया है।

१. घोष, २. राव, ३. स्वन, ४. शब्द, ५. स्फोट, ६. ध्वनि, ७. झाङ्कार, ८. ध्वङ्कृति—ये आठ व्यक्त नाद हैं। व्यक्त शब्द से लौकिक अभिव्यक्ति नहीं समझना चाहिए। इसी बात को, स्वच्छन्दोद्योत में 'धर्मशिवाचार्य' की पद्धति को उद्धृत करते हुए आचार्य क्षेमराज ने स्पष्ट किया है। वे कहते हैं :—

"कर्ण[२] और अङ्गुलि के सहयोग से दीप्त वह्निजनित शब्द के सदृश, सुना जानेवाला शब्द ही घोष है। उस घोष के अनन्तर काँसे के टूटने के तुल्य जो रूक्ष शब्द सुनाई देता है वही 'राव कहा जाता है। राव के परे बांस की ध्वनि के समान तथा निर्वातप्रदेश में सौम्यवर्षा के अनुरूप नाद ही

---

१. अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥ ६ ॥
झाङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीतिता।
नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापदः स्मृतः ॥ ७ । स्व० ११ पटल

२. श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः सम्प्रवर्तते।
दीप्तवह्निस्वनाभासः सः शब्दो घोष उच्यते ॥
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिणः।
भिन्नकस्यांनिभो रूक्षः स रावः स्यात्तदन्तगः।
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निवाते सौम्यवर्षवत्।
स नादः स्वप्न इत्युक्तस्तत्परः कथितो ह्यसौ।
चतुर्थः स तु वै शब्दः सर्वशब्दभवारणिः।
आत्मानं रावयन्नादः खे यथा भ्रमरीरवः।
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासकः।
स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्तृभिस्ततः ॥
स्व० उद्योत, पटल ११, पृ० ९

स्वन शब्दवाच्य है। आकाश में भ्रमरी रव के समान सम्पूर्ण शब्दों की जन्म-भूमिरूप नाद को 'शब्द' की संज्ञा दी गई है। वाक्य को स्फुटरूप से अवगत करानेवाला, वर्णभेद का अवभासक नाद ही स्फोट है।

श्रोत्र[1] को सुखद, अतितानधर्मी नाद को ध्वनि कहते हैं। विपञ्ची (वीणा) के पाँचवें तार के आघात से जैसा शब्द होता है ठीक वैसी ही ध्वनि होती है।

वीणा के सम्पूर्ण तारों के आहत होने पर जैसा स्तब्ध और मृदु निनाद होता है झाङ्कार में भी वैसा ही देखा जाता है।

चढ़े हुए मेघों की ध्वनि के समान, घण्टानाद का अनुकरण करनेवाला ध्वङ्कृत कहा गया है।

ये आठ प्रकार के नाद उस नवम महानाद के भेदमात्र हैं जो सर्वत्र व्यापकरूप से विद्यमान है। नादतत्त्व का पारिभाषिक विवेचन आगे किया जायगा।

स्थूल[2], सूक्ष्म और परभेद से मध्यमा पुनः तीन प्रकार की होती है।

१. **स्थूल मध्यमा**—चमड़े से मढ़े हुए मृदंगादि में कराघात द्वारा जनित ध्वनि, स्थूल मध्यमा वाणी का विलास है। यह ध्वनि पश्यन्ती गत स्थूलता की अपेक्षा स्फुट होती है और वर्णादि विभाग के न होने से अस्फुट रूप भी। यही कारण है कि इसे मध्यमा शब्द द्वारा बोधित किया जाता है। अविभक्त स्वरमय होने के कारण इसमें अनुरञ्जकता रहती है। तालात्मक अविभाग रूप वादन में लोगों के परितुष्ट करने की शक्ति होती है। यह परितोष, स्थूल मध्यमा के द्वारा लोक में अनुभूत होता है।

२. **सूक्ष्म मध्यमा**—वादन की इच्छा के अनुसन्धान को सूक्ष्म मध्यमा कहते हैं। यह वाणी संवेदनामक मात्र होती है।

---

१. ततोऽतितानधर्मित्वान्नादः श्रोत्रसुखावहः।
विपञ्च्याः पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नतः॥
यथा व्यज्यत आकाशे स षष्ठो ध्वनिसंज्ञितः॥
सर्वतन्त्रीसमाघाताद्वीणायामिव साधु यः।
मृदुस्तब्धं निनदति झाङ्कारः सप्तमस्त्वसौ।
घण्टानिनादानुकृतिः कदाचिद्व्यज्यतेऽन्यथा।
तुङ्गमेघध्वनिनिभः सोष्टमो ध्वङ्कृतः स्मृतः।
—११ पटल, स्व० उद्योत, पृ० ९

२. यत्तु चर्मावनद्धादि किञ्चित्तत्रैष यो ध्वनिः। २४१
स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी॥ तन्त्रा० तृ० आ०

३. परमध्यमा—उपाधि (वादन की इच्छा) रहित चिदात्मक स्वरूप ही परमध्यमा वाणी है।

अक्रम शब्दब्रह्म, अर्थप्रतिपादन की इच्छा से, विवक्षा द्वारा उपलक्षित मनोविज्ञान का रूप ग्रहण करता है, बिन्दुनादसंज्ञक प्राणापानात्मक वायु के के क्रम से उल्लसित होने पर वही मध्यमा वाणी के नाम से कहा जाता है।

आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया।
मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥ ६।२। आ० शिवदृष्टि

भर्तृहरि ने **व्याकरणागम के 'वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैत-दद्भुतम्'। १४४।** वाक्य० प०। की व्याख्या में महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के अन्तर्गत ब्राह्मण[1] गीता को उद्धृत करते हुए कहा है:—

'बुद्धि जिसका उपादान है, क्रमरूपात्मा, प्राणवृत्ति से अतीत होकर मध्यमा वाणी प्रवृत्त होती है।'

उन्होंने इसका और स्पष्टीकरण किया है:—

अन्तःसन्निवेशयुक्त, क्रम न होने पर भी क्रम को ग्रहण किए हुए के सदृश, बुद्धिमात्र उपादान वाली, सूक्ष्म प्राणवृत्ति के पीछे रहने वाली, वाणी ही मध्यमा वाक् है। "मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मप्राणवृत्त्यनुगता" ।—पृ० ५६ वा० प० टीका

पुर्यष्टकात्मक,[2] प्राणशक्ति की आधारभूत-सुषुम्णा नाड़ी में विश्रान्त मन, बुद्धि और अहंकारात्मक अन्तःकरण को जो विमर्श शक्ति प्रेरित करती है वही मध्यमा वाणी है। उससे प्रेरित होकर अन्तःकरण, संकल्पन, निश्चय अभिमनन और विकल्पन रूप कार्यों में प्रवृत्त होता है। उस समय वह विमर्शमय वाणी, संकल्पात्मक ग्राह्य सङ्कल्पयितृरूप ग्राहक और—'मैं चैत्र, घट की कल्पना कर रहा हूँ"—इत्यादि वाचक शब्द के साथ, भेदयुक्त, स्फुट क्रम से उपरक्त होती है तब चिन्तन शब्द वाच्य वह, ज्ञानशक्ति एवं मध्यमा वाक् के नाम से कही जाती है।

अन्तःकरणं मनोबुद्ध्यहङ्कारलक्षणं मध्यभूमौ पुर्यष्टकात्मनि प्राणाधारे विश्रान्तं या विमर्शशक्तिः प्रेरयति, सा मध्यमा वाक्। तत्प्रेरितं च तदन्तः-करणं सङ्कल्पने, निश्चये अभिमनने च स्वस्मिन् व्यापारे विकल्पनलक्षणे प्रवर्तते। तत्काले सा विमर्शमयी वाक् सङ्कल्प्यादिकं ग्राह्यं सङ्कल्पयित्रादिरूपं

---

१. केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते। आश्वमेधिकपर्व०

२. पञ्चतन्मात्र, मन बुद्धि और अहङ्कार।

च ग्राहकं स्वेन अभिधानस्य—इमं घटमहं चैत्रः सङ्कल्पयामि—इत्यादेर्वाचकस्य शब्दस्य भेदेन स्फुटेन क्रमेण आभुङ्क्ते गाढं परामृशति यतस्ततश्चिन्तनशब्द-वाच्या मध्यभवत्वात् मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा ।

ई० प्र० विमर्शिनी, अ० १, विमर्श ५, पृ० १८८

पश्यन्ती वाक् ईश्वरतत्त्व है । मध्यमा को जहाँ माषशमिकोपमा (उड़द की छीमी के सदृश) क्रमात्मा होने पर भी ऐक्यभावापन्न कहा गया है, वहीं पश्यन्ती वाणी को वटधानिका (बीज) के तुल्य बताया गया है । तंत्रों में कार्यबिन्दु के नाम से इसी वाणी का उल्लेख मिलता है । कारण विन्दुस्वरूप, शब्दब्रह्म जब पवन प्रेरित होकर, नाभिदेश को प्राप्त होकर विमर्शात्मक मन से युक्त होता है तो उसे ही सामान्यस्पन्द प्रकाशरूप, कार्यबिन्दुमय पश्यन्ती वाक् की आख्या मिलती है ।

अथ तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन पवनेनाभिव्यक्तं विमर्श-रूपेण मनसा युक्तं सामान्यस्पन्दप्रकाशरूपकार्यबिन्दुमयं सत्पश्यन्ती वागुच्यते । सौभाग्यभास्कर, पृ० ९९

पश्यन्तीवाणी में अवस्थित प्रकाशांश को वामाशक्ति और विमर्शांश को इच्छाशक्ति कहते हैं । महासत्तात्मक पराशक्ति अपने गर्भ में स्थित बीजभावापन्न विश्व का कार्यरूप में बाह्य प्रसार करने को जब उद्यत होती है तो उसमें विश्ववमनकर्तृत्व रहने के कारण उसे वामाशक्ति कहा जाता है । इसका पर्याय ही ब्रह्मा है । महात्रिकोण की वामरेखा का उपलक्षक होने के कारण इसे अंकुशाकार कहा गया है । पितामह ब्रह्मा की शक्ति—भारती के पर्यायरूप इच्छाशक्त्यात्मक जनन सामर्थ्य इसमें विद्यमान रहता है । वामा और इच्छा का समाहार ही पश्यन्ती में देखा जाता है ।

बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी ।
वामा विश्वस्य वमनादङ्कुशाकारतां गता ॥ ३७ ॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता ॥

योगिनीहृदय

निर्विकार परा कला, जब स्रष्टव्य पदार्थों का आलोचन करती है तब 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ६–२–३) इस श्रुति के अनुकूल ईक्षणात्मक पश्यन्ती कही जाती है । करण-सरणि (मार्ग) से ऊपर उठकर समग्र प्रपञ्च को यह शक्ति अपने में ही देखती है इसीलिए इसको पश्यन्ती और उत्तीर्णा भी कहते हैं ।

पश्यतीति पश्यन्ती। अस्या एवोत्तीर्णेत्यपि संज्ञा। उक्तं च सौभाग्य-सुधोदये—'पश्यति सर्वं स्वात्मनि करणानां सरणिमपि युदुत्तीर्णा। तेनेयं पश्यन्तोत्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता।' सौभाग्यभास्कर पृ० १००

भास्करराय[1] ईक्षण, काम, तप और विचिकीर्षा शब्दों को समानार्थक मानते हैं अतः पश्यन्ती भी यही है। राजानक जयरथ[2] ने लिखा है कि परा परमेश्वरी ही अपने स्वातन्त्र्य से जब बाह्य रूपों को उन्मिषित करना चाहती है, तभी उसकी संज्ञा पश्यन्ती हो जाती है। उस समय वाच्य-वाचक का क्रम उदित नहीं होता, विभाग अस्फुट हीं रहता है। तत्काल चिज्ज्योति के प्राधान्य से उसकी द्रष्टृरूपता ही विद्यमान रहती है।

यह पश्यन्ती वाणी स्थूल, सूक्ष्म और पर भेद से तीन प्रकार की है :—

१. स्थूल-पश्यन्ती—षड्जादि स्वरों के मेल अथवा वर्णों के विभाग से रहित आलाप द्वारा माधुर्यातिशय या आह्लाद को प्रदान करने वाली प्राथमिक नादमात्र जिसका स्वभाव है ऐसी वाणी स्थूल पश्यन्ती है।

तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी। २३७।
सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागतः।

तं० तृ० आ०

२. सूक्ष्म-पश्यन्ती—जिगासा अथवा गाने की इच्छा का अनुसंधान ही पश्यन्ती का सूक्ष्म रूप है।

३. पर-पश्यन्ती—परचिदात्मक, उपाधिहीन रूप ही पर-पश्यन्ती है।

अस्मिन् स्थूलत्रये यत्तदनुसन्धानमादिवत्। २४५।
पृथक् पृथक् तत्त्रितयं सूक्ष्ममित्यभिधीयते।
षड्जं करोमि मधुरं वादयामि ब्रुवे वचः। २३६।
पृथगेवानुसन्धानत्रयं संवेद्यते किल।
एतस्यापि त्रयस्याद्यं यद्रूपमनुपाधिमत्॥ २४७॥
तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः। —तं० ३ आ०

भर्तृहरि ने स्वोपज्ञ टीका में पश्यन्ती के विविध भेदों का उल्लेख करते

---

१. ततः स्रष्टव्यपदार्थानालोचयति–'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुतेः। तादृशमीक्षणमेव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तस्यां पश्यन्तीति पदं प्रवर्तते।

—वरिवस्या० पृ० १७

२. सैव हि परमेश्वरी स्वस्वातन्त्र्यात् बहीरूपतामुल्लिलासयिषुर्वाच्यवाचक-क्रमानुदयाद्विभागस्यास्फुटत्वाच्चिज्ज्योतिष एव प्राधान्यात् द्रष्टृरूपतया पश्यन्तीति शब्दव्यपदेश्या। तन्त्रा० टी० तृ०, पृ० २२५

हुए उसका पर रूप भी माना है। ऐसा उनके 'परं तु पश्यन्तीरूपमनपभ्रंश-मसङ्कीर्णं लोकव्यवहारातीतम्' इस सन्दर्भ द्वारा तथा 'चलाचला, आवृता सन्निविष्टज्ञेयाकारा परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा, संसृष्टार्थप्रत्यवभासा' एवं साथ ही प्रतिलब्धसमाधाना, विशुद्धा, प्रतिलीनाकारा, निराकारा और प्रशान्त-सर्वार्थप्रत्यवभासा इन भेदों के द्वारा सर्वथा स्पष्ट है।

पुनः आश्वमेधिक पर्वगत ब्राह्मणगीता को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है :—

जिसमें वाच्यवाचक का विभाग नहीं है, क्रमरहित, स्वरूपज्योति अथवा स्वप्रकाश, अविनाशी सूक्ष्मवाक् ही पश्यन्ती है। नित्य आगन्तुक मलों से आकीर्यमाण होने पर भी चन्द्र की चरम कला के सदृश इसका अत्यन्त अभिभव नहीं होता। इसके स्वरूप का दर्शन हो जाने पर स्वर्गापवर्ग रूप अधिकार निवृत्त हो जाता है। षोडशकल पुरुष में इसे ही अमृता कला के नाम से कहा गया है।

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥
सैषाः सङ्कीर्यमाणाऽपि नित्यमागन्तुकैर्मलैः।
अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते॥
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥

वाक्यपदीय टीका, पृ० ५७

व्याकरणागम[1] में वाणी के तीन स्वरूपों की स्थापना मिलती है। पश्यन्ती ही परा स्थिति है इसी का वहाँ अनादिनिधन शब्दब्रह्म के नाम से उल्लेख किया गया है। आचार्य सोमानन्दपाद ने शब्दपरब्रह्माद्वयवाद का खण्डन करते हुए पश्यन्ती का निम्नांकित व्याकरण सम्मत स्वरूप बताया है :—

'ईश्वराद्वयवाद में जो ज्ञान-शक्ति अथवा सदाशिवरूपता है वही वैयाकरणों की पश्यन्ती है जिसे वे लोग परतत्त्व मानते हैं। यह अनादि अक्षय शब्दतत्त्व

---

१. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्ताश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्।

वाक्यपदीय, प्र० काण्ड १४३

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ १॥

वाक्यपदीय प्र० काण्ड

है, इसे पश्यन्ती संज्ञक परावाक् कहते हैं। वही शब्दब्रह्म सम्पूर्ण देहों में वर्तमान आत्मा है। ज्ञेयरूप शून्य चिन्मात्र उस शब्दतत्त्व को ही भोक्ता कहते हैं। यह दर्शन का निरतिशय स्थान अथवा पराकाष्ठा है। इन्द्रिय वृत्तियों से हीन, देश और कालकृत अवच्छेद से शून्य, क्रमात्मक संसार से रहित, अतएव ग्राह्य और ग्राहकात्मक आकार से वर्जित पश्यन्ती ही पराकाष्ठा, परमार्थ एवं परब्रह्म[1] है।'

आचार्य अभिनवगुप्त[2] ने पश्यन्ती, महापश्यन्ती तथा परम महापश्यन्ती की भी चर्चा की है। सदाशिवेश्वर दशा महापश्यन्ती है। 'गृहात् निःसरामि' आदि परामर्श, मायाप्रमातृ (जीव) गत पश्यन्ती का बोध कराते हैं। परममहापश्यन्ती ही परा वाक् है। पश्यन्तीवाणी में, ग्राह्य और ग्राहकगत अभिधान और अभिधेय का देश और कलाकृत क्रम, स्फुट रूप से नहीं रहता। क्योंकि पश्यन्ती दशात्मक विमर्श, निर्विकल्पक स्वभाव वाला होता है। स्वयं अक्रम होने के कारण अविभक्त, एवं अन्तर्लीन, क्रमात्मक विभाग को आच्छादित करके अवस्थित रहता है। ग्राह्य और ग्राहक से उत्पन्न क्रम इसके द्वारा अथवा इसमें अन्तःसङ्कुचित रहता है, अतः इसे प्रतिसंहृतक्रम कहते हैं। 'सरः' 'रसः' आदि पदों तथा 'देवदत्त तुरग' आदि वाक्यों का क्रम-सङ्कोचनात्मक पिण्डीकरण जिसके द्वारा सम्पन्न होता है वह पदवाक्यात्मक अभिजल्प (शब्दन) सूत्रात्मक शरीरधारी होने के कारण 'सूक्ष्म' कहा जाता है। प्रतिसंहृतक्रमा एवं सूक्ष्मा, यह पश्यन्ती वाक् इच्छाशक्ति रूप मानी गई है[3]।

आचार्य सोमानन्द पश्यन्ती को ज्ञानशक्ति कहते हैं तथा तन्त्र एवं अभिनवगुप्त इसे इच्छाशक्ति घोषित करते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ सन्देह की संभावना

---

१. अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ॥ १ ॥
इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक् ॥ २ ॥
स एवात्मा सर्वदेहव्यापकत्वेन वर्तते।
अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ॥ ३ ॥
तावद्यावत्परा काष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम्।
अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम् ॥ ४ ॥
सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम्।
ब्रह्मतत्त्वं परा काष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥ ५ ॥ शिवदृष्टि आ० २

२. ई० प्र० वि०, पृ० १९५–१९७, १ अ० ५ वि०

३. द्रष्टव्य वही, पृ० १८९

है। किन्तु सच्चाई यह नहीं है। इच्छाशक्ति वस्तुतः ज्ञान और क्रियाशक्ति की अनुग्राहिका बीजावस्था है। और जानने की इच्छा (बुभुत्सा) भी बोध-स्वभाव ही होती है। इच्छाशक्ति में बोध्य वस्तु का पूर्णरूप से प्रकाशन होता है।

'इयमेव च इच्छाशक्तिरूपेति दर्शयति कार्यचिकीर्षा इति। बोध्यबुभुत्सा-स्वभावा अपि इयं भवति, अतश्च एवं—यदिच्छाशक्तिर्ज्ञानक्रियाशक्त्योरनुग्राहि-का इति, किन्तु बुभुत्सा अपि बोधस्वभावैव तस्य वस्तुनस्तत्र अवभासपरिपूर्ण-तया प्रकाशनात्।' ई० प्र० वि०, अ० १, वि० ५, पृ० १८०

इसके[1] अतिरिक्त आचार्य उत्पल ने इसमें ज्ञानशक्तिरूपता को उपचरित माना है।

परावाणी शब्द की चरम अवस्था है। इसी को अतिक्रम करके परब्रह्म अथवा परमशिव पदवी की उपलब्धि होती है। पूर्ण[2] होने के कारण इसे परा कहते हैं। समस्त विश्व के आस्वादात्मक चमत्काररूप प्रत्यवमर्श द्वारा, कथन करने के कारण इसे वाक्[3] की संज्ञा दी गई है। यह कथन-संकेत निरपेक्ष, अविच्छिन्न चमत्कार[4] अर्थात् निज भोग परामर्शात्मक, अन्तर्मुखशिरोनिर्देश[5] स्वरूप एवं अकारादि मायीय सांकेतिक शब्द का जीवनभूत है। यह परा-वाणी, चिद्रूप, स्वात्मविश्रान्त 'अहं' इस रूप में नित्य उदित परमात्मा के मुख्य स्वातन्त्र्य रूप से अनन्यापेक्ष होकर वर्तमान रहती है। अन्यनिरपेक्षता[6] और स्वरसवाहिता ही आनन्द, ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य और चैतन्य है। देश, काल से अविशिष्ट यह वाणी स्वतःसिद्ध महासत्ता के नाम से कही गई है। इसे, परमेष्ठी

---

१. पश्यन्तीति दर्शनप्राधान्यात् उपचरितज्ञानशक्तिरूपत्वेप्याश्रीयमाणे परम-शिवरूपताया अत्यन्तदूरवर्तिनी, न तु पर्यन्तदशासौ, ज्ञानशक्तेः सदाशिवरूप-त्वात् परापरव्यवस्थात्र। सदाशिवरूपत्वे च क्रियाशक्तिरपि न परित्यक्ता।
शिवदृ०, द्वि० आ० पृ० ३७

२. पूर्णत्वात् परा। ई० प्र० वि०, पृ० २०५, १ अ० ५ आ०

३. वक्ति, विश्वम् अपलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्।

४. **चमतो** भुञ्जानस्य करणं संरम्भः, अहमसौ नीलादेर्भोक्ता इति चम-त्कारः। अनुपचरितस्य संवेदनरूपतानान्तरीयकत्वेनावस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसनैकघनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार उच्यते।
ई० प्र० वि० टिप्पणी, पृ० २०५

५. यथा कश्चित् स्वकृतं शिरःकम्पेन निर्दिशति।

६. अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यं, चैतन्यं च।
ई० प्र० वि० पृ० १०७

परमशिव का परमन्त्रात्मक विमर्शरूप हृदय कहा गया है। मन्त्र ही समग्र का हृदयभूत है। विमर्श के अतिरिक्त मन्त्र का और कोई स्वरूप नहीं और विमर्शन परावाङ्मय है अतएव सार भी।

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥१४।२

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अ० ४ आ०

संसार का जो सार है वही परावाक्‌रूप मालिनी शक्ति भी है। यही मन्त्रों की जननी है।

परा तुरीयतत्त्व है। यह अव्यक्तसंज्ञक शब्द है। जगद्‌रूप अंकुर के लिए कन्दात्मक होने के कारण यह परावाक् कारण बिन्दु के नाम से उल्लि-खित हुई है। स्वप्रतिष्ठ होने से यह शब्दब्रह्मरूप परा वाणी निःस्पन्द मानी जाती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ यहाँ समष्टिरूप में विद्यमान रहती हैं। परा वाणी में वर्तमान प्रकाशांश को अम्बिका और विमर्शांश को शांता कहते हैं।

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक्समुदीरिता ॥ ३६ ॥

योगिनीहृदय १

इसी परा वाणी में सम्पूर्ण वाच्य-वाचक-वैचित्र्य मयूराण्डरस के सदृश अन-भिव्यक्त रूप में अभेदापन्न होकर विद्यमान रहता है।

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः' द्वितीयपटलगत प्रपञ्च-सार के उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए पद्मपादाचार्य ने कहा है :—मूल शब्द का अर्थ है जगन्मूलभूत परिणामिनी मायाशक्ति और उसके आधार-भूत चिदात्मा को मूलाधार कहते हैं। शरीरगत मूलाधार भी सर्वगत चिदात्मा की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण मूलाधार कहा जाता है। उससे उत्पन्न चैतन्याभास और मायाशक्त्यात्मक भाव परावाक् है।

मूलं जगन्मूलभूता परिणामिनी मायाशक्तिः। तस्याः आधारभूतश्चिदात्मा मूलाधारः। सर्वगस्यापि तस्याभिव्यक्तिस्थानत्वात् गुदमेढ्रमध्योऽपि मूलाधारः। तस्मात् प्रथममुदितः चैतन्याभासः भावश्च यः जगद्‌भावयतीति माया शक्तिर्भावः स पराख्यः। चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परा वागित्यर्थः।

राघवभट्ट ने भी लिखा है—

चित्[1] शक्ति ही परा है। अथवा चैतन्यभासविशिष्ट होने के कारण प्रकाशिका माया ही स्पन्दहीन परा वाक् है। वेदान्त दृष्टि से ही उपर्युक्त दोनों व्याख्याएँ प्रभावित हैं ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि राघवभट्ट तन्त्रसम्मत व्याख्या विकल्प देना नहीं भूले। शाक्ताद्वैतवाद अथवा ईश्वराद्वयवाद में माया प्रकृति आदि परावाक् से निम्नतर के तत्त्व हैं। माया से यदि महामाया अभिप्रेत हो तो द्वैतवादी तंत्रों के अनुसार यह शिव की परिग्रहरूपा बिन्दु शक्ति है और इसे ही परावाक् कहा जा सकता है।

आचार्य पद्मपाद ने तो वाणी के पञ्चपदी और सप्तपदी होने की भी सूचना दी है। यथा—(१) सूक्ष्मा, (२) परा, (३) पश्यन्ती, (४) मध्यमा, (५) वैखरी।

(१) शून्य, (२) संवित्, (३) सूक्ष्मा, (४) परा, (५) पश्यन्ती, (६) मध्यमा, (७) वैखरी। शून्य—अनुत्पन्न, स्पंदहीन वाणी। संवित्—उत्पन्न होने की इच्छा वाली। सूक्ष्मा—उत्पत्त्यवस्था। परा—मूलाधार में प्रथम उदित।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य श्री ने स्वच्छन्द तन्त्र के—

तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात्स्पर्शसमुद्भवः।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः पूर्वं वै कथितस्तव"॥ श्लो० ५, प० ११

इसके अनुसार सात प्रकार की वाणी की चर्चा की है। सिद्धान्ततः इसमें कोई असंगति नहीं है। वहाँ शून्य से व्यापिनी, स्पर्श से शक्ति आदि का ग्रहण किया गया है। उन्मनी, समना, व्यापिनी आदि का वर्णन अग्रिम अध्याय में किया जायगा।

लक्ष्मीधर[3] ने सौन्दर्यलहरी की टीका करते हुए परावाणी को ही

---

१. अथवा चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिका माया निष्पन्दा परा वागित्यर्थः॥ पदार्थादर्श, पृ० ६१ आगमानुष्ठान स० सं०

२. अथवा सूक्ष्मा, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति पञ्चपदीं वाचमाश्रित्याह मूलाधारादिति। सप्तपद्यपि वागनेनैव सूचिता शून्यसंवित्सूक्ष्मादीनि सप्तपदानि। तत्रानुत्पन्ना निष्पन्दा शून्या। वागुत्पित्सुः संवित्। उत्पत्त्यवस्था सूक्ष्मा मूलाधारात् प्रथममुदिता परेति विभागः।

प्रपञ्चसार टीका, पृ० ३४, द्वि० पटल

३. एका परेति सत्त्वरजस्तमोगुणसाम्यरूपा। तदन्या पश्यन्ती अन्यतरगुणवैषम्यरूपेत्यर्थः। सौन्दर्यलहरी श्लोक ३४ की टीका

प्रकृति कहा है। सत्व, रज और तम की साम्यावस्था परा है और वैषम्या-वस्था पश्यन्ती।

इसमें सन्देह नहीं है कि सत्व, रज और तम क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रिया के प्रतीक हैं। किन्तु सांख्य में जिस प्रकृति का वर्णन है वह अत्यन्त स्थूल है। यह अशुद्ध प्रकृति है। परा को शुद्धप्रकृति कहा जा सकता है। शुद्ध-प्रकृति में इच्छा आदि शक्तिरूप से विद्यमान रहते हैं। ईश्वर[1] प्रत्यभिज्ञा में स्पष्टतया कहा गया है कि पतिदशा में जो ज्ञान, क्रिया और मायाशक्ति है, वही पशुदशा में सत्त्व, रज और तम है। इच्छादि शक्तियाँ ही संकुचित होकर सत्वादि के रूप में प्रतीत होती हैं।[2] सांख्यकारिका में तो नहीं किन्तु योगसूत्रों पर भाष्य करते हुए व्यास ने कहा है :—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

अर्थात् 'गुणों का परम रूप देखने में नहीं आता, जो दिखाई देता है वह तो माया की तरह तुच्छ है।'

इससे प्रतीत होता है कि गुणों का प्रत्यक्ष और मानस से परे उत्कृष्ट रूप भी है जिसका ज्ञान सांख्यदर्शनमात्र से नहीं हो सकता। तन्त्रों एवं पुराणों में ही उसका वर्णन मिलता है।

वस्तुतः मूल महाप्रकृति जिसे परावाक् भी कहा जा सकता है एक ऐसा 'साँचा' है जिससे अनन्त विश्व वैचित्र्य प्रादुर्भूत होता रहता है और उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

व्याकरणागम[3] में सूक्ष्म शब्द को संज्ञा या चेतना कहा गया है। परा-

---

१. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥ ४ ॥ अ० ४ आ० १

२. इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्तास्य सङ्कुचद्रूपा।
सङ्कुलितेच्छाद्यात्मकसत्त्वादिकसाम्यरूपिणी सती।
बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः।
तत्त्वसन्दोह १०।१३. १४.

३. सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामप्यतिक्रान्ते चैतन्यं सर्वजन्तुषु ॥१२७॥
शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ ११९ ॥ वा० प० का० १
अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ १३२ ॥ वही

प्रकृतिरूप चिन्मयी वाणी, अनन्त प्रमेयात्मक गवादि आकारों को धारण करती है। प्रतिभात्मक परावाणी की उपासना करने वाले लोग ही मृत्यु का अतिवर्तन करते हैं।

भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा॥
एकत्वमभिनिष्क्रान्ता वाङ्नेत्रा वाङ्निबन्धनाः।
पृथग्वदवभासन्ते वाग्विभागा गवादयः॥
षड्द्वारां षडधिष्ठानां षट्प्रबोधां षडव्ययाम्।
ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते॥

ब्रह्मकाण्ड स्वोपज्ञटीका

तन्त्र मत में प्रतिभा भी परावाणी का नामान्तर है। परमेश्वर की विश्व रचना के प्रति अन्यनिरपेक्षता को ही परा अथवा प्रतिभादेवी कहते हैं।[1] यह प्रतिभा निरतिशय स्वातन्त्र्य (आनन्द) के चमत्कार (भोग) से पूर्ण है। इसमें विद्यमान प्रकाशांश वाच्यों—अनन्त गो घटादि अर्थों और विमर्शांश वर्णों, पदों, वाक्यों के रूप में स्फुरित होता है। यह प्रतिभा चित्स्वभावतामात्र, स्वरसोदित परावाक् रूप ही है। इसमें किसी प्रकार के सङ्कोचरूपी कलङ्क की कलुषता का लेश भी नहीं रहता। भैरवभट्टारिकात्मक इस महासंवित् में सम्पूर्ण चराचर जगत् पारमार्थिक अनपायी रूप से वीर्यमात्र सार अवस्था में विद्यमान रहता है।

'सा' च परमेश्वरी पराभट्टारिका तथाविधनिरतिशयाभेदभागिन्यपि पश्यन्त्यादिकाः परापराभट्टारिकादिस्फाररूपा अन्तःकृत्य तत्तदनन्तवैचित्र्यगर्भमयी···परामृशते च प्रथमां प्रतिभाभिधानां सङ्कोचकलङ्ककालुष्यलेशशून्यां भगवतीं संविदम्॥ परात्रिंशिका, पृ० १०२

निखिल[2] वैषयिक अवबोध के पूर्व और अपरान्तचारी, समस्त विश्वात्मक, परशक्तिप्रभारूप प्रतिभा में निमग्न होने पर अभावजनित

---

१. अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः।
तां परां प्रतिभां देवीं सङ्गिरन्ते ह्यनुत्तराम्॥ ६६॥

तन्त्रा० तृ० आ०

२. यत्प्रातिभं निखिलवैषयिकावबोध-
पूर्वापरान्तरचरं निखिलात्मकं तत्।
तस्यां प्रलीनवपुषः परशक्तिभासि
ग्लानिर्घटेत किमभाववशोपक्लृप्ता॥ परात्रिंशिका, पृ० ११०

ग्लानि घटित नहीं होती। अपरिच्छिन्न स्वभाव होने पर भी अखण्ड पारमेश्वरी प्रतिभा सर्वात्मक है।

"एकैव सा पारमेश्वरी प्रतिभा अस्मदुक्तिमाहात्म्यकल्पिता एवं विधा अपरिच्छिन्नस्वभावाऽपि सर्वात्मैव।" परात्रिंशिका, पृ० १०८

शुद्ध[1], संविन्मात्र, प्रकाशपरमार्थ अतितुर्य तत्त्व, सम्पूर्ण प्रमेयात्मक विश्व को अपने से पृथक् करके सकल भावों से उत्तीर्ण निरावरण रूप में विद्यमान रहता है। महासंवित् की यह **शून्यावस्था** है। उसे ही निष्कल परमशिव के नाम से कहा जाता है। 'नेति' 'नेति' द्वारा जिस दशा का बोध कराया जाता है यही वह उत्तीर्ण दशा है जो योगियों का चरमकाम्य है। सम्पूर्ण विश्वगत भावों के क्षीण या तदन्तर्भूत होने से इसे शून्य कहा जाता है। इस प्रकार अशून्य या चरम सत्ता ही शून्य[2] है। विविक्त नभ के सदृश शोभित वह परमशिव बहिर्मुख होने की इच्छा से किञ्चित् चलित होता है। यह चलन उसका आद्य प्रसार है। इसको स्पन्द, प्राण और ऊर्मि की संज्ञा दी जाती है। परमशिव रूप पर संवित् का यह प्रथम स्पन्द, स्फुरत्ता अथवा प्रतिभा नामक परा वाक् है जो अनन्त अपरिमित प्रमातृ-प्रमेयों का उद्भवस्थान है।

स एव खात्मा मेयेऽस्मिन् भेदिते स्वोक्रियोन्मुखः।
पतन्समुच्छलत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः॥ ११॥
इयं सा प्राणनाशक्तिरान्तरोद्योगदोहदा।
स्पन्दः स्फुरत्ता विश्रान्तिर्जीवो हृत्प्रतिभा मता॥ ३३॥

तन्त्रालोक आ० ६

'स्वपदशक्तिः' (१७) प्रथ० प्रकाश इस शिवसूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य भास्कर ने कहा है "दृक्क्रियारूपप्रतिभा[3] ही स्वपदात्मक शिव की

---

१. संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः॥ ९॥
तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते।
नेति नेति विमर्शेन योगिनां सा परा दशा॥ १०॥ तं० आ० ६

२. अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः॥ स्वच्छन्द त० ४।२९१

३. गो, घट आदि पृथक् पृथक् विच्छिन्न पदार्थों से अतिरिक्त, बोध के अवसर पर, एक अखण्ड वाक्यार्थरूप प्रतिभा का उदय होता है—ऐसी व्याकरणागम की मान्यता है। और यह प्रतिभा भी स्फोटात्मक शब्दरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह तथ्य 'द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः। एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते। (प्र० का० ४४) वाक्यपदीय

शक्ति है। विश्वाकार वैचित्र्य के धारण की योग्यता को क्रियाशक्ति और प्राण या प्रकाश को दृक्शक्ति कहते हैं"।

स्वपदं सत्पदं ज्ञेयं शिवाख्यं यदुदीरितम् ॥ ७६ ॥
तद्वीर्यं दृक्क्रियारूपं यत्सा शक्तिः प्रकीर्तिता ।
तस्याः कर्त्रंशसंवेशो लीनता स्यात् स्थितिश्च सा ॥ ७७ ॥
तदेव प्रतिभालोकः स्यात्प्रकाशैकमन्थरः ।
स वितर्कः स्वस्वभावविमर्शैकघनात्मनः ॥
आत्मनः शिवरूपस्य प्रत्यभिज्ञाप्रसाधने ॥ ७९ ॥
परं तत्साधनं ज्ञेयं तस्मिन् सत्यात्मवेदनम् ।
तस्माद्वा प्रतिभोन्मेषः स्याच्छुद्धस्यात्मनः परः ॥ ८० ॥

शि० सू० वा० प्रथम प्रकाश

प्रतिभाएँ व्यक्तिभेद से नाना हो सकती हैं किन्तु उनका समन्वय पर-प्रतिभा में ही होता है जिसका उल्लेख ऊपर स्थित पद्य में किया गया है।

महावैयाकरण हेलाराज ने वाक्यपदीय के तृतीयकाण्ड की टीका का मङ्गलाचरण करते हुए कहा है :—

"जिसके[1] सम्मुख आते ही प्रकाशात्मक पुरुष की अभिनव रुचिर महिमा, मन के अन्तराल में निकट रूप से, स्फुरित होती है। तथा विषयास्वाद से असम्पृक्त होने पर भी जो शाश्वत, परमतृप्ति प्रदान करता है, तेज और आनन्द के अमृत से परिपुष्ट उस प्रातिभ वपु की मैं स्तुति करता हूँ"।

के इस श्लोक तथा स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत 'संग्रह' के—'अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः। शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ॥' इस पद्य से स्पष्ट है।

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥ १४५, २। वा० प०

यह प्रतिभा ही आन्तरिक प्रमाण है। इसके द्वारा सन्देहों में वस्तु निर्णय किया जाता है। "सर्वः कश्चित्तामेव भगवतीं स्वप्रतिभां प्रमाणत्वेन पश्यति तथा चोच्यते—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।"

हेलाराज प्रकीर्णप्रकाश वाक्यपदीय टीका, पृ० १४२

१. यस्मिन्सम्मुखतां प्रयाति रुचिरं कोप्यन्तरुज्जृम्भते
नेदीयान् महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः।
तृप्तिं यत्परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीं
धामानन्दसुधामयोजितवपुस्तत्प्रातिभं संस्तुमः ॥ —हेलाराज

परावाणी अथवा प्रतिभात्मक तुरीय तत्त्व का तुरीयातीत तत्त्व से सम्बन्ध बताते हुए उत्पलदेव तथा अभिनवगुप्त ने निम्नांकित विवरण प्रस्तुत किया है। 'प्रतिभाति घटः' घट प्रतीत होता है—आदि स्थलों में प्रतिभानात्मकक्रिया, यद्यपि विषय का आलिङ्गन करती हुई लक्षित होती है किन्तु यह क्रिया उस विषय की अपनी ज्योति नहीं है। संवेदन मात्र ही, जो कि प्रमातृनिष्ठ होता है, 'मां प्रतिभाति' इस रूप में स्फुरित होता है। श्रुति कहती है—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'**। (क० उ० ५।१५) 'भान्तं' इस शब्द द्वारा अतितुर्य तत्त्व की सतत् प्रकाशशीलता तथा 'अनुभाति' के 'अनु' ; शब्द द्वारा अतितुर्य तत्त्व के स्वातन्त्र्य से रचित निर्माणक्रिया से उत्पन्न वेद्य-वेदकभाव रूप सम्बन्ध द्योतित होता है।

पश्यतो रूपमालेखात् भातो भानानुषङ्गि यत्।
प्रतीपभानं प्रतिभा भावानामात्मसंश्रया॥

ई० प्र० वि० १ अ० ७ वि० भट्टचन्द्रानन्दन. पृ०, ३३९

'आत्मसंश्रया' इस शब्द द्वारा प्रतिभा की संवित्–विश्रान्तता ही सिद्ध होती है। केवल विषयोल्लेख के अनुषङ्ग से संवेदनात्मकप्रतिभान, क्रम और यौगपद्यादि धर्मों को धारण करता है। अतएव बीज, अङ्कुर, काण्ड, शाखा आदि कर्मों तथा 'ये गायें' आदि में दृष्ट अक्रम या युगपद्भावों से विचित्ररूप पदार्थों का ईश्वर-स्वातन्त्र्यरूप देश-काल-शक्ति से उत्थापित क्रम अथवा देश-काल परिपाटी से (रूषित)–ऊपरक्त प्रतिभा ही सब के लिए सर्वदा स्वप्रकाश, तथा अन्तर्मुखरूप में देशकालकलना हीन होने के कारण अक्रम कही जाती है। और यह अक्रमा प्रतिभा परप्रमाता महेश्वर से भिन्न नहीं।

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥ १॥

ई० प्रत्यभिज्ञा १ अ० ७ आ०

देशकालादिपरिच्छेदविरहितसंवित्स्वभावः प्रमाणप्रमितिसमूहस्य यथारुचिसंयोजनादिकरणस्वातन्त्र्ययुक्तः शुद्धाहम्प्रत्यवमर्शमयः कल्पितेश्वराणां ब्रह्मविष्ण्वादीनां स्वांशाभिषेकोपकल्पितैश्वर्यो महेश्वरः प्रमाता। सा च प्रतिभा अनपह्नवनीया॥ ई० प्र० वि वि०, पृ० ३४० अ० १७ वि०

बाहर[1] जो कुछ आभासित होता है, उसका आन्तरिक अवभास ही आत्मा

१. यत्किञ्चिदाभासते, तस्य अन्तर्मुखं यदवभासनं, स आत्मा प्रमाता, स एव च स्वभावः तदेव च ऐश्वर्यमिति सम्बन्धः।

अ० १ वि० ७ ई० प्र० वि०, पृ० ३४०

अथवा प्रमाता है, वही स्वभाव और ऐश्वर्य है। तात्पर्य यह है कि—बाह्य वस्तु के दर्शन के अवसर पर पहले बाह्य क्रमिक घट प्रकाश होता है पश्चात् 'अयं घटः'—यह अन्तर्विकल्परूप क्रमिक प्रकाश होता है। अनन्तर इन दोनों का विश्रान्ति स्थान शुद्ध अहं प्रत्यवमर्शात्मकप्रकाश स्फुरित होता है। यही अक्रमा प्रतिभा है और मुख्य प्रमाता भी।

विभु की परावाणी या प्रतिभारूपविमर्शशक्ति भिन्न-भिन्न संवेद्यों में प्रतिभात होकर मायाशक्ति द्वारा ज्ञान, संकल्प और अध्यवसाय आदि नामों द्वारा कही जाती है। नाना संवेद्यों से सम्बद्ध देश काल के अनुरोध से ज्ञान स्मृति आदि भी सक्रम प्रतीत होते हैं। वेदक और संवेद्य भी पृथक् नहीं। सम्पूर्ण संवेद्यों या ज्ञेयों को, प्रकाशात्मक परमशिव अपने विमर्शात्मक-स्वातन्त्र्य से आत्माभिन्नरूप में प्रकट करते हैं—आत्मा को ही ज्ञेय बनाते[1] हैं। विमर्शात्म स्वातन्त्र्यरूपप्रतिभा[2] अथवा परावाणी ही परमशिव की शक्ति है जिससे वे शक्तिमान् कहे जाते हैं।

---

१. द्रष्टव्य ई० प्रत्यभिज्ञा अ० १ आ० ५ श्लोक १८,२१,२५

२. साहित्यशास्त्र में प्रसिद्ध प्रतिभा सारस्वतप्रपञ्च का आधार मानी गयी है। काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति के टीकाकार श्री त्रिपुरहरभूपाल ने कामधेनु में लिखा है :

निर्हेतुके नियतिनिस्पृहमुज्जिहाने, कान्तानिभे कविवरप्रतिभाविवर्ते।
प्रत्यर्थिशून्यपरनिर्वृतिके प्रपञ्चे, सारस्वते तु समयः सुधियानुपाल्यः॥

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार उसे दोनों प्रपञ्चों की जननी कहा जा सकता है :—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

ध्वन्यालोकलोचन प्र० उ०

तृतीय अध्याय

आगम समुच्चय–२

ब्रह्म के दो रूप हैं। एक शब्दब्रह्म और दूसरा अर्थब्रह्म। अपनी चरम अवस्था में ये एक, अखण्डरूप में वर्तमान रहते हैं। शक्ति और शक्तिमान् के सदृश इनमें अविनाभाव सम्बन्ध है। शब्दब्रह्म को अपरप्रणव और अर्थब्रह्म को परप्रणव के नाम से भी कहा जाता है। तान्त्रिकों के मत में यह सृष्टि परब्रह्म (परमशिव, चितितत्त्व) का परिणाम[1] है। परिणत होते हुए भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। मूलतः सृष्टि दो प्रकार की ही होती है— १. शब्दमय और २. अर्थमय। चक्र और देहमय सृष्टियों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु देह ब्रह्माण्ड की ही लघु प्रतिकृति है। और चक्र उन दोनों का आधारभूत सूक्ष्म ठाठ अथवा तन्त्र, जिस पर स्थूलता का वैभवविलास दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार लौहमय सूक्ष्मगृह के ऊपर स्थूलगृह का निर्माण किया जाता है ठीक वैसे ही चक्रमयी सृष्टि तथा पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की सृष्टि समझनी चाहिए।

शब्दार्थमय द्विविध सृष्टि का, बीज, अंकुर और उनकी छाया के समान, एक साथ ही उद्भव और अभिवर्द्धन होता है। छाया के दर्शन से वृक्ष की अनुमिति अनुभवसिद्ध है। छाया में वृक्षों के सदृश आकृतिमता और वृक्ष के बिना उसकी अनुपपत्ति ये दोनों बातें प्रत्यक्ष हैं। वैसे ही शब्द, अर्थ के बिना सम्भव नहीं। इसलिए कालिदास ने कहा है—वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ ५ ॥ रघुवंश, १ सर्ग

याहमित्युदितवाक् परा च सा, यः प्रकाशलुलितात्मविग्रहः।
यौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ ॥ ६ ॥

चिद्गगनचन्द्रिका, प्रथमविमर्श

शब्द और अर्थरूप सृष्टि के ज्ञान का जनक मन है। वह शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण करता है, अर्थ को कहीं साक्षात् और कहीं नेत्रादि के द्वारा। उपर्युक्त दोनों सृष्टियाँ स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भेद से चार-चार प्रकार की हैं। श्रोत्र और मन भी अर्थ के ही अन्तर्गत हैं अतः वे भी

---

१. द्रष्टव्य वरिवस्यारहस्य, द्वितीय पृ० ४७ अंश,

चार प्रकार के हैं। स्थूल श्रोत्र के द्वारा, स्थूल शब्दश्रवण से, स्थूल अर्थ का स्थूल मन से ज्ञान होता है। सूक्ष्म श्रोत्र द्वारा, सूक्ष्म शब्द के श्रवण से, सूक्ष्म अर्थ का सूक्ष्म मन से ज्ञान इत्यादि समझना चाहिए। श्रोत्र और मन की सूक्ष्मता शास्त्राभ्यास तथा योगाभ्यास की पटुता से सम्पन्न होती है। 'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।' समाधिपाद ४७ सू० 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।' सू० ४८ समाधि०।—योगशास्त्र के इन सूत्रों में मन की विशारदता का स्पष्ट संकेत मिलता है **चत्वारि[1] वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। (ऋ० २।३।२२।)** इस श्रुति द्वारा शब्दों का चातुर्विध्य प्रमाणित है।

समस्त सृष्टिचक्र का मूल, बिन्दु के नाम से अभिहित किया गया है। यह आख्या वस्तुतः आकारहीन ब्रह्म के सृष्टिरूप यन्त्र की रचना के अनुरूप ही है। अपार संसार के विविधभावी स्थूल आकार-प्रकारों को अपने में सूक्ष्मरूप से समेटे हुए अवाङ्मनसगोचर परतत्व सर्वप्रथम बिन्दु के रूप में ही आकलित होता है। शब्दातीत पर तत्व की ही संज्ञा महाबिन्दु है जिसे अनिर्देश्य, अग्राह्य, अशब्द आदि निषेधों द्वारा कहा जाता है। सत्य तो यह है कि सृष्टिद्वय का मूलभूत, सूक्ष्मरूप विशेषात्मक होने के कारण अभिन्न शब्दार्थरूप परब्रह्म को ही विद्वान् शब्दब्रह्म आदि पदों से निर्दिष्ट करते हैं। वह प्रकाशस्वरूप है। 'घटादि स्फुरित होते हैं' इत्यादि प्रतीतियाँ पदार्थमात्र में 'स्फुरणा' नामक वस्तुविशेष का तत्तत्पदार्थों से अभेदानुभव सिद्ध करती हैं। प्रकाश में 'स्फुरणात्मक' तत्त्व स्वीकार करना होगा। क्योंकि प्रकाश स्फुरित होता है। यह प्रतीति होती है। यह स्फुरणा ही शक्ति है। प्रकाश और स्फुरणा इनकी सम्मिलित रूप में संसार की कारणता मानी जाती है। अतः जहाँ कहीं भी शुद्धशिव अथवा शुद्धशक्ति की जगज्जनकता कही गई हो वहाँ उभयात्मक ही समझना चाहिए। प्रकाश 'अकार' का स्वरूप है और वाच्य भी। तथा स्फुरणा, 'हंकार' रूप है तथा उसकी वाच्य भी। ये 'अ' और 'हं' सूक्ष्मतम परावाक् रूप हैं। परा, पश्यन्ती आदि सृष्टि के मूलभूत, बीजस्थानीय, बिन्दुविशेष के ये दोनों व्यक्ताव्यक्त विलक्षण रूप से वाचक हैं। उस बिन्दु के भी जनक परब्रह्म के अव्यक्त शून्यस्वरूप ये दोनों वाचक हैं।

---

१. वाणी या शब्द के चार रूप हैं उन्हें शब्द ब्रह्मवित् योगिगण ही जानते हैं। उनमें तीन परा, पश्यन्ती और मध्यमा—मूलाधार नाभि और हृदयरूप गुहा में निहित हैं। वैखरीसंज्ञक चौथी वाणी को ही लोग अपने व्यवहार का विषय बनाते हैं।

इनके शून्यरूप अर्थात् कलनातीत होने के कारण ही 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ० २–४) इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसकी अवाच्यता कही गई है।

अहं यह एक अद्वैततत्त्व है। इसमें अकार सम्पूर्ण वर्णों का अग्रगामी प्रकाशात्मक परमशिव है। हकार चरम वर्णरूप विमर्श तत्त्व है। इन दोनों का सामरस्य 'पराहन्ता' में स्फुट होता है—

अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः॥
हकारोन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्त्तितः।
अनयोः सामरस्यं यत्परस्मिन्नहमि स्फुटम्॥

वरिवस्यारहस्य, पृ० ४९ में उद्धृत

श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—'**अक्षराणामकारोस्मि।**'

शून्याकाराद्विसर्गान्ताद्बिन्दुप्रस्पन्दसंविदः।
प्रकाशपरमार्थत्वात् स्फुरत्तालहरीयुतात्।
प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम्॥ ११॥

योगिनीहृदय के अनुसार शून्याकार—शून्यमात्रस्वरूप विसर्गान्त अथवा षोडशस्वरान्त्य से बिन्दुविशेष की उत्पत्ति होती है। विसर्ग अव्यक्त हकार के सदृश है 'अतः' उसमें अकार भी सन्निविष्ट है। यहाँ शून्याकार शब्द से अकार और हकार ही निर्दिष्ट हुए हैं। निराकार न कहकर शून्याकार कहने से अकार की एक बिन्दुरूपता और विसर्गरूप हकार का दो बिन्दुमय स्वरूप ध्वनित होता है। विसर्गपद द्वारा सोलहवें 'अः' इस स्वर का बोध हो जाता है पुनः 'अन्त' पद की योजना विमर्शानुबद्ध प्रकाशात्मक अर्थ के लिए प्रयुक्त जान पड़ती है। हकार से अनुबद्ध अकार अर्थात् शक्तिरूप धर्म से अनुबद्ध शिवरूप धर्मी यही विसर्गान्त का वास्तविक अर्थ है।

स्फुरत्तात्मकलहरी से युक्त, पारमार्थिक प्रकाशरूप उस अहमात्मक बिन्दु से इच्छा, ज्ञान, क्रियास्वरूप मातृत्रयात्मक अनन्त सृष्टि उद्भूत हुई है। प्रकृतशास्त्र के अनुकूल निम्नाङ्कित सृष्टि क्रम को दृष्टि में रखना संगत होगा। जैसे सूर्य के अभिमुख दर्पण में, अन्तःप्रविष्ट किरणों द्वारा दोनों ओर से प्राप्त किरणों के सम्मेलन से, भित्ति पर तेजोबिन्दुविशेष प्रादुर्भूत होता है वैसे ही प्राणियों के अदृष्टवश अपने में उपसंहृत विश्व की रचना की इच्छा से प्रकाशरूप ब्रह्म, अपनी शक्ति को देखने के लिए अभिमुख होकर उसके अन्तराल में तेजरूप से प्रविष्ट होकर शुक्लबिन्दु का रूप ग्रहण करता है।

अनन्तर उस बिन्दु में रक्तरूप शक्ति प्रविष्ट होती है जिससे संमिश्रित बिन्दु कुछ अभिवृद्ध होता है। वही 'हार्घ' कलारूप पदार्थविशेष के रूप में परिचित होता है। वह बिन्दु, समष्टिरूप में एक तथा स्फुट शिव-शक्ति-सामरस्य नामक अग्नीषोमात्मक काम, 'रवि' आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत होता है। व्यष्टिरूप में तो वे दो ही रहते हैं। शुक्लबिन्दु चन्द्र और रक्तबिन्दु ही अग्नि है। इस बिन्दुद्वय को विसर्ग भी कहते हैं। सूर्य का रात्रि को अग्नि में तथा अमावस्या को चन्द्र में प्रवेश करना श्रुति सिद्ध है अतः समष्टिबिन्दु को रवि की संज्ञा देना सङ्गत ही है। इस प्रकार—(१) काम नामक बिन्दु, (२) विसर्ग और (३) हार्घकला—इन तीन[1] अवयवों से युक्त एक अखण्डपदार्थ अण् आदि प्रत्याहार के सदृश कामकला के नाम से अभिहित हुआ है। यही सम्पूर्ण सृष्टि का बीज है। इसीलिए अकार और हकार के मध्य में समस्त वर्णों का पाठ हो जाता है। ळ वर्ण ल से अभिन्न है। तथा 'क्ष' क–ष का संयुक्त रूप है अतः 'अहं' से वह भी बहिर्गत नहीं है। कामकला का मूलभूत ब्रह्म ही तुरीय (चतुर्थ) बिन्दु है। चतुर्थ बिन्दुरूप एवं शून्य स्वरूप अकार तथा हकार से उत्पन्न कामकला को व्यक्ताव्यक्तविलक्षण 'अहं' पद द्वारा बोधित करते हैं। अकार-हकारोभयात्मकता तथा शिवशक्तिद्वयरूपता ही 'अहं' इस पद का तात्पर्यार्थ है। यही कारण है कि तज्जन्य सूक्ष्म से लेकर स्थूलपर्यन्त अखिल सृष्टि 'अहं' पद की वाच्य मानी जाती है।

जैसे उदुम्बर (गूलर) पद के वाच्य बीज से जनित परस्पर विलक्षण, पर्ण काष्ठ, कुसुम, फल, कीट आदि में—'उदुम्बरपर्ण' 'उदुम्बरकृमिः' इन रूपों में उदुम्बरता का ही व्यवहार होता है वैसे ही अहं पद का भी। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति' इस बृहदारण्यक में, 'त्वं वा अहमहं वै त्वम्' इस ऐतरेय में, 'कस्त्वमित्यहमिति होवाच त्वं मेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभिधानम्।' आदि तापनीय प्रभृति उपनिषदों में 'अहं' पद की सर्ववाचकता उल्लिखित है। पाणिनि ने भी अस्मद् शब्द की सर्वनामता घोषित की है। इतना ही नहीं श्रुतियों में तो 'तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयं' आदि से ब्रह्मस्वरूप बताकर 'हंसः' 'सोहं' द्वारा पूर्णाहम्भावभावनात्मक उपासना का विधान किया गया है। 'कादिमत' में—'योनिमुद्रा का बन्धन, मन्त्रों में वीर्य की योजना तथा आदिम और अन्त्य का ज्ञान करानेवाला ही गुरु है' ऐसा कहा गया है। आदिम का अर्थ है 'अकार' और अन्त्य का 'हकार' इनका

---

१. काम नामक बिन्दु—संमिश्रित बिन्दु। विसर्ग=शोण और सित बिन्दुद्वय। हार्घकला—अभिवृद्ध रूप।

समाहार ही 'अहं' है। यहाँ इतरेतरद्वन्द्व का परित्याग करके समाहारद्वन्द्व का स्वीकार बिन्दुलाभ के लिए ही है।

छान्दोग्य में कहा गया है :—

'अहं' एवाधस्तात् 'अहं' उपरिष्टात् 'अहं' पश्चात् 'अहं' पुरस्तात् 'अहं' दक्षिणतोऽहं उत्तरतः 'अहं' एवेदं सर्वम्। ७, २५. १

अर्थात् नीचे, ऊपर, पीछे, सम्मुख, दक्षिण और उत्तर 'अहं' ही व्याप्त है। यही नहीं सम्पूर्ण प्रपञ्च अहं स्वरूप ही है।

स्व और पर को प्रकाशित करनेवाला विश्वात्मारूप प्रकाश ही एक 'अहं' पद द्वारा कहा गया है—

स्वपरावभासनक्षम आत्मा विश्वस्य यः प्रकाशोऽसौ।
अहमिति स एक उक्तोऽहन्ता स्थितिरीदृशी तस्य॥

विरूपाक्षपञ्चाशिका

इस प्रकार 'अहं' पदार्थ का, जैसे 'अहं' पद वाचक है वैसे ही उत्तमपुरुष एकवचन भी। पूर्वोक्त 'अहं' बिन्दु में, यद्यपि अकार और हकाररूप अवयव नहीं दिखाई देते किन्तु शास्त्र-प्रामाण्य से उनका सूक्ष्मरूप वहाँ रहता है यह स्वीकार करना ही चाहिए। हार्धकला के योग से उसमें दीर्घता (उच्छूनता) भी सम्पन्न होती है अतः चतुर्थ स्वर का, कामकला के रूप में मन्त्ररहस्यवेत्ता-गण प्रतिपादन करते हैं।

"कामकला[1] में पहले तुरीयबिन्दु उसके नीचे काम नामक बिन्दु, उसके नीचे विसर्गाख्य बिन्दुद्वय और उससे नीचे हार्द्धकला–ऐसी स्थिति है।" तुरीय

---

१. मध्यबिन्दुविसर्गान्तः समास्थानमये परे।
कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपं वियत्कले॥ २१॥

नित्याषोडशिकार्णव वि० ७

सेतुबन्ध में वर्णित 'कामकला' का उक्त स्वरूप दीपिकाकार अमृतानन्द योगी के द्वारा स्वीकृत स्वरूप से ही भिन्न नहीं है अपितु स्वयं भास्करराय ने "बिन्दुं सङ्कल्प्य वक्त्रं तु—(नित्या षो० विश्राम १, श्लोक २०१)" की व्याख्या करते हुए इसे भिन्न रूप में दिखाया है:—"ऊर्ध्वं कामाख्यो बिन्दुरेकः तदधोऽग्नीषोमात्मकबिन्दुद्वितयरूपोऽन्यः। तदधो हकारार्धरूपः कलाख्यस्तृतीयः तदिदं प्रत्याहारन्यायेनकामकलेत्युच्यते" सेतुबन्ध।

"मध्यबिन्दुः ऊर्ध्वबिन्दुः अकारहकारसामरस्यरूपः कामाख्यः। तदुक्तं कामकलाविलासे—बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः। कामः कमनीयतया···।" —दीपिका, पृ० ८५–८६

और विसर्ग के मध्य में रहनेवाला 'काम' ही मध्यबिन्दु है। काम और विसर्ग के अन्तर्गत चैतन्यरूप से अकार और हकार अवस्थित हैं यहाँ ये बैखरीरूप नहीं, किन्तु पर अथवा परा मातृकारूप शून्याकारसदृश वर्तमान है। ये अकार और हकारात्मक अक्षर कुटिलात्मक हैं। वक्रा वामा—सृष्टि जननी ही कुटिला है। अथवा इसे अकुल और कुल कुण्डलिनी समझना चाहिए। काम और विसर्ग अथवा अकार और हकार कुण्डलिनी के प्रतिबिम्ब-रूप हैं। अतः कुण्डलिनी से अभिन्न अकार और हकाररूपता सिद्ध होती है। अर्थ और शब्द ये परब्रह्म के दो रूप हैं अतः ये दोनों अक्षर, शिवशक्ति या अकुल कुण्डलिनी के रूपान्तर मात्र हैं। और इस प्रकार कामकला भी अकार तथा हकार की एकस्वरूप है।

उपर्युक्त विवरण को लक्ष्य करके वरिवस्यारहस्य में कहा गया है—

'अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म ॥ ६९ ॥
विश्वसिसृक्षावशतः स्वार्थां शक्तिं विलोकयत्ब्रह्म।
बिन्दूभवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया ॥७०॥
एतत्पिण्डद्वितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यम्।
मिश्रस्तु तत्समष्टिः कामाख्यो रविरकारचैतन्यम् ॥ ७१ ॥
एषाहम्पदतुर्यस्वरकामकलादिशब्दनिर्देश्या।
वागर्थसृष्टिबीजं तेनाहन्तामयं विश्वम् ॥ ७२ ॥

वस्तुतः[1] अक्षरमात्र में ध्वन्यंश और वर्णांश विद्यमान रहता है। इसीलिए तारत्व (उच्चस्वरता) आदि ध्वनिधर्म वर्णों में अनुभूत होते हैं। वर्णों में विद्यमान ध्वनि ही सम्पूर्ण वर्णों का जनक नादतत्त्व है। नाद सर्वप्रथम परा-स्वरूप होकर मूलाधार से उठता है। पुनः मणिपूर और अनाहत चक्रों में आकर प्राण और मन से संयुक्त होकर पश्यन्ती और मध्यमा के रूप में परिणत हो जाता है। अनन्तर कण्ठ में आकर वही वैखरीरूप वर्णात्मकता को ग्रहण करता है। समस्त वर्णों के कारणस्वरूप उस नाद में वर्णराशि सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहती हैं जैसे बीज में फल और पुष्प आदि। पूर्वार्द्ध और अपरार्द्ध

"मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो–
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि, ते मन्मथकलाम्" (१९ सौ० ल०)
में भी इससे भिन्नता लक्षित होती है। वस्तुतः ऊपर जिसे तुरीयबिन्दु कहा गया है वह अतितुर्यतत्त्व है।

१. द्रष्टव्य 'सेतुबन्ध', पृ० २३२

इस रूप में द्विधा विभक्त बीजरूप एक ही सम्पुट में जैसे विविध अवयवों वाला सम्पूर्ण वृक्ष छिपा रहता है। वैसे ही अकार-हकाररूप में द्विधा भिन्न नाद ब्रह्म में समस्त वर्णात्मक लौकिक-वैदिक प्रपञ्च निहित रहता है। इसी को दृष्टि में रखकर पहले कहा गया है कि अकार और हकार के बीच में समग्र वर्णराशि निहित है।

पूर्वोक्त अहन्तामय त्रिबिन्दु-तत्त्व-स्वरूप वर्णात्मा कामकला, त्रिगुणात्मक त्रिकोणरूप में परिणत होकर जगज्जननी बनती है—

एवं कामकलात्मा त्रिबिन्दुतत्त्वस्वरूपवर्णमयी।
सेयं त्रिकोणरूपं याता त्रिगुणस्वरूपिणी माता॥ २५॥

कामकलाविलास

मिश्र, शुक्ल और रक्तात्मक त्रिबिन्दुमय, सिघाड़े के आकार का सुन्दर त्रिकोण है जिसे प्रणव अथवा ओङ्कार भी कहा जाता है—

बिन्दुत्रयात्मकं स्वात्मश्रृंङ्गाटं विद्धि सुन्दरम्।
मिश्रं शुक्लं च रक्तं च पुराणं प्रणवात्मकम्॥

कामकलाविलास, पृ० २९

प्रणव के दो भेद हैं। गायत्रीमन्त्र के चतुर्थचरण—'परोरजसे सावदोम्' की व्याख्या करते हुए भास्करराय[1] ने लिखा है:—

'रज से परे अर्थात् गुणत्रय से अतीत, निर्मल प्रणव अथवा परतत्त्व दो प्रकार का है। एक शब्दात्मक और दूसरा शब्दातीत अथवा अव्यपदेश्य'।

अर्थात् शब्दशक्ति की मर्यादा से जिसका बोध न हो सके किन्तु लक्षणा द्वारा बोधित हो। इसीलिए एक ओर श्रुति उसे दुर्बोध्य कहती है—**'यतो वाचो निवर्तन्ते'** और दूसरी ओर **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** द्वारा उसे बोधगम्य बताती है।

कामकलाक्षर बिन्दुत्रयात्मक है और तीनों बिन्दु सूर्य, सोम और अग्निरूप है। सोम, सूर्य और अग्नि की अकार, उकार और मकार से एकरूपता सम्पूर्ण

---

१. रजसः परं परोरजसे–रजोऽतीतम्। निर्मलमिति निर्गुणमिति वार्थः। रजःशब्दस्य धूलीवाचकत्ववद् गुणत्रयोपलक्षकत्वसम्भवात्।—सावदोमित्यस्य सवदोऽवादश्च यः प्रणवः। वक्तुं शक्यो वक्तुमशक्यश्चेत्यर्थः। शब्दैः शक्तिमर्यादया न बोध्यः शक्यतावच्छेदकधर्ममात्रस्य परतत्त्वे विरहात्। लक्षणया तु बोध्यः सत्यज्ञानादिपदशक्यविशिष्टतादात्म्यसम्बन्धशालित्वात्।

वरिवस्याप्रकाश, पृ० ३९

आगमों में प्रसिद्ध है। इस प्रकार समग्र त्रिकात्मक संसार कामकलाक्षर अथवा प्रणव में ही विश्रान्त है **'त्रिपुरामहिमस्तोत्र'** के आठवें श्लोक की व्याख्या करते हुए नित्यानन्द[1] ने इसे स्पष्ट किया है। पुष्पदन्त ने जहाँ शिवमहिम्नस्तोत्र में संसार के आधारभूत—वेदत्रयी, अवस्थात्रय, त्रिभुवन, सुरत्रय आदि त्रिकों को प्रणव के वर्णों से ही उद्‌भूत बताया है वहीं शक्तिमहिमस्तोत्र में देशिकेन्द्र दुर्वासा ने इच्छा, ज्ञान, क्रिया, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सूर्य, सोम, अग्नि; लोकत्रय, पीठत्रय, लिङ्गत्रय, कालत्रय, वेदत्रय, वह्नित्रय, स्वरत्रय एवं सम्पूर्ण विश्व की प्रणव से अभिन्न[2] **कामकला अथवा त्रिपुरसुन्दरी** से उत्पत्ति की सूचना दी है—

> **त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरानकारा-**
> **द्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।**
> **तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः।**
> **समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥ २७॥**

म० स्तो०

> **आद्यैरग्निरवीन्दुबिम्बनिलयैरम्ब त्रिलिङ्गात्मभि-**
> **र्मिश्रारक्तसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः॥**
> **स्वात्मोत्पादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयं-**
> **रुद्‌भूतं त्रिपुरेति नाम कलयेद्यस्ते स धन्यो बुधः॥ १८॥**

क्रोधभट्टारक (श० म० स्तोत्र)

रुद्रयामल में 'उमा' नाम शक्ति को भी ॐ से अभिन्न कहा गया है। वस्तुतः उमा, ओङ्कार और कुण्डलिनी भी एक ही तत्व है। **"उमेति परमाशक्तिः**

---

१. कामकलाक्षरस्य बिन्दुत्रयात्मकत्वेन बिन्दुत्रयस्य सूर्यसोमाग्नित्वेन, सोमसूर्याग्नीनामकारोकारमकारात्मता सर्वत्रागमेषु दृष्टेत्येतत्सर्वं त्रिकात्मकं कामकलाक्षरे विश्रान्तमिति प्रणवेनापि कामकलाक्षरमेव गीयते इति तात्पर्यम्॥

त्रिपुरामहिमस्तोत्र टीका, पृ० ९
(काव्यमालान्तर्गत)

२. आद्यो जाप्यतमार्थवाचकतया रूढः स्वरः पञ्चमः,
सर्वोत्कृष्टतमार्थवाचकतया, वर्णः पवर्गान्तिकः।
वक्तृत्वेन महाविभूतिसरणिस्त्वाधारगो हृद्‌गतो,
भ्रूमध्यस्थित इत्यतः प्रणवता ते गीयते चागमैः॥ १९॥

त्रिपुरामहिमस्तोत्र टीका

पूर्वभावमुपेयुषी। अध्युष्टवलयाकारा प्रणवत्वमुपागता। अकाररूपिण्यजरा शिवानन्ता मदद्भवा ॥ शक्तिस्तोत्र की टीका में उद्धृत, पृ० १७

रहस्यवेत्तागण उमा[1] को देवी-प्रणव की संज्ञा प्रदान करते हैं। लिङ्ग पुराण में परमशिव ने भगवती के प्रति कहा है—"मेरे प्रणव में अ, उ, और म अवस्थित है। तुम्हारे प्रणव में क्रमशः उकार, मकार और अकार की स्थिति है। महावाशिष्ठ में भी भगवती को इसी लिए उमा कहा गया है क्योंकि ओङ्कार सार-शक्ति रूप है। सम्पूर्ण प्राणियों की समस्त बुद्धियाँ जब सो जाती हैं अथवा प्रबुद्धदशा के वर्तमान रहने पर भी, हृत्पुण्डरीक के अन्तर्गत दहराकाशरूपी शिव के शिर में अकारादि मात्रात्रयशून्य प्रणवनादभागी शब्दब्रह्मात्मक अनाहतनादरूप में जो इन्दुकला वर्तमान रहती है वही उमा है। इस ज्योतिर्मय, अमात्र इन्दुकला के सम्बन्ध में ही कहा गया है—

"अर्द्धमात्रात्मको नादः श्रूयते लिङ्गमूर्द्धनि ॥"

वायवीयसंहिता

अर्द्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ।"

दुर्गासप्तशती

तुरीय तत्त्वात्मक यह हैमवती उमा ही अतितुर्य तत्त्व का दिङ्‌निर्देश करती है। प्रणव की सुप्रसिद्ध अकार, उकार, मकार, विन्दु और नाद इन कलाओं का स्वच्छन्दतन्त्र में पञ्चप्रणव के नाम से उल्लेख किया गया है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इनके देवता हैं। उपर्युक्त कलाओं को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म के नाम से भी निर्देश[2] करते हैं।

---

१. अतएवास्य पदस्य देवीप्रणव इति संज्ञेति रहस्यविदः। उक्तं च लैङ्गे भगवतीं प्रति परमशिवेनैव—अकारोकारमकाराः मदीये प्रणवे स्थिताः। 'उकारं च मकारं च अकारं च क्रमेरितम्। त्वदीयं प्रणवं विद्धि त्रिमात्रं प्लुतमुत्तममिति'। 'महावाशिष्ठेऽपि—ओङ्कारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता'।

सौभा० भा०, पृ० १३५

२. अकारश्चउकारश्च मकारश्च तृतीयकः।
वर्णत्रयमिदं प्रोक्तं ब्रह्माद्याः देवतास्त्रयः ॥ २३ ॥
बिन्दुनादसमायोगादीश्वरश्च सदाशिवः।
एते वै प्रणवाः पञ्च हंसः प्राणयुतः सदा ॥ २४ ॥
ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम् ॥ ४
प्रणवं पञ्चधा ज्ञात्वाभित्वा मोक्षो न संशयः ॥

स्वच्छन्दतन्त्र, पटल ६

प्रणव सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण है, इसी के द्वारा जीवन प्रतिष्ठित रहता है। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना, अपनी इन बारह कलाओं से ओङ्कार, पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त समस्त तत्त्वों और भुवनों को आकलित करता है। इसी प्रकार '**ओम् इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्**' यह निगमोक्ति वास्तविकता को ही व्यक्त करती है—

प्रणवः प्राणिनां प्राणो जीवनं सम्प्रतिष्ठितम् ।
गृह्णाति प्रणवः सर्वं कलाभिः कलयेच्छिवम् ॥

नेत्रतन्त्र, अधि० १२

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्द्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥ २२५ ॥
कौण्डिलो व्यापिनी शक्तिः समनैकादशी स्मृता ।
उन्मना च ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ॥ २२६ ॥

स्वच्छन्द०, पटल ४

समनापर्यन्त पाशजाल का विस्तार माना जाता है। इसको पार करके उन्मना में अवस्थिति ही मोक्षप्राप्ति का द्वार है—

समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तं मन्त्रस्थं हेयलक्षणम् ॥ ४३२ ॥

स्वच्छन्द०, पटल ४

"**ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः**" शिवमहिम्न के इस स्तोत्र की व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है—"**ध्वनीनां चाणुत्वाणुतरत्वाणुतमत्वादिकं गुरूपदेशादधिगन्तव्यम् ॥**"

वस्तुतः ओङ्कारगत अणुतर ध्वनियाँ उपर्युक्त बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी आदि ही हैं। महायोगी भास्करराय[1] ने लिखा है कि बिन्दु, अर्द्धचन्द्र आदि नव कलाएँ सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम काल द्वारा उच्चरित ध्वनिविशेष अथवा वर्णविशेष है। ककारादि के सदृश स्पष्ट उच्चारण न होने पर भी "त्रिःषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः। अनुस्वारो विसर्गश्च।" इस पाणिनीय शिक्षा के अनुसार जैसे अनुस्वारादि को वर्ण माना जाता है वैसे ही इन्हें भी वर्ण मानने में कोई अनौचित्य नहीं। योगिनीहृदय आदि में नाद की

---

१. बिन्द्वादयो नवापि सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमकालैरुच्चार्या ध्वनिविशेषाः वर्णविशेषा वा। वरिवस्या० प्रकाश, पृ० १०

अक्षरत्व सम्बन्धी मान्यता प्रायः देखी जाती है। इसी आधार पर पञ्चदशाक्षरी विद्या को, प्रथम, द्वितीय और तृतीय कूटों को मिलाकर अट्ठावन वर्णों की संहति[1] रूप में स्वीकार किया जाता है।

बिन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त नव कलाओं की समुदित रूप में 'नाद' यह संज्ञा है। भास्करराय का कहना है कि वस्तुतः बिन्दु से रहित आठ कलाओं की ही नाद—यह आख्या है—

विन्द्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते ॥ १३ ॥

प्रथम अंश, वरिवस्यारहस्य

यद्यपि बिन्दुविनिर्मुक्तानां अष्टानामेव नादसंज्ञा मन्त्रशास्त्रे, तथापि व्यवहारसौकर्याय तत्सहितानामेव सात्र कृतेति ध्येयम्।

वरि० र० प्रकाश टीका, पृ० ११-१२

बिन्दु की आधी मात्रा मानी जाती है। अर्द्धचन्द्र और रोधिनी आदि में पूर्व-ध्वनि की आधी-आधी मात्रा समझना चाहिए। अर्द्धचन्द्र से अर्द्धकाल रोधिनी में और रोधिनी का अर्द्धकाल नाद में इस प्रकार क्रमशः उत्तरोत्तरकाल में सूक्ष्मता आती जाती है।

कालपरमाणु ही लव है। कमलपत्रों को, नीचे ऊपर रक्खे हुए, एक साथ ही सुई से भेदन करने पर प्रत्येक दल में जितना काल लगता है उसी की संज्ञा लव है। कहा जाता है इससे सूक्ष्मकाल की उपलब्धि नहीं होती। दो सौ छप्पन लवों की एक मात्रा होती है। बिन्दु का उच्चारणकाल एक सौ अट्ठाइस लव है। अर्द्धचन्द्र का चौसठ, रोधिनी का बत्तीस, नाद को सोलह, नादान्त का आठ, शक्ति का चार, व्यापिका का दो और समना का एक लव होता है। उन्मना सर्वथा कालहीन है। यहाँ क्षण से लेकर परार्द्धान्तकाल, निवृत्ति से लेकर शान्त्यतीतादि कलाएँ, प्राणचार, भुवन और देवताओं की गति नहीं है। इसको गुरुवक्त्र अथवा परमशिव की प्राप्ति का द्वार बताया गया है। इससे आगे अनामय परतत्त्व की स्थिति है—

हेयाध्वानमधः कुर्वन् रेचयेत्तं वरानने ॥ १२७५ ॥
यावत्सा समना शक्तिः तदूर्ध्वं चोन्मना स्मृता।
नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवताः ॥ १२७६ ॥
सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते।
तदतीतं वरारोहे परं तत्त्वमनामयम् ॥ १२७७ ॥

स्वच्छन्द०, पटल १०

---

१. द्रष्टव्य वरिवस्या० प्रकाश, पृ० ११

योगिनीहृदय के अनुसार उन्मना भी कालात्मक है ।

"शक्त्यादीनां तु मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी" ॥ ३४ ॥

नित्याषोडशिकार्णव के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए सेतुबन्ध[1] में भास्करराय ने कहा है कि मनोन्मनी अर्थात् समना के सदृश उन्मना का भी काल एकलवात्मक ही है। पुनः समना में भेद क्या होगा इसका उत्तर देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया है कि आकृति से सूक्ष्म होने के कारण विद्यमान भी काल उन्मना में दुर्लक्ष्य रहता है यही उसका परत्व है। इस प्रकार—

देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वं परमं महत् ।
निसर्गसुन्दरं तत्तु परानन्दविघूर्णितम् ॥ ३५ ॥

६ विश्राम, नि०

उन्मना से परे देश-काल से विहीन, निसर्ग सुन्दर शिवशक्ति सामरस्यात्मक परानन्द से व्याप्त महाबिन्दुरूप **अतितुर्य** तत्व की कालहीनता का कथन सङ्गत हो जाता है ।

वस्तुतः स्वच्छन्दतन्त्र में भी उन्मनान्त में ही कालहीनता मानी गई है ।

ऊर्ध्वमुन्मनसो यत्र तत्र कालो न विद्यते ॥ ३११ । पटल ११
उन्मन्यन्ते परे योज्यो न कालस्तत्र विद्यते ॥ २८६। पटल ४

पीछे उद्धृत स्वच्छन्दतन्त्र की संगति भी निम्नांकित रूप से सम्भव है। क्रमात्मक—कार्यकारणादि सम्बन्धी तथा अक्रमात्मक—चित्र और ज्ञानादि सम्बन्धी सम्पूर्ण कलनाभास का साम्य—प्रकर्षापकर्षशून्यता ही काल है। **"स कालः साम्यसंज्ञश्च जन्ममृत्युभयापहः"** (स्वच्छन्द, ११ पटल, श्लोक ३०९)

यह काल उन्मना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसी को काली नामक पराशक्ति भी कहते हैं—

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परःसंविदि वर्तते ।
काली नाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते ॥ ७ ॥

तन्त्रा०, आ० ६

व्याकरणागम में कहा गया है कि शब्दब्रह्म काल[2] शक्ति का आश्रय लेकर

---

१. मनोन्मनीति समनाया एव संज्ञान्तरम् । यथा समनायाः कालः तथैवोन्मनीकाल इत्यर्थः । एकलवात्मक एव काल इति यावत् । समनातोऽस्याः रूपकालकलामानमिति तत्तु समनात आकृत्या सूक्ष्मत्वाद्विद्यमानोऽपि कालो दुर्लक्ष्य इत्येवं परम् । सेतुबन्ध, पृ० २०८

२. अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥ ३ ॥

नाना जन्मादि विकारों का जनक बनाता है। सर्वबीज शब्दब्रह्म इस शक्ति द्वारा भोक्ता, भोग्य और भोगरूप में प्रसृत होता है। यह कालशक्ति ही स्वातन्त्र्यशक्ति है।

'एवमकालकलितमपि तत्त्वमनादिनिधनं कालाख्यस्वतन्त्रशक्तिविनिवेशित-प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञावशाज्जन्मादिभावविकाराभिधीयमानपौर्वापर्यं चकास्ति।'

पृ० ९०, बनारस सं० सीरीज
हेलाराजकृत वाक्यपदीय टीका, काण्ड ३

स्वतन्त्रकालशक्ति अनादिनिधन एवं काल की कलना से रहित शब्दब्रह्म में जन्मादि समस्त पौर्वापर्यरूप क्रम को अवभासित करती है। इसकी अनुज्ञा से पदार्थों का आविर्भाव तथा प्रतिबन्ध से तिरोभाव होता है। यह उन्मना ही कालशक्ति, स्वातन्त्र्य और परावाणी है ऐसा तान्त्रिकों का मत है।

"तेन उन्मनीरूपेण मया पञ्चदशकालाभिमानिनी सम्यगभेदेन ज्ञायत इत्यर्थः। लवत्रुटिकलाकाष्ठानिमेषमात्रानाडिकामुहूर्ताहोरात्रमाससंवत्सरयुग-कल्पमहाकल्पपरार्द्धकालपर्वाणि अकारोकारमकारबिन्दु कलानिरोधिकानाद-नादान्तशक्तिव्यापिनीव्योमरूपान्तनादान् आश्रिता समनीलक्षणप्रणवमात्रासु, मूलाधारमारभ्या द्वादशान्तं व्यवस्थितासु, सञ्चिन्त्य क्रमेण संहृत्य, अकाल-कलितायां उन्मन्यां व्यवतिष्ठेतेत्यर्थः!

पद्मपादाचार्य कृत प्रपञ्चसारत० टीका, पृ० १५-१६।

प्रयोग क्रमदीपिकाकार[1] ने काल के दो भेद किए हैं। एक परकाल और दूसरा अपरकाल। उनका कथन है कि अपरकाल ही उन्मनी है। उन्मनी शक्ति और उसके लव आदि कार्यों की अध्यक्ष ही परकालात्मा है। वस्तुतः

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥ ४॥

वाक्यपदीय, आगमकाण्ड

१. परकालचिद्रूपस्योपाधिरपरकालानाद्यन्तस्वभावादिसकलकार्यकालमूल-भूतोन्मनीशक्तिरेव। तस्यास्तदीयलवादिकार्याणां चाध्यक्षभूतः परकालात्मा। पञ्चदशकालाभिमानिनीत्यपरकालक्षणोन्मनीरूपा प्रकृतिः। अत्र शिरोरेखाल-वाद्यभिमानिन्याः उन्मन्याः स्वात्मभूतपरकालचिद्रूपेणैकताभिधानात् तथाविधो योगोऽप्युक्तो भवति। सा तु कालात्मनेत्युन्मन्याः स्वोपाधेरपि साक्षी परः कालः कालेनैवं प्रचोद्यत इति तद्विशिष्ट एव परःकाल इति भेदः।

आ० समिति स० प्रयोगक्रमदीपिका पृ० ४०९-४११

वे मानते हैं कि साक्षी अथवा चरमतत्त्व परकालात्मा चिद्रूप है, कुण्डलिनी-रूप उन्मनीशक्ति उसकी अपनी उपाधि है। वस्तुतः ऐसा स्वीकार करने पर भी सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं आता। हाँ दृष्टिभेद अवश्य है।

काल का द्विधात्व आचार्य पद्मपाद को भी अभिमत है—

सैव स्वां वेत्ति परमा तस्याः नान्योस्ति वेदिता।
सा तु कालात्मना सम्यक् मयैव ज्ञायते सदा॥ २८॥

प्रथम पटल

प्रपञ्चसार के उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—परमा—साक्षिलक्षण पराप्रकृति ही स्वसम्बन्ध अपराशक्ति को जानती है। और वह—लव से लेकर परार्द्ध पर्यन्त पन्द्रह कालपर्वों की अभिमानिनी अपरा कालशक्ति मुझ उन्मनीरूप काल के द्वारा अभेदरूप से जानी जाती है—

सैव परमा साक्षिलक्षणा परा प्रकृतिः पूर्वोक्ता स्वसंवेद्यस्वरूपा स्वां स्वसम्बन्धिनीम् अपरां शक्तिम् वेत्ति। पृ० १२। कालस्यापरस्य पञ्चदशधा भिन्नस्यापि आत्मा कालात्मा। पृ० १५, प्रपञ्चसारविवरण।

प्रपञ्चसारविवरण और प्रयोगक्रमदीपिका की कालसम्बन्धी विवेचना में अन्तर पूर्णतया स्पष्ट है। पूर्वोक्त बिन्दु, अर्द्धचन्द्र आदि कलाओं का सन्निवेश न केवल प्रणव में किन्तु देह और श्रीचक्र में भी पाया जाता है। वस्तुतः प्रवण की कलाएँ सम्पूर्ण शरीर में (पिण्ड में) विभक्त रहती है अतः इसे (प्रवण को) पिण्डमन्त्र भी कहा जाता है। सारे पिण्ड में व्याप्त रहने पर भी हृदयदेश में विशेष रूप से ओङ्कार ध्वनित होता है[1]—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥ पृ० ३७

शिवोपाध्यायकृत विज्ञानभैरवविवृति।

दीप[2] के सदृश वृत्ताकारबिन्दु, ललाटदेश में अवस्थित रहता है। बिन्दु से ऊपर अर्द्धचन्द्र का स्थान है। इसका आकार तथा कान्ति स्वानुरूप ही है।

---

१. पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु।
अर्द्धेन्दुबिन्दुनादान्तः शून्योच्चाराद्भवेच्छिवः॥ ४२॥

विज्ञानभैरवतन्त्र।

२. द्रष्टव्य वरिवस्यारहस्य, प्र० अंश

इसके अतिरिक्त वामकेश्वरतन्त्रान्तर्गत नित्याषोडशिकार्णव, ६ ठा विश्राम, श्लोक २८ से ३५ तक।

इसके आगे त्रिकोणाकृति रोधिनी, चन्द्रिकासदृश कान्ति से शोभायमान रहती है। रोधिनी से परे नाद की स्थिति है जो दो बिन्दुओं के मध्य में पद्मरागमणि के समान मृदु और सूक्ष्म दण्डवत् भासित होता है। नादोत्तर नादान्त अवस्थित है। इसका आकार वामभाग में बिन्दु तथा ऊपर और दक्षिणहल के समान प्रतीत होता है। इसकी आभा तड़ित के समान उज्ज्वल होती है। जिसमें दो तिरछे बिन्दु हों और वामस्थ बिन्दु से एक रेखा निकल रही हो और दक्षिणबिन्दु शिरा रहित हो तो वही शक्ति का आकार है। बिन्दु से निकलता हुआ त्रिकोण ही व्यापिका की आकृति है। ऊर्ध्व और अधोभागस्थ बिन्दुद्वय से संयुक्त रेखाकृति समना कही गई है तथा ऊर्ध्वबिन्दु से हीन वही उन्मना है। इन तीनों की कान्ति द्वादश सूर्यों की समष्टि के सदृश होती है। सबसे परे महाबिन्दु की अवस्थिति है।

वस्तुतः[1] परविमर्शमयी, अहन्तैकरस, पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्ति ही

---

१. वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैव परविमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्तिरहन्तैकरसा स्वरूपगोपनक्रीड़ा सदाशिवानाश्रितपदात्मकसर्वभावाभाससूत्रणभित्तिकल्पसमनारूपतया स्फुरति। स्वच्छ० उद्योत, पृ० ६, पटल ११

सा शक्तिः परमा सूक्ष्मा उन्मना शिवरूपिणी।
अस्तित्वमात्रमात्मानं क्षोभ्यं क्षोभयते यदा ॥ ६० ॥
समनासौ विनिर्दिष्टा शक्तिः सर्वाध्ववर्तिनी।
क्रोडीकरोति या विश्वं संहृत्य सृजते पुनः ॥ ६१ ॥
कुण्डला या महाशक्तिस्तृतीयाप्युपचर्यते।
ध्वनिरूपां यदा स्फोटस्त्वदृष्टाच्छिवविग्रहात् ॥ ६२ ॥
प्रसरत्यतिवेगेन ध्वनिनापूरयञ्जगत्।
स नादो देवदेवेशः प्रोक्तश्चैव सदाशिवः ॥ ६३ ॥
ध्वनिरध्वगतो यत्र विश्राम्यत्यनिरोधतः।
निरोधिनीति विख्याता सर्वदेवनिरोधिका ॥ ६४ ॥
निरुद्धस्य महेशत्वमहिमा न प्रवर्तते।
असंख्यातास्तु कोट्यो वै मन्त्राणां तत्र संस्थिताः ॥६५॥
लभन्ते तत्प्रविष्टा वै स बिन्दुश्चेश्वरः स्मृतः।
यदा शिवामृतं मूर्ध्नि पतति सृष्टिकारणम् ॥ ६६ ॥
आप्यायस्तु भवेत्तेन सार्द्धचन्द्र इतिस्मृतः।
संहारः सर्वभूतानां सृष्टिकारणमेव च ॥ ६७ ॥
मकारो ह्यत्र वै रुद्रो वर्णसंघट्ट उत्तमः।
यदा स्थितिं च लभते स्वोन्मुखं सृष्टिकारणम् ॥ ६८ ॥

उन्मना है। यही शक्ति अपने रूप को छिपाने के खेल की इच्छा से, सदाशिव अनाश्रित पदात्मक सम्पूर्ण भावाभासों की भित्तिरूप, अशेष मन्तव्य-मनन-मात्रात्मक समना के नाम से स्फुरित होती है। यह समना व्योमरूप है। इससे शून्यनामक व्यापिनीशक्ति उदित होती है। व्यापिनी से ही प्रसुप्त भुजंगाकार कुण्डलाख्य महाशक्ति का जन्म होता है। इसकी स्पर्श संज्ञा है! इसके अनन्तर आकृतिहीन, दृष्टरूप, परनादात्मक प्रकाशानन्दघन शिव से स्फोटात्मक शब्दब्रह्म अपनी ध्वनि से (अनुरणन द्वारा) सारे जगत् को भरता हुआ अत्यन्त वेग से फैलता है। इस नाद को देवदेवेश सदाशिव कहा जाता है। उपर्युक्त परनादात्मक शिव को परमेश्वरी परावाक्रूप उन्मना ही समझना चाहिए। इसमें वर्तमान घण्टासदृश अनुरण ही नादान्त है। इसके अनन्तर निरोधिनी का स्थान है जहाँ अनाहत नादात्मा सदाशिव विश्राम करते हैं। यहाँ बड़े-बड़े देवताओं का प्रवेश भी अत्यन्त दुष्कर है। अनन्तर नादात्मक-शिव का सदाशिव सम्बन्धी, स्फुट इदन्ताभासात्मक (सृष्टिवीर्यरूप) अमृत का उन्मेष होता है इसी का नाम अर्द्धचन्द्र है। अर्द्धचन्द्र से नीचे पूर्णचन्द्राकार, ज्ञानशक्तिप्रधान, नादपरामर्श को अपने उदर में लिए हुए, सम्पूर्ण स्रष्टव्य वेद्य वर्ग से अविभक्त, क्रियाशक्त्यात्मा ईश्वररूप बिन्दु का प्रादुर्भाव होता है। इसकी प्रभा करोड़ों सूर्यों के समान मानी गई है। यही सृष्टि और संहार का कारण है। इसके पश्चात् बिन्दु, वर्णों के विश्रान्तिस्थान मकार के रूप में उद्भूत होता है। इसका अधिष्ठाता रुद्र है। माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति और पुरुष इसी मकार के अन्तर्गत हैं। प्रमेयप्रधान सृष्टि का कारण-रूप बिन्दु मकारात्मक मन्त्रावयवस्वरूप लाभ करके जब प्रमाण रूप स्व संवित् की ओर उन्मुख होकर स्थिति लाभ करता है तब प्रतिष्ठा-कला के अन्तर्गत उकार का रूप ग्रहण करता है। इसे साक्षात् विष्णु के रूप में जाना जाता है। इससे नीचे अकाराख्य परमधाम है जहाँ कमलासन ब्रह्मा जी शोभित रहते हैं। यहाँ आकर प्रणव की निष्पत्ति होती है। पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसृष्टि का यहाँ उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त अणुध्वनियों की पारिवारिक अन्य कलाओं का भी निर्देश मिलता है।

प्रतिष्ठाख्य उकारस्तु विष्णुः साक्षाद्भवत्यसौ।
निवृत्तिस्तु यदा सर्वं निष्पन्नं प्रणवं विभुः॥ ६९॥
अकाराख्यं परं धाम ब्रह्मा स कमलासनः।
मन्त्रसृष्टिर्भवेदेषा शिवस्य परमात्मनः॥ ७०॥

नेत्रतन्त्र, अधिकार २१

पैर[1] के अंगूठे से लेकर हृदयपर्यन्त अकार का मार्ग है। इसमें अनन्त भुवनात्मक प्रपञ्च विद्यमान रहता है। ब्रह्मदैवत्य, सद्योजातरूप अकार अपनी सिद्धि, ऋद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ति, धृति और स्वधा—इन आठ कलाओं में संयुक्त होकर सम्पूर्ण प्राणियों में आकलित होता है। पृथिवी से लेकर प्रधानपर्यन्त तत्त्वों की यहाँ व्याप्ति है।

उकारात्मक वामदेव कलाएँ निम्नांकित हैं :—

रजा, रक्षा, रति, पाल्या, काम्या, तृष्णा, मति, क्रिया, वृद्धि, माया, नाड़ी, भ्रामणी और मोहिनी। हृदय से कण्ठ तक वैष्णवांश में इनकी अवस्थिति है। पुरुषतत्त्व का यहाँ सङ्कलन होता है।

तम, मोहा, क्षुधा, निद्रा, मृत्यु, माया, भया, जरा ये उकारात्मक अघोर कलाएँ हैं। कण्ठ से लेकर तालुपर्यन्त रुद्रांश[2] में इनकी स्थिति है। यहाँ नियति से मायापर्यन्त तत्त्वों का परिगणन किया जाता है।

निवृत्ति[3], प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति—ये तत्पुरुष कलाएँ हैं। इनका स्थान भ्रूमध्य है। ये बिन्दुरूप ईश्वरतत्त्व में स्थित हैं।

---

१. अकारं ब्रह्मदैवत्यं हृदयं यावदध्वनि ॥ २५ ॥
कलाष्टकेन संयुक्तं कलयेत् सर्वजन्तुषु ।
सिद्धिर्ऋद्धिद्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिधृतिः स्वधा ॥ २६ ॥
सद्यो ब्रह्मकला एताः पश्चिमं व्याप्य संस्थिताः ।
रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मति क्रिया ॥ २७ ॥
वृद्धिर्माया (वृद्धिकाया) च नाडी च भ्रामणी मोहनी तथा ।
वामदेवकला ह्येता वैष्णवांशे व्यवस्थिता ॥ २८ ॥
कण्ठान्तयावत् तद्व्याप्तमापो व्याप्य स्थितास्त्विमाः ॥

नेत्रतन्त्र, अधिकार २२

२. तमो मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ॥ २९ ॥
अघोरस्य कला ह्येता रौद्रांशे तु व्यवस्थिताः ।
तालवन्तयावत्तद्व्याप्तं तैजसी व्याप्तिरुत्तमा ॥ ३० ॥

३. निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
पुरुषस्य कला ह्येता ईश्वरे तु व्यवस्थिताः ॥ ३१ ॥
वाय्वावरणमाश्रित्य विन्द्वन्तं यावदुज्ज्वलाः ।

तारा[1], सुतारा, तरणी, तारयन्ती, सुतारिणी, ये ईशान कलाएँ हैं। सदाशिवात्मक नादतत्त्व से इनका सम्बन्ध है। यहाँ तक ईशानादि पञ्चब्रह्म तथा व्योमादि पञ्चभूतात्मक स्थूलाध्वा कहा जाता है।

अर्द्धचन्द्र[2] की कलाएँ निम्नांकित हैं—

ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, सुप्रभा, विमला और शिवा।

रुन्धनी, रोधनी, रौद्री, ज्ञानबोधा, तमोपहा ये निरोधिका कलाएँ हैं।

नादकलाएँ—इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका।

नादान्त की—ऊर्ध्वगा नामक एक ही कला है।

सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमृतसम्भवा और व्यापिनी ये शक्ति कलाएँ है।

व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता और अनाथा—ये व्यापिनी की कलाएँ कही गई हैं।

समना से सम्बद्ध कलाएँ—सर्वज्ञा, सर्वगा, दुर्गा, सवना, स्पृहणा, और धृति।

---

१. तारा, सुतारा, तरणी, तारयन्ती, सुतारणी ॥ ३३ ॥
द्वादशान्तपदारूढ़ा तुर्यान्तास्तु कलाः स्मृताः।
ईशानस्य कला ह्येताः पञ्च वै कारणात्मिकाः ॥ ३४ ॥
स्थूलस्त्वेवं समाख्यातो ह्यध्वा वै ब्रह्मभूतजः।
सूक्ष्मं चैवमतो वक्ष्ये ह्यध्वानं तु यथास्थितम् ॥ ३५ ॥

नेत्रतन्त्र, अधिकार २२

२. ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती चैव सुप्रभा विमला शिवा।
अर्द्धचन्द्रकला ह्येताः सर्वज्ञपदसंस्थिताः ॥ ३७ ॥
रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा।
निरोधिकाकला ह्येताः सर्वदेवनिरोधिकाः ॥ ३९ ॥
इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ॥ ४० ॥
ऊर्ध्वगामिन्य इत्येताः कला नादसमुद्भवाः ॥ ४१ ॥
सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च ह्यमृतामृतसम्भवा ॥ ४२ ॥
व्यापिनी चैव विख्याता शक्तितत्त्वसमाश्रिताः।

× × ×

व्यापिनी व्योमरूपा च ह्यनन्तानाथ संज्ञिता।
अनाश्रिता महेशानि व्यापिन्यास्तु कलाः स्मृताः।
सर्वज्ञा सर्वगा दुर्गा सवना स्पृहणा धृतिः ॥ ४५ ॥
समना चेति विख्याता एताः शिवकलाः स्मृताः ॥

नेत्रतन्त्र, अधिकार २२।

अर्द्धचन्द्र से लेकर उन्मनापर्यन्त सम्पूर्ण ध्वनि वर्ग 'नाद' शब्द के द्वारा बोधित होता है ऐसा पीछे कहा जा चुका है। यही पुष्पदन्त द्वारा उल्लिखित अखण्डचैतन्यात्मक ज्योतिर्मय तुरीय धाम है जो अणु ध्वनियों से व्याप्त रहता है—'तुरीयं ते धामध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः' ॥ (शि० म० २७)

'तीर्णविकृतिं सर्वविकारातीतं तुरीयं अवस्थात्रयाभिमानिविलक्षणं तव धाम स्वरूपं अखण्डचैतन्यात्मकम्। तवेति राहोः शिर इतिवदुपचारेण षष्ठी। अणुभिर्ध्वनिभिरवरुन्धानं स्वत उच्चारयितुमशक्यैरर्द्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणवशेन निष्पाद्यमानैः सूक्ष्मशब्दैरवबोधं कुर्वत् प्रापयत्। समुदायशक्त्या बोधयदिति यावत्। अर्धमात्राया एकत्वेऽपि ध्वनिभिरिति बहुवचनं प्लुतोच्चारणे चिरकालमनुवृत्तायास्तस्याः अनेकध्वनिरूपत्वान्न विरुद्धम्।' मधुसूदनी टीका

आचार्य पद्मपाद ने प्रपञ्चसारविवरण में प्रणवान्तर्गत निम्नांकित सात मात्राभेदों का उल्लेख किया है—अकार[1], उकार, मकार, बिन्दु, नाद, शक्ति और शान्त। इनके विराट्, हिरण्यगर्भ, कारणगुण, समान्यगुण, बीज, गुणाभाव और गुणसाक्षी ये वाच्य हैं। इन्हीं में क्रमशः स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, कारणत्व, समत्व, बीजत्व, निर्विशेषत्व और साक्षित्व का दर्शन किया जाता है। प्रपञ्चसारतन्त्र के प्रणव पटल में आचार्य शङ्कर ने इन सात भेदों का संकेत किया है।

निश्चल[2] परावाक्रूप प्रणवात्मक कुण्डलिनीशक्ति ही प्रकृति है। पश्यन्ती आदि इसी की विकृतियाँ हैं। प्रणव, उच्चारण से पूर्व पूर्ण संविदात्मक परप्रणवरूप में स्थित रहता है; पश्चात् ज्वाला-प्रवाहरूप शब्दभेदों को पार करता हुआ अभिव्यक्त होता है। ज्योतिर्लिङ्गाकार चिदग्निरूप यह प्रणव भ्रमर के सदृश गुञ्जन करता हुआ मूलाधार से सुषुम्नामार्ग में प्रवेश करता है। क्रमशः अकारादि वाचकों और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव शक्ति तथा पररूपात्मक सात भेदों से शान्तावधि उपसंहृत होकर मूर्द्धदेश

---

१. द्रष्टव्य प्रपञ्चसारतन्त्र-विवरण, प्रथम पटल, पृ० १५

२. आदौ तारः प्रकृतिविकृतिप्रोत्थितोऽसौ च मूला-
धारादारादलिविरुतिराविश्य सौषुम्नमार्गम्।
आद्यैः शान्तावधिभिरनुगो मात्रया सप्तभेदैः
शुद्धो मूर्द्धावधिपरिगतः शाश्वतोऽन्तर्बहिश्च ॥ ५ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, ३० वाँ पटल

अथवा द्वादशान्त में ज्योतिर्मात्ररूप में अन्दर और बाहर—शाश्वतरूप से विद्यमान होता है।

पूर्वोक्त द्वादश कलाओं और सप्त मात्राओं में कोई विरोध नहीं है। पञ्चीकरण और त्रिवृत्करण के सदृश यहाँ एक दूसरे में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। वस्तुतः यह क्रम सप्त व्याहृतियों को दृष्टि में रख कर किया हुआ जान पड़ता है। सहस्रारयुक्त षट्चक्रों का भी इससे संकेत मिलता है—

अकारो भूरुकारस्तु भुवो मार्णः स्वरीरितः ॥ ११ ॥
बिन्दुर्महस्तथा नादो जनः शक्तिस्तपः स्मृतम् ॥
शान्तं सत्यमिति प्रोक्तं यत्स्यात् परतरं पदम् ॥ १२ ॥

प्र० सा० त०, ३० पटल

शारदातिलकतन्त्र[1] के प्रथम पटल के अन्त में निम्नाङ्कित अवरोह क्रम का उल्लेख मिलता है। शब्दब्रह्ममयी कुण्डलिनी से शक्ति का जन्म होता है। शक्ति से ध्वनि, ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका, निरोधिका से अर्द्धेन्दु, पुनः बिन्दु, बिन्दु से परा, पश्यन्ती आदि का जन्म होता है।

राघवभट्ट ने गूढार्थदीपिकाकार को उद्धृत करते हुए कहा है कि मूल कारण शब्द की, उन्मुखीकरणावस्था ही शक्ति है। इसको पुनः स्पष्ट करते हुए उन्होंने निर्देश किया है कि सत्त्वप्रविष्ट चित्शक्तिवाच्य परमाकाशावस्था ही शक्ति है। वही सत्त्वप्रविष्ट रजोनुविद्ध अक्षरावस्था ध्वनि है। वही तमोनुविद्ध शब्दवाच्य अव्यक्तावस्था नाद कहलाती है। उसी को तम की प्रचुरता के कारण निरोधिका कहते हैं। सत्त्वप्राचुर्य के कारण उसे ही अर्द्धेन्दु कहा जाता है। उभयसंयोग ही बिन्दु है। यही बिन्दु स्थानान्तरगत होकर

---

१. सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ॥ १०८ ॥
ततोऽर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरीशब्दजन्मभूः।
इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥ १०९ ॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्।
अकारादिसकारान्तां द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ॥ ११० ॥

शारदाति० त०, प्रथम पटल

परादि रूप ग्रहण करता है। राघवभट्ट ने लिखा है "**अयं च क्रमो ग्रन्थकृता सर्वशेषे उक्तोऽपि एकाद्यक्षरोत्पत्तावप्यनुसन्धेयः।**"

पदार्थादर्श, पृ० ५९ प्रथम पटल

उपर्युक्त क्रम भी, मूल शब्दतत्त्व से लेकर वर्णमालापर्यन्त विकास का द्योतक है। इससे पूर्व जिन अणुध्वनि सम्बन्धी स्तरों का उल्लेख किया गया था उनका इस क्रम में सङ्कोच कर दिया गया है। कुण्डलिनी ही उन्मना है नाद के अन्तर्गत शक्ति और नादान्त का भी समावेश है इस प्रकार इस क्रम में भी कोई विरोध नहीं।

बिन्दु के अनन्तर परा की उत्पत्ति सम्बन्धी उक्ति आपाततः विरोधजनक है। कुण्डलिनी और परा को असकृत्[1] एक कहा गया है कुण्डलिनी के मध्य में ज्योतिमात्र, सूक्ष्म, परा की अवस्थिति है। राघवभट्ट स्वयं अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

"सूक्ष्मा कुण्डलिनीमध्ये ज्योतिर्मात्रात्मरूपिणी।
अश्रोत्रविषया तस्यादुद्गच्छत्यूर्ध्वगामिनी॥"

पदार्थादर्श, पृ० ६०

सूक्ष्मा शब्द यहाँ परा का ही बोधक है। सार्द्धत्रिवलयाकारा कुण्डलिनी और सार्द्धत्रिमात्रिक प्रणव एक ही है—

"अध्युष्टवलयाकारा प्रणवत्वमुपागता"

शक्तिमहिम्नस्तोत्र टीका, पृ० १७

क्रोधभट्टारक दुर्वासा भी इसका समर्थन करते हैं[2]। मूलधार से भी नीचे वाग्भवाकार त्रिकोण में समष्टिकुण्डलिनी का निवास है। मूलाधार में अग्नि-

---

१. सैषा परावाग्लक्षणा कुण्डलिनी। तस्यास्तिस्रोऽवस्थाः पश्यन्त्याद्याः ता एव इह परपरापरापरकुण्डलिन्य उक्ताः।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४०६

परापश्यन्त्यात्मिका हि शक्तिरध्यात्मवर्तिनी कुण्डलिनी। सामान्यशक्तिः कुण्डलिनी तस्याः विशेषांशा विन्द्वादिसमन्विताः शक्तय इत्येवमुक्तम्।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ५८१

२. आद्यो जाप्यतमार्थवाचकतया रूढः, स्वरः पञ्चमः
सर्वोत्कृष्टतमार्थवाचकतया वर्णः पवर्गान्तकः।
वक्तृत्वेन महाविभूतिसरणिस्त्वाधारगो हृद्गतो
भ्रूमध्यस्थित इत्यतः प्रणवता ते गीते चागमैः॥ १९॥

त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र

कुण्डलिनी हृदय में सूर्यकुण्डलिनी और भ्रूमध्य में सोमकुण्डलिनी की स्थिति है। वस्तुतः इससे समष्टिप्रणव तथा अकार, उकार और मकार का ही बोध होता[1] है। परमादित्यस्तोत्र में कहा गया है कि—"परमादित्य प्राणिमात्र के अन्दर शब्दात्मक ओङ्कार अथवा प्रणव के रूप में निनदित होता रहता है और उससे तन्मात्रात्मक शब्द को गर्भ में लिए हुए परा का जन्म होता है"—

"ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो
वाणी यस्मात् प्रभवति परा शब्दतन्मात्रगर्भा।"
प्राणापानौ वहति च समौ यौ मिथोग्रासरक्तौ।
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये ॥ ३ ॥

साम्बपञ्चाशिका

यहाँ भी परा की उत्पत्ति सम्बन्धी चर्चा की गयी है। भास्करराय ने लिखा है कि शब्दब्रह्मरूप बीज की उच्छूनतावस्था ही परा है, स्फुटितावस्था पश्यन्ती, मुकुलित अव्यक्त, दलद्वयावस्था मध्यमा और सम्यक् विकसित अवस्था ही वैखरी है। इस प्रकार जन्म की बात औपचारिक अधिक है। वस्तुभेद वहाँ नहीं कहा जा सकता—

"तत्र शब्दब्रह्मरूपस्य बीजस्योच्छूनतावस्था परा स्फुटितावस्था पश्यन्ती, मुकुलिताव्यक्तं दलद्वयं मध्यमा। सम्यग् विकासेन प्रसृतं मिथः संसृष्टमूलं दलद्वयं वैखरी।" सौभाग्यभास्कर, पृ० ३३

परिपक्व, कर्मों के आकारवाली माया से विशिष्ट ब्रह्म ही अव्यक्तपद द्वारा बोधित होता है। और इसी लिए उसकी उत्पत्ति का स्मरण किया गया है—**"तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।"** जगद्रूप अंकुर का कन्द होने के कारण उसे ही कारणबिन्दु कहते हैं। इसी को लक्ष्य में रखकर प्रपञ्चसार-तन्त्र में कहा गया है—**"विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति बिन्दुताम्।"** ४१ (प्र० सा०, प्रथम पटल) बिन्दु से क्रमशः कार्य बिन्दु, नाद और बीज यह त्रिक उत्पन्न होता है। यही त्रिक क्रम से पर, सूक्ष्म और स्थूल पदों से कहा जाता है। चिदंशात्मक, चित् और अचित् अंश से मिश्रित तथा अचित् अंशात्मक इनके क्रमशः रूप है—

---

१. चतुर्विधतनुं अग्निसूर्यसोमसमष्टिरूपेण, अग्निकुण्डलिनी मूलाधारे। सूर्यकुण्डलिनी हृदये, सोमकुण्डलिनी भ्रूमध्ये, समष्टिकुण्डलिनी मूलाधाराधोगतवाग्भवाकारत्रिकोणे।

नित्यानन्द कृत श० महिम्नस्तोत्र, व्याख्या, पृ० ६

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा ।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते ॥ ४२ ॥
स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन च निगद्यते ।

प्रपञ्च सा० तन्त्र, प्रथम पटल

कारणबिन्दु, कार्यबिन्दु, नाद और बीज इनके अधिदैवत, अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्; शान्ता, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री; अम्बिका, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। निम्नाङ्कित पीठ ही अधिभूत है—कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर तथा उड्याण। 'नित्याहृदय' में इसे स्पष्ट किया गया है। शक्ति (परा), पिण्डमन्त्र (प्रणव), तथा कुण्डली आदि शब्दों द्वारा बोध्य कारणबिन्दु ही अध्यात्म है। इसी के सम्बन्ध में कहा गया है—

या मात्रा [1]त्रपुसीलतातनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्द्धिनी
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता तव सदा तां सन्महे ते वयम् ।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा ।
ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः ॥ २ ॥

पञ्चस्तवी

अधिभूत, अधिदैव, और अध्यात्म रूपों से अविभक्त कारणबिन्दु, जब कार्यबिन्दु आदि त्रिक को उत्पन्न करने के लिए उन्मुख होकर भेद को प्राप्त होता है उसी दशा में वहाँ अव्यक्त शब्दब्रह्मात्मक रव उत्पन्न होता है—

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानादव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ॥ ४४ ॥

प्रपञ्च० तन्त्र, प्रथम पटल

उपर्युक्त रव कारणबिन्दु से कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। कारण-बिन्दु से तादात्म्यापन्न यह रव सर्वगत होने पर भी व्यञ्जक प्रयत्न से संस्कृत वायु द्वारा प्राणियों के मूलाधार में व्यक्त होता है—

देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन् समुदेति समीरणः ॥
विवक्षोरिच्छयोत्थेन प्रयत्नेन सुसंस्कृतः ॥
स व्यञ्जयति तत्रैव शब्दब्रह्मापि सर्वगम् ॥

सौभाग्यभास्कर, पृ० ९९

कारणबिन्द्वात्मक[2] यह अभिव्यक्त शब्दब्रह्म, स्वप्रतिष्ठ रहने पर निष्पन्द रहता है और यही परावाक् है।

---

१. ककड़ी अथवा खीरा की लता।

२. तदिदं कारणबिन्द्वात्मकमभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया निष्पन्दं तदेव च परा वागित्युच्यते। सौभाग्यभास्कर, पृ० ९९

घनीभूतब्रह्म से पहले प्रकृति और इससे भी पूर्व परतत्त्व की अवस्थिति रहती है। प्रकृति तथा माया का तन्त्रसम्मत स्वरूप आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। आचार्य शंकर प्रपञ्चसारतन्त्र में कहते हैं कि—

सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तदा।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्॥ ४१॥

प्रथम पटल

चिन्मात्र[1]—अक्षरशब्दोक्त (परप्रणवात्मक) तत्त्वसंज्ञक अर्थात् परमार्थिकतत्त्व से अविभक्त, पराप्रकृति[2] तत्त्वात्मकता अन्तर्मुखता को न छोड़ती हुई किञ्चित् बहिर्मुखता के साथ सृष्टयुन्मुख कर्मों से अविभक्त, तरङ्गों की मूलभूत सूक्ष्मवायु से व्याप्त समुद्र के ऊर्ध्वगमन के सदृश, बिन्दुरूपात्मक किञ्चित् स्थूलता को प्राप्त होती है। परिपक्व कर्मों के साथ अभेदात्मकता ही घनीभाव है। तत्त्वात्मिका प्रकृति के अन्तर्गत वर्तमान कर्मों की एक 'अपूर्वात्मक'

---

१. चिन्मात्रं यद्देवतातत्त्वमक्षरशब्दोक्तं परप्रकृतिपुरुषकालविकल्पलक्षण-मेतत्तदिह तत्त्वमित्युक्तम्।...देवतातत्त्वं परं ब्रह्मेत्यादिपदैरनुपचारतस्तस्या अपि सह गृहीतेति भावः। प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४११

२. सा प्रकृतिः तत्त्वस्य पारमार्थिकस्य संज्ञैव संज्ञा यस्याः तदविभक्तत्वात् सा तथोक्ता। सा तत्त्वात्मकतां अन्तर्मुखताम् अपरित्यज्यैव क्वचिद्देशे बिन्दुतां किञ्चिद्बहिर्मुखतया सृष्टयुन्मुखकर्माविभक्ततया तरङ्गमूलभूतसूक्ष्मवायुव्याप्त-समुद्रवलनवत् किञ्चित् स्थौल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। परिपक्वकर्माभेदाद्घनीभावः। तदर्थव्यापारो विचिकीर्षा। बिन्दुः कर्माभिन्नं रूपम्।

पद्मपादकृत प्रपञ्चसा० वि०, प्रथम पटल, पृ० १६

तत्त्वात्मिकाया अपि प्रकृतेः स्वगतकर्मणामपूर्वावस्थातः परिपक्वावस्थायां भेदात्तदविभक्ततया वर्तनमवस्थानम्। स इह घनीभाव इत्यर्थः। तदर्थमिति निरतिशयसूक्ष्मेच्छाज्ञानक्रियालक्षणोऽयं व्यापारोभिप्रेतः। यद्यपि प्रकृतेः स्वातन्त्र्यावस्थेयं बिम्बादिशक्तिपर्यन्ता ततः परमेवेच्छादिशक्त्यवस्थाः। किन्तु तत्रापि अवान्तरावस्थासमीक्षायां तदुचितेच्छाद्युपपत्तिरिति।...प्रकृतेरेव प्रलया वस्थातो यत्परिपक्वदशानन्तरं सृष्ट्युन्मुखकर्मभिर्भिन्नं (सम्भिन्नं) स्वाकार-निरूप्यं रूपं सोऽसौ बिन्दुः। परिपक्वैरेव कर्मभिर्भिद्यमानं रूपं घनीभावः इति भेदः। प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४१२

एवं परस्मादुत्पन्नस्य प्रकृतितत्त्वस्योत्तरसृष्टिनिर्वाहार्थं इच्छासत्त्वादिरूपता-माह कालेनेति। पद्मपादाचार्यकृत विवरण, पृ० १६

अवस्था होती है और दूसरी परिपक्वावस्था। ये दोनों अवस्थाएँ परस्पर भिन्न हैं। प्रकृति की घनावस्था या उच्छून दशा वह है जिसमें प्रकृति पूर्वोक्त अपूर्वावस्था को छोड़ परिपक्व दशा में अविभक्तरूप से स्थित हो। घनीभाव के लिए जो व्यापार होता है वही विचिकीर्षा है। यह व्यापार अत्यन्त सूक्ष्म इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक होता है। यद्यपि बिम्ब से शक्तिपर्यन्त प्रकृति की यह स्वातन्त्र्यात्मक अवस्था ही है इसके अनन्तर इच्छा ज्ञानादि शक्तियों की अवस्था आती है तथापि इस दशा में भी तदुचित अत्यन्त सूक्ष्म इच्छादि शक्तियाँ रहती ही हैं।

कर्माभिन्न रूप ही बिन्दु है। प्रकृति का ही, प्रलयावस्था से जो परिपक्व-दशा के अनन्तर सृष्ट्युन्मुख कर्मों से अभिन्न, स्व आकार से ही निरूपित रूप है वही बिन्दु है। केवल पक्व कर्मों से ही सम्बद्धरूपता घनीभाव है। बिन्दु और घनीभाव में यही अन्तर है।

परतत्त्व से उत्पन्न प्रकृति (बिन्दु) तत्त्व, इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा सत्त्व, रज और तमो रूप है। इच्छादि शक्तियों द्वारा उत्तर सर्ग में भिन्न-भिन्न विकृतियों का प्रसार होता है और सत्त्वादि द्वारा शान्त, घोर, मूढ़ादि वैचित्र्य का संयोग होता है।

अपर काल से अन्वित, शक्ति का नियन्त्रण करने वाले ईश्वराख्य पर काल द्वारा सम्बद्ध होते हुए भी विभज्यमान प्रकृतिरूप बिन्दुतत्त्व उपर्युक्त तीन रूपों को ग्रहण करता है। यहाँ काल से चिद्रूप ईश्वर अभिप्रेत[1] है। चिद्रूप[2] के सम्बन्ध से हीन अचिद्रूप ज्ञानादि रूपता सम्भव नहीं है। अतः सम्बन्ध

---

१. कालस्येश्वरस्य चिद्रूपत्वात् एवमुक्तः। प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४१२

२. भिद्यमानः सम्बध्यमानः विभज्यमानश्च। नहि चित्सम्बन्धं विना चिद्रूपस्य ज्ञानादिरूपत्वं सम्भवति। इच्छादीनामेकैकस्य मायातच्छक्तितद्गतप्राणिकर्मविषयभेदेन त्रिरूपतामाह।

पद्मपादाचार्यकृत विवरण, प्रथम पटल, पृ० १६

तस्याः स्वान्तर्गतं स्वेशितृकालप्रयोज्यं स्वकल्पिततदीयत्रिमूर्तिहिरण्यगर्भाद्यखिलचेतनांशेषु नानात्वादिप्रत्ययकरमवान्तरशक्तिमात्रं माया।...मायाया अप्यन्तर्गतं तेषां परिच्छिन्नस्वरूपतादिप्रत्ययकरमविद्यालक्षणमवान्तरशक्तिमात्रमिह शक्तिः। माया त्वनयैव स्वकीयकार्यं तेषां संसारित्वलक्षणं विधत्ते इति तस्याः शक्तिरियमिष्यते। तस्याः शक्तेरप्यन्तर्गतं तत्तद्गतप्राणिनां प्राक्तनभवोपार्जितं कर्मजातं तदिह कर्म। न च केवलस्य कर्मणोऽवस्थानमिति तत्समवायी मलिनोऽचिदंशोप्यभ्युपेयते। यच्छैवप्रक्रियायां प्रकृतितत्त्वं व्यपदिश्यत इति। किञ्च मायातच्छक्त्योरपि किञ्चित्कर्माभ्युपेयते तद्व्यतिरेकेण तयोरभिव्यक्तौ

होते हुए भी विभाग का विलक्षण संघटन ऊपर कहा गया है। इच्छादिक भी प्रत्येक माया, माया की शक्ति और तद्‌गत प्राणि कर्म के भेद से तीन प्रकार की होती है। इस प्रकार नव भेद हुए।

पराप्रकृति के गर्भ में विद्यमान इच्छाशक्ति के अन्तर्गत स्व ईशितृ काल द्वारा प्रयोज्य, स्व कल्पित त्रिमूर्ति तथा हिरण्यगर्भ आदि अखिल चेतनांशों में नानात्व सम्बन्धी प्रतीति उत्पन्न कराने वाली, अवान्तर शक्तिमात्र ही माया है। माया के भी अन्तर्गत पूर्वोक्त चेतनों को और परिच्छिन्न रूप प्रदान करने वाली अविद्या नामक अवान्तर शक्ति ही माया की शक्ति है। इसी के द्वारा माया, संसारित्वलक्षण अपना कार्य करती है। इसीलिए यह माया की शक्ति कही जाती है। इस शक्ति के अन्तर्गत, प्राणियों के प्राक्तन जन्म में उपार्जित कर्म समूह ही कर्म है। केवल कर्म मात्र स्वतः उपस्थित नहीं रह सकते अतः उनका समवायी, मलिन अचित् अंश भी स्वीकार्य होना चाहिए। यह मलिन अचित् अंश शिवाद्वयवाद में प्रकृतितत्त्व के नाम से कहा गया है। यह पूर्वोक्त परा प्रकृति का स्थूलांश मात्र है।

माया और उसकी शक्तियों के भी कुछ कर्म मानने होंगे। अन्यथा माया और उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति में कौन निमित्त होगा?

सम्पूर्ण चेतनों के अपने-अपने कर्मों के अपूर्व (कर्म संस्कार) परिपाकावस्था में सामान्य और विशेष इन दो रूपों को ग्रहण करते हैं। सामान्यांश से प्रकृति आदि की उत्पत्ति होती है और विशेषांश से भोग्य और भोगायतनों का निर्माण होता है। सामान्य—अपूर्व, विशुद्धतर, विशुद्ध, मिश्र और मलिन भेदों में विभक्त होकर प्रकृति, माया, अविद्या और अपरप्रकृति का समवायी बनता है। इस प्रकार मायादिकों की भी विचिकीर्षा, घनीभाव और बिन्दुता ये तीन अवस्थाएँ समान रूप में होती हैं। बिन्दु अवस्था को प्राप्त, स्व स्व आकार निरूपित, मायादिकों से संवलित सम्पूर्ण (परा) प्रकृति बिन्दु[1] अवस्था का लाभ करने के पश्चात् त्रिधा विभक्त होती है।

निमित्तोपयोगात् इति। तत्र सकलचेतनानां यानि, स्वानि स्वानि कर्मापूर्वाणि तानि परिपाकावस्थायां सामान्यविशेषरूपेण द्विधा भिद्यन्ते। तत्र सामान्यांशेन प्रकृत्याद्युत्पत्तिर्विशेषांशैर्निजनिजभोग्यभोगायतनाद्युत्पत्तिः। सामान्यं च विशुद्धतरविशुद्धमिश्रमलिनतया भिन्नं प्रकृतिमायादिसमवायि भवतीति विभागः।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४१२

१. ततश्च मायादीनामपि विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुतामित्यवस्थात्रयं समानमेव च। तथा च मायादिष्वपि बिन्द्ववस्थामापन्नेषु स्वस्वा-

वस्तुतः[1] पराप्रकृति में सर्वप्रथम इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ निर्विषय रूप से अभिव्यक्त होती हैं। अनन्तर जब वे माया को विषय बना कर प्रवृत्त होती है तब क्रिया की व्यापार पर्यन्त वेला में स्वोचित, सृष्ठ्युन्मुख कर्मों से अविभक्त स्वाकारनिरूपित माया का जन्म होती है। इसके पश्चात् वे इच्छादिक शक्तियाँ जब माया की शक्ति को विषय बनाकर प्रवृत्त होती हैं तब पूर्वोक्त रीति से अविद्या की उत्पत्ति होती है। अनन्तर जब वे तदन्तर्गत कर्म को विषय बनाकर प्रवृत्त होती हैं तो उनके योग्य मलिन अचिदंश के योग से कर्मों की उत्पत्ति होती है। यही क्रम बिन्दुरूप पराप्रकृति के अन्तराल में घटित होता है।

यह बिन्दु (कारण) रूप प्रकृति, पर, सूक्ष्म तथा स्थूल अथवा बिन्दु (कार्य) नाद और बीज के रूप में त्रिधा विभक्त होती है—

कालेन भिद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते ॥ ४२ ॥
स बिन्दुनादबीजत्ववेदेन च निगद्यते।

इसी कार्य बिन्दु, नाद और बीज का पहले पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में उल्लेख किया जा चुका है। चित्प्रधान काल लक्षण ईश्वर ही कार्य बिन्दु है। पराप्रकृति का चिन्मिश्र पुरुषाख्य रूप ही नाद[2] है। अचिदंश ही बीज कहा जाता है। यह स्थूल प्रकृति रूप होता है।

पूर्वोक्त कारणात्मक बिन्दु से अव्यक्तात्मक रव हुआ जिसे श्रुति संपन्न लोग शब्दब्रह्म कहते हैं। आचार्य पद्मपाद ने लिखा है—यह बिन्दु परमपुरुष रूप है उससे बीजरूप उक्त प्रकृति से सम्बन्ध होने पर उभयाभेदलक्षण, देदीप्यमान—निरावरण चिन्मय परापश्यन्त्यात्मक रव हुआ। यही कुण्डली आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है—

कारनिरूप्येषु सत्सु कृत्स्नापि प्रकृतिः विन्द्ववस्थां प्राप्ता सम्पद्यत इति।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४१२

१. प्रकृतेस्तावन्निर्विषयतयैव प्रथममिच्छादीनामभिव्यक्तिः। ततस्तासां मायाविषयतया प्रवृत्तौ क्रियाव्यापारपर्यन्तवेलायां माया स्वोचितसृष्ट्युन्मुख-कर्माविभक्ततया स्वाकारनिरूप्योत्पन्ना भवति। ततस्तासां तदीयशक्ति-विषयतया प्रवृत्तावेवं तदुत्पत्तिः। ततश्च तासां तदन्तर्गतकर्मविषयतया प्रवृत्तौ तदुचितमलिनाचिदंशयोगतस्तदुत्पत्तिरिति क्रमोऽवबोद्धव्यः। वही पृ० ४१२

२. बिन्दुरीश्वरः नादस्तस्याश्चिन्मिश्रं रूपं पुरुषाख्यम्। बीजमचिदंशः।

प्रपञ्चसारविवरण, प्रथम पटल, पृ० १७

"बिन्दुरुक्तः परमपुरुष एव तस्माद्बीजरूपयोक्तया प्रकृत्या सम्बध्यमानात् उभयाभेदलक्षणो देदीप्यमानः परापश्यन्त्यात्मको रवोऽभवत् । स एव च कुण्डल्यादिशब्दैरभिलप्यते ॥"

प्रपञ्चसारविवरण, पृ० १७, प्रथम पटल

प्रयोगक्रमदीपिकाकार की उक्ति है कि परा नित्य है उसकी उत्पत्ति कैसी ? वस्तुतः परा की सम्भावना मात्र की जाती है और पश्यन्ती की उत्पत्ति होती है—

मूले बिन्दोस्तस्मादित्यत्र कालेन भिद्यमानस्त्विद्याद्युक्तो भेदोऽभिप्रेतः । अवश्यं पश्यन्त्यात्मक एव । परा वाग्रूपस्य तु नित्यत्वेनोत्पत्त्ययोगात् इति । ··· परायाः सम्भवमात्रं पश्यन्त्यास्तूत्पत्तिरिति ज्ञेयम् ॥

प्र० क्र० दी०, पृ० ४१४-४१५

[1]बैन्दवतत्त्व रूप शब्दब्रह्म से भी ऊपर तत्त्वसंज्ञा नामक परावाक् है और उससे परे साक्षी संज्ञक तत्त्व है जो स्वसंवेद्य होने के कारण अवाच्य है । परावाक् नामक (**तत्त्वसंज्ञाख्य**) शक्ति भी साक्षी रूप तत्त्व से अभिन्न होने के कारण अथवा तत्त्व से पृथक् उसका कोई स्वरूप ही नहीं हो सकता अतः वह भी अवाच्य है । शब्द (श्रोत्रग्राह्य) के उच्चारण काल में उसके साक्षी रूप में अवस्थित बिन्द्वात्मक अवगम्य अर्थ ही शब्दब्रह्म है ऐसा तत्ववेत्ताओं का कहना है । बिन्द्वात्मक प्रकाशात्मकता से रहित इतर स्थूल शब्दात्मक रव को शब्दब्रह्म नहीं कहा जा सकता । शब्दब्रह्म में शब्दत्व और ब्रह्मत्व दोनों अपेक्षित हैं । शब्द में वर्तमान प्रकाशक अंश शब्द का उपनिषद् या रहस्य है । और निरतिशय सूक्ष्मतया व्यापित्व ही ब्रह्मत्व है—

शब्दब्रह्मापि यत्प्रोक्तं तदुद्देश्यः प्रवर्त्यते ।
अतः परमवाच्यं हि स्वसंवेद्यस्वरूपतः ॥ ६१ ॥
शब्दब्रह्मेति शब्दावगम्यमर्थं विदुर्बुधाः ॥
स्वतोऽर्थानवबोधत्वात् प्रोक्तो नैतादृशो रवः ॥ ६२ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, प्रथम पटल

---

१. ननु बैन्दवतत्त्वरूपशब्दब्रह्मणोऽपि ऊर्ध्वं परावाग्रूपायाः तत्त्वसंज्ञायाः तत्साक्षिणः तत्त्वस्य चोद्देशनं याथार्थ्योपदेशनमकृत्वा किमिति शब्दब्रह्मोद्देशः क्रियत इति तयोरुद्देष्टुमशक्तत्वात् इत्याह अतः परमिति । आत्मा स्वसंवेद्यत्वेन अवाच्यः शक्तेरपि तदभिन्नत्वात् तद्व्यतिरेकेणाभावाद्वा अवाच्यत्वमेव ।

प्रपञ्चसारविवरण, प्रथम पटल, पृ० २२

इह तावन्मुख्यतया शब्दत्वं ब्रह्मत्वं चेषितव्यम्···शब्दे हि प्रकाशकांशो रहस्यमुपनिषद्भूतं भवति तत्र स्थूलस्य रवस्यास्ति। ब्रह्मत्वं च निरतिशयसूक्ष्मतया व्यापित्वं तदपि नास्ति।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४२३

वह शब्द द्वारा अवगम्य अर्थ रूप शब्दब्रह्म सम्पूर्ण उत्पन्न पञ्चीकृत लोकादिक में कारण रूप से अनुस्यूत रहता है। अनन्तर प्राणियों के शरीर में वैखरी के अतिरिक्त सङ्कल्प, विकल्प, निश्चय एवं विमर्शनात्मक अर्थों के रूप में आविर्भूत होता है—

स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताकरे पुनः।
आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृतः ॥ ६३ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, प्रथम पटल

पूर्वोक्त तत्वसंज्ञाख्य[1] शक्ति, परावाक् तथा उसकी अर्थस्वरूप है। विचिकीर्षा, घनीभाव, इच्छा-ज्ञान-क्रिया, सत्व-रज-तम से युक्त प्रकृति तत्व, पश्यन्ती एवं उसकी अर्थस्वरूप है। महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, उभयेन्द्रियाँ, मध्यमात्मक और उसकी अर्थात्मिका है। पञ्चीकृत व्यष्टि और समष्टि, वैखरी तथा उसकी अर्थ रूप है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवृति प्रपञ्चसारतन्त्र, विवरण, तथा प्रयोगक्रमदीपिका के अनुसार प्रस्तुत की गयी है। शारदातिलकतन्त्र में भी इसी पद्धति का प्रायः अनुसरण किया गया है[2]।

---

१. तत्र तत्त्वसंज्ञा परावाक्तदर्थरूपिणी, प्रकृतितत्त्वान्तं पश्यन्तीतदर्थात्मकम्, इन्द्रियान्तं मध्यमातदर्थात्मकम्, पञ्चीकृतं वैखरीतदर्थात्मकमित्यवगन्तव्यम्।

प्रपञ्चसारविवरण, प्रथम पटल, पृ० २२

२. निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥ ६ ॥
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥ ७ ॥
परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥ ८ ॥
बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥ ९ ॥
रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाधिपाः ॥ १० ॥

व्याकरणागम का अभिमत है कि कुण्डल, कटक, रुचक[1], स्वस्तिक आदि आकारों के उपसंहृत होने पर सुवर्ण ही जैसे सत्य ठहरता है वैसे अनन्त विकार समूह के नष्ट हो जाने पर सब के अन्त में अवस्थित अनपायी ब्रह्मरूप ही सत्य और नित्य है। व्यवहार में जातियों की भी आपेक्षिक नित्यता मानी जाती है। यथा व्यक्ति के नष्ट होने पर गोत्वादि जाति ही नित्य रूप से वर्तमान रहती है। गोत्व और अश्वत्व आदि जाति भेद दूर होकर पृथिवीत्वादि में समाविष्ट हो जाता है। पृथिवी और जलत्व आदि जातियाँ भी समस्त नामों की प्रतीति कराने वाली वस्तुत्वसंज्ञक जाति में उपसंहृत होती है। वस्तुत्व

सञ्ज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणः।
भिद्यमानात्परादि्बन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्॥ ११॥
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः।
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः॥ १२॥

शारदाति० तन्त्र, प्रथम पटल

नहि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः॥ १३॥
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥ १४॥
अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः॥ १५॥

शारदाति० तन्त्र, प्रथम पटल

१. तत्र रुचकाद्याकारोपमर्दन सुवर्णमित्येव सत्यम्। एवमनन्तविकार-ग्रामापाये सर्वान्तेऽवतिष्ठमानमनपायि ब्रह्मरूपं सत्यं तदेव च भावतो नित्यम्। आपेक्ष्यं तु जात्यादीनां सर्वव्यवहारे नित्यत्वमुच्यते। तथा हि...व्यक्त्यपाये जातिरवतिष्ठमाना गोत्वादिका नित्या। तत्राप्यश्वत्वादिभेदत्यागे पृथिवीत्येव सत्यम्। तत्राप्यप्त्वादिभेदापाये वस्तित्वत्येव सत्यं सर्वनामप्रत्याययम्। तत्रापि संविद्रूपस्यानपायिनोनुगमादविषयाकारविवेके तदेव पारमार्थिकं सत्यमिति नेति नेतीत्युपासीतेति भावनया चोद्यते। संविच्च पश्यन्तीरूपा परावाक् शब्दब्रह्म-मयीति ब्रह्मतत्त्वं शब्दात्पारमार्थिकान्न भिद्यते। विवर्तदशायां तु वैखर्यात्मना भेदः। तत्र च तदेव नित्यं जात्यादिरूपेण शब्दवाच्यम्। तत्रान्तरे उपादान-विश्रान्त्या वाचकत्वस्य व्यवस्थापनात् स्वरूपान्तर्गतस्यार्थस्य वाच्यत्वात् वाच्यवाचकयोरविभागः सिद्ध इति प्रथमकाण्डे निर्णीतम्॥

हेलाराजकृत वा० प० पदप्रकाश, द्रव्यसमुद्देश, पृ० ९१

में भी अनपायी संवितरूपता का दर्शन किया जाता है। यह अविषयाकार विवेकात्मक संवित्रूपता ही पारमार्थिक सत्य है। इसी को 'नेति, नेति' द्वारा उपासनीय कहा गया है। यह संवित् पश्यन्ती रूप परावाक् है। शब्द-ब्रह्ममयी यह संवित् ही ब्रह्मतत्त्व है जो परमार्थिक शब्दतत्त्व से भिन्न नहीं। इस अन्त्य संवित रूप ब्रह्म को ही आगमवेत्ताओं ने सत्य सर्वाविकारानुयायी, प्रशांतकल्लोल, चिदेकघन पराप्रकृति[1] के नाम से कहा है—

सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते।
तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दतत्त्वं न भिद्यते॥ ११॥
विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।
विकारापगमे सत्यं तथाहुः प्रकृतिं पराम्॥ १५॥

वाक्यपदीय, तृ० काण्ड, द्रव्यसमुद्देश

स्पष्ट है कि पूर्वोक्त प्रकृति सांख्य सम्मत प्रकृति से भिन्न है। तांत्रिकों के यहाँ भी प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म और चिद्रूप है। यह निश्चल, परावाक् रूप प्रणवात्मक कुण्डलिनी शक्ति है। सांख्यसम्मत प्रकृति, इसी का स्थूलांश है—

"प्रकृतिः निश्चला परावाग्रूपिणी परप्रणवात्मिका कुण्डलिनीशक्तिः"

प्रपञ्चसारतन्त्र-विवरण, पटल ३०, पृ० ३१८

"अत्र मच्छब्देन स्वसंवेद्यस्वरूपा सेत्युक्ता परा प्रकृतिः गृह्यते।"

प्र० क्र० दी०, पृ० ४००

"प्रकृतिरिहापरोपलक्षिता परा विवक्षिता।"

वही, पृ० ४०३

तन्त्रानुमत प्रकृति[2] में प्रकृति पुरुष और काल अपने दोनों भेदों के साथ सम्मिलित रहते हैं। परा और अपरा प्रकृति, पर तथा अपर पुरुष, पर एवं

---

१. रुचकस्वस्तिककुण्डलादयो विकाराः परस्परोपमर्देन भवन्तोऽस्थिर-प्रत्ययविषयाः, सुवर्णमित्येव तु समन्वयिविज्ञानादवसेयं सत्यत्वम्। एवमभेदान्तरविवक्षायां तेज इत्येव सत्यम्। तत्राप्यभेदस्तत्कारणमित्यन्त्या परा प्रकृतिः सत्या सर्वविकारानुयायिनी प्रशान्तकल्लोला चिदेकघना ब्रह्मेत्यागमविदः। तदुक्तं पृथिवीधातौ किं सत्यं विकल्पः, विकल्पे किं सत्यं विज्ञानं, विज्ञाने किं सत्यं ॐ अथ तद्ब्रह्मेति'। हेलाराज जातिसमुद्देश, पृ० २९

२. प्रकृतिपुरुषकालाः द्विविधाः परापरभेदेन। 'विचिकीर्षुः' 'स्वसंवेद्यस्वरूपा' या 'युष्मानपि' 'बहुना किं परं सः' 'पुंसा तु कालात्मना' 'लवादिप्रलयान्त' इत्यादिवाक्यविशेषात्।

प्रपञ्चसारविवरण, पृ० ११, प्रथम पटल

अपर काल ये मिलकर मूलमहाप्रकृति का निर्माण करते हैं। प्रपञ्चसारतन्त्र के अनुसार परा प्रकृति का रूप निम्नांकित है—

स्वामिन् प्रसीद विश्वेश के वयं केन भाविताः।
किं मूलाः किं क्रियाः सर्वमस्मभ्यं वक्तुमर्हसि ॥ १६ ॥
इति पृष्टं परं ज्योतिरुवाच प्रमिताक्षरम्।
यूयमक्षरसम्भूताः सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः ॥ १७ ॥
तैरेव विकृतिं यातास्तेषु वो जायते लयः।
इति तस्य वचः श्रुत्वा तमपृच्छत् सरोजभूः ॥ १८ ॥
अक्षरं नाम किं नाथ कुतो जातं किमात्मकम्।
इति पृष्टो हरिस्तेन सरोजोदरयोनिना ॥ १९ ॥
मूलार्णमर्णविकृतीर्विकृतेर्विकृतीरपि।
तत्प्रभिन्नानि मन्त्राणि प्रयोगांश्च पृथग्विधान् ॥ २० ॥
वैदिकांस्तान्त्रिकांश्चापि सर्वानित्थमुवाच ह।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तम ॥ २१ ॥
अणोरणीयसी स्थूलात् स्थूला व्याप्तचराचरा।
आदित्येन्द्वग्नितेजोमद् यद्यत्तत्तन्मयी विभुः ॥ २२ ॥
न श्वेतरक्तपीतादिर्वर्णैर्निर्धार्य चोच्यते।
न गुणेषु न भूतेषु विशेषेण व्यवस्थिता ॥ २३ ॥
अन्तरान्तर्बहिश्चैव देहिनां देहपूरणी।
स्वसंवेद्यस्वरूपा सा दृश्या देशिकदर्शितैः ॥ २४ ॥
यथाकाशस्तमो वापि लब्धा या नोपलभ्यते।
पुन्नपुंसकयोस्तुल्याप्यङ्गनासु विशिष्यते ॥ २५ ॥
प्रधानमिति यामाहुर्या शक्तिरिति कथ्यते।
या युष्मानपि मां नित्यमवष्टभ्यातिवर्तते ॥ २६ ॥
साहं यूयं तथैवान्यद् यद्वेद्यं तत्तु सा स्मृता।
प्रलये व्याप्यते तस्यां चराचरमिदं जगत् ॥ २७ ॥
सैव स्वां वेत्ति परमा तस्या नान्योऽस्ति वेदिता।
सा तु कालात्मना सम्यक् मयैव ज्ञायते सदा ॥ २८ ॥

प्रथम पटल

स्वयम्भू ब्रह्मा ने परतत्त्व से जिज्ञासा की—'हम समस्त देवगण नित्य हैं अथवा अनित्य; हमारा स्वरूप क्या है ? किस निमित्त कारण द्वारा हमलोग उत्पन्न किये गये हैं। हम लोगों का उपादान क्या है; किस व्यापार के लिए हम उत्पन्न हुए हैं' ?

सम्पूर्ण प्रश्नों के उत्तर में परज्योति परमेश्वर ने कहा कि तुम लोग 'प्रमिताक्षर'[1] प्रकृति, पुरुष, काल तथा 'ह्'कार इनके समुदित रूप अक्षर तत्त्व से उत्पन्न हुए हो। सृष्टि, स्थिति और अन्त ही तुम्हारा कार्य है। प्रकृति आदि से तुम्हारी उत्पत्ति एवं उन्हीं में लय होता है। ह्रीं अथवा प्रणवात्मक मूलवर्ण[2] तथा उसकी स्वरात्मक विकृतियाँ, स्वर रूप विकारों की भी 'क' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त विक्रियाएँ उन वर्णों से निष्पन्न अनेक मन्त्र तथा वैदिक और तांत्रिक नानाविध प्रयोग में 'ह्' इस वर्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। 'ह्' यह वर्ण अकार और हकारात्मक है। प्रत्याहार की रीति से 'अ' और 'ह्' इन आदिम और अन्त्य 'अह्' स्वरूप दोनों वर्णों में नाद और अकार, बुद्धि तथा प्राण, ज्ञान तथा क्रियाशक्ति, प्रकाश और विमर्श, चित् और आनन्द रूप से सम्पूर्ण वर्णों का अनुगमन होने से समस्त शब्दार्थ-समष्टयात्मक परावाग्[3] रूपता सिद्ध है। इस प्रकार उन दोनों वर्णों के सर्वात्मस्वरूप होने के कारण उनमें प्रकृति, पुरुष और कालात्मता एवं नित्यता भी समझना चाहिए। वस्तुतः हकार वर्णमात्र नहीं है वह सम्पूर्ण मातृका ही है। यही वर्णान्तरों से हकार की विशेषता है और यही परावाक् भी है। यह हकारात्मिका[4] मन्त्रदेवता स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सामान्य और साक्षी रूप से पाँच प्रकार का है। पूर्वोक्त नाद, बुद्धि, ज्ञानशक्ति, विमर्श और चित् ये अकार

---

१. प्रकर्षेण मीयते ज्ञायते, मिनोति जानाति प्रमिनोति परिच्छिनत्तीति क्रमेण प्रकृतिपुरुषकालाः प्रमिताः। प्रमितानां वाचकमक्षरं तदभिन्नं प्रमिताक्षरं परा वाक्। सतत्त्वहकारमित्यर्थः।

प्रपञ्चसारविवरण, प्रथम पटल, पृ० १०

२. मूलार्णशब्देन प्रणवो वा विवक्षितः। तदुक्तं—मूलार्णमिति–प्रणवशक्तिवाचकपक्षाविति।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ३९७

३. हकारो हि अकारहकारात्मा। तयोश्चाद्यन्ताक्षरयोः प्रत्याहारग्रहणन्यायेन गृहीतेतरवर्णयोः नादाकाररूपेण बुद्धिप्राणरूपेण ज्ञानक्रियाशक्तिरूपेण वा सर्ववर्णाद्यनुगमात् सर्वशब्दार्थसमष्टयात्मकपरावागात्मत्वेन सर्वात्मत्वात् प्रकृतिपुरुषकालात्मत्वं नित्यत्वं चावगन्तव्यम्।

प्रपञ्चसारविवरण, पृ० १०-११

४. हकारात्मिकाया मन्त्रदेवतायाः स्थूलसूक्ष्मादिपञ्चविधात्मकत्वात् तदनुरोधेनायं वाच्यवाचकपञ्चकोपन्यासः। नादबुद्धिज्ञानशक्तिविमर्शचितोकारहकारयोः स्थूलाद्यंशेषु क्रमेण वाचकांशा इतरे वाच्यांशा इत्यवसेयम्।

और हकार के अन्तर्गत स्थूल सूक्ष्म पञ्चकात्मक वाचकांश है। अकार, प्राण, क्रियाशक्ति, प्रकाश और आनन्द ये वाच्यांश हैं।

ऊपर वाचकात्मक अक्षरतत्त्व की चर्चा हुई। वाच्यात्मक अक्षरतत्त्व में परापररूप से द्विधा भिन्न पुरुष, प्रकृति और काल आते हैं। यह अक्षर प्रकृति, अणु, मध्य और स्थूल चराचर में व्याप्त है। आदित्यादि[1] ज्योतियों, श्वेत, रक्त आदि विषयों, सत्त्वादि गुणों, स्थूल भूतों तथा इन्द्रिय अन्तःकरण, प्राण एवं सप्तधातुओं में ओत-प्रोत है। देशिकों द्वारा दिखाए गये उपायों द्वारा अपर प्रकृति की साक्षीस्वरूप इस निर्विशेष प्रकृति का ज्ञान होता है। इस स्वात्मप्रत्यक्ष रूप पराप्रकृति के उपलब्ध हो जाने पर आकाश अर्थात् सम्पूर्ण कार्य वर्ग और तम—कारणात्मक जड़ रूप अपरा प्रकृति ये नहीं दिखाई देते। यह प्रकृति, पुरुष और नपुंसक में समान तथा स्त्रियों में प्रसवधर्मी होने के कारण विशेष रूप से देखी जाती है। जिसे प्रधान[2] और शक्ति शब्द के द्वारा कहा जाता है; जो मुझसे व्याप्त होकर जगत् कारणभूत तुम लोगों को भी ग्रास कर जाती है वह मैं हूँ; तुम लोग भी उसी में कार्य रूप से कल्पित हो। समग्र चराचर जगत एवं अणु आदि अखिल पदार्थ उसी के रूप हैं।

सर्वेश्वर ही आद्य पुरुष है, वह अपने ज्ञातृत्व के अङ्ग रूप अचिदंश से विशिष्ट रहता है। याथात्म्य रूप से उसके स्वरूप का निरूपण करने पर तद्-गत सारभूत चिद्रूपता और स्वसंवेद्यात्मकता एवं उसके द्वारा वेद्य अचिद्रूप की उपलब्धि होती है। उसमें चिद्रूप ही परपुरुष है। उसके प्रतिबिम्ब-स्वरूप अचित् रूप अपर पुरुष कहा गया है। सर्वेश्वर में अपर पुरुषता भी विद्यमान रहती है। पर पुरुष अपर पुरुष का साक्षी है। ब्रह्मादिकों में भी अपर पुरुषांश रहता है।

"प्रलय दशा[3] में प्रणवात्मिका परा प्रकृति में सम्पूर्ण वाच्यवाचकात्मक

---

१. अधिज्योतिषमधिविषयमधिगुणमधिभूतमध्यात्मं च क्रमेण व्याप्तिमाह आदित्येत्यादिना।　　　　प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ३९८

२. प्रथितं त्रयमकारादित्रयेणात्ति। ततो बिन्दुकलानिरोधिकारूपमन-आदिकं निबिडतेजोरूपमत्ति। ततो नादनादान्तरूपां प्रमामत्तीति प्रधानम्।

प्र० सा० त० विवरण, पृ० १४

३. सर्वेश्वरस्तावदाद्यः पुरुषः स च निजवेदितृत्वाङ्गभूताचिदंशविशिष्ट एव। तत्स्वरूपे च याथात्म्यतो निरूप्यमाणे तद्गतं सारभूतं चिद्रूपं स्वसंवेद्यलक्षणं तद्वेद्यमचिद्रूपं चावसीयते। तत्र चिद्रूपमिह परः पुरुषः। तत्प्रतिबिम्ब-लक्षणमचिद्रूपमपरः पुरुषः। सर्वेश्वरे चापरपुरुषसद्भावेऽपि तस्य साक्षितयैवेह विवक्षितत्वात् ब्रह्मादिष्वेव परपुरुषांशो दर्शयितव्यः।

प्र० क्र० दीपिका, पृ० ४००

चराचर जगत् उपसंहृत होता है। पूर्वोक्त स्वसंवेद्य रूप वही परम साक्षि लक्षण परा प्रकृति अपनी अपरा शक्ति को जानती है।"

"उस समय बुद्धि आदि अन्य ज्ञाताओं की उपस्थिति नहीं रहती। वह प्रकृति मुझ कालात्मा—ज्ञानात्मा द्वारा सम्यक्—साक्षीरूप से अव्यवहिततया, तीनों कालों में जानी जाती है।"

पूर्वोक्त समग्र विवृति को लक्ष्य में रखकर आचार्य शङ्कर ने तृतीय पटल के अन्त में कहा है—

पूर्वोक्ताद्बिन्दुमात्रात् स्वयमथ स्वतन्मात्रतामभ्युपेता-
कारादीन् द्व्यष्टकादीनपि तदनुगतान् पञ्चविंशत्तथैव।
यादीन् संयुक्तधातूनपि गुणसहितैः पञ्चभूतैश्च ताभि-
स्तन्मात्राभिर्व्यतीत्य प्रकृतिरथ हसंज्ञा भवेद्वाच्य विश्वम्॥ ७५॥

प्रपञ्चसारतन्त्र

निस्तरङ्ग तत्त्वसंज्ञाख्य प्रकृति[1] स्वयं ही बिन्दुतत्त्व द्वारा स्वतन्मात्रता अर्थात् शब्दब्रह्मात्मकता को प्राप्त होकर अकारादि सोलह स्वरों तथा तदनुगत ककारादि पचीस व्यञ्जनों एवं गुण सहित तन्मात्राओं से युक्त पञ्च-भूतों के साथ यकारादि संयुक्त धातुओं का रूप ग्रहण करती है। अनन्तर वाच्य-वाचकात्मक उभयविध सम्पूर्ण कार्यपरम्परा को अपने स्वरूप में उपसंहृत करके विश्व अर्थात् सर्वात्मक ब्रह्म के साथ अभिन्न होकर 'ह' वर्ण जिसका वाचक है ऐसी हसंज्ञाख्य प्रकृति[2] ही शेष रहती है। इसी के सम्बन्ध में कहा गया है—

जिसका ज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण पूर्वजन्मार्जित शुभ, अशुभ और मिश्र कर्मों का बन्धन छूट जाता है तथा साधक, विष्णु के परमपद—चिदानन्दैकरस, अमृत, अभय, परब्रह्म परदेवतादिपदवाच्य स्थान को प्राप्त कर लेता है उसी सकल चराचर जगत की आत्मस्वरूप, चिन्मात्र, पराप्रकृति,

---

१. क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्।
प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माभवत्परम्॥

पदार्थादर्श में उद्धृत, पृ० १९

२. विश्वस्य जगतो हलक्षणादुत्पत्तिः तत्र स्थितिः तस्मिन्नेव च प्रलय इत्येतत्तावदेवं व्यवस्थितम्। तथा च सत्यस्य प्रकृतस्य परावाक्तदर्थात्मकस्य हस्याक्षरस्य शक्तित्वमिष्यत इति तदक्षरार्थः।

प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४६१, चतुर्थ पटल

हृल्लेखा का सामान्य[1] एवं विशेष रूप में जप एवं अर्चन करना चाहिए—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमपदं प्रयाति लोकः ।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हृल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत ॥ ७६ ॥

प्रपञ्चसार०, पटल ४

परा प्रकृतिसम्बन्धी विशेषविवरण 'प्रकृति स्तोत्र' नामक मनोरम स्तुति में किया गया है। यह सम्पूर्ण स्तोत्र इसी शोध-ग्रन्थ के परिशिष्ट में उद्धृत है। प्रपञ्चसारतन्त्र तथा शारदातिलकतन्त्र के मङ्गलाचरण[2] श्लोक तथा उनकी व्याख्या भी प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान के लिए द्रष्टव्य है।

काश्मीरिक शिवाद्वयवाद में प्रकृति निम्नस्तरीयतत्त्व है उससे ऊपर माया तत्त्व की अवस्थिति है। शक्तितत्त्व उससे कहीं श्रेष्ठ है। यह सब होते हुए भी तन्त्रों में प्रकृति और माया को सर्वोच्च शक्ति के पर्यायरूप में स्वीकार किया गया है। प्रकृति के रूपों एवं स्वरूप की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

वेदान्त[3] के अनुसार माया, चिद्रूप परब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति है। वह

---

१. हृल्लेखा का सामान्यस्वरूप परसंविन्मय परा प्रकृति है और विशेष 'ह्रीं' के नाम से उल्लिखित हुआ है। द्रष्टव्य प्रपञ्चसारतन्त्र, एकादश पटल।

२. अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गै-
र्विरचितमुखबाहापादमध्याख्यहृत्का ।
सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनि-
र्वितरतु परिशुद्धिं चेतसः शारदा वः ॥ १ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, प्रथम पटल

नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमाद्
व्याप्तं येन चराचरात्मकमिदं शब्दार्थरूपं जगत् ।
शब्दब्रह्म यदूचिरे सुकृतिनश्चैतन्यमन्तर्गतं
तद्वोऽव्यादनिशं शशाङ्कसदनं वाचामधीशं महः ॥ १ ॥

शारदातिलकतन्त्र

३. औपनिषदानां पक्षस्तु परस्य चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्मायाख्या। सा च जडैव। सैव च जगतः परिणाम्युपादानम्। परं ब्रह्म तु विवर्तोपादानम्। अत एव जगतोऽपि मायिकत्वात् जडत्वं मिथ्यात्वं च। अद्वैतश्रुतयस्तु पारमार्थिकव्यक्तिरेकैवेत्येवम्पराः। सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यं तु बाधायामित्यादिः।

मायातत्त्व जड तथा जगत् का परिणामी उपादान है। परब्रह्म विवर्तोपादान है। अतः संसार मायिक होने के कारण जड और मिथ्या है।

तान्त्रिकों के मत में परचित्तत्त्व में अवस्थित चित्शक्ति ही अनन्त रूप होने के कारण माया के नाम से कही जाती है। उसका परिणाम ही प्रपञ्च है अतः वह भी चिद्रूप ही है और सत्य भी।

शास्त्रों में माया, महामाया, योगमाया, आत्मामाया[1] आदि शब्द मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि माया[2] अपर शक्ति है, महामाया भेदाभेदनिष्ठ ज्ञान

तान्त्रिकाणां पक्षस्तु—परचिन्निष्ठा या चिच्छक्तिरौपनिषदानामपि सम्मता सैवानन्तरूपत्वान्मायेत्युच्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीत्यादि श्रुतेः। तत्परिणाम एव प्रपञ्चः। अत एव च चिद्रूपः। चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयमिति ज्ञानवाशिष्ठात्। अत एव च सत्योऽपि। सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यस्यात्यन्ताभेद एव स्वारस्यात्। नचाद्वैतश्रुतिविरोधः। विरोधापादकस्यैकस्य भेदस्यैव मिथ्यात्वाङ्गीकारादित्यादिः। 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। आत्मकृतेः परिणामात्।' 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' इत्यादि वैयासिकसूत्राणामप्यस्मिन्नेवार्थे स्वरस इति स्पष्टमेव।

सेतुबन्ध, पृ० १३५

१. यत आत्ममायया योगप्रज्ञया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या, न कर्मभिः।

अभिनवगुप्तकृत गीतार्थसंग्रह, अ० ४, श्लोक ८

२. स्वतन्त्रस्य तगवतो या परमभूमाविच्छा ऐश्वर्यशक्तिरुच्यते, सैव श्रीसदाशिवेश्वरदशायां परापरभुवि प्रसृत्य विभागेन ज्ञानं क्रिया च इति भेदाभेदनिष्ठेन वपुषा विजृम्भते, अपरभूमौ तु ते एव भेदपर्यवसिते मायाशक्तित्वेन निरूप्येते इति। ई० प्र० वि० वि०, अ० १, वि० ६, पृ० २९४–९५

स्वातन्त्र्यात्मिका तावदिच्छैव भगवतः शक्तिः। सा तु कृत्यभेदेन बहुधा उपचर्यते। तत्र यथाप्ररूढस्फुटास्फुटेदन्ताप्रकाशने सदाशिवेश्वरता ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा, चिन्मात्रग्राहकत्वेऽपि इदन्ताप्ररूढौ क्रियाशक्तिशेषरूपैव महामाया विद्येशशक्तिः ग्राह्यग्राहकविपर्यासे पशुप्रमातृषु मायाशक्तिः।

ई० प्र० वि० वि०, अ० ३, वि० १, पृ० २७७

प्रकाशो हि स्वस्वभावभूतं स्वात्मविश्रान्तं पराप्रकृतिस्वातन्त्र्यमायाविद्यादिशब्दैरागमिकैर्व्यवह्रियमाणं जगद्बीजभूतं विमर्शम्।

मातृकाचक्रविवेक, प्र० ख०, का० ९ की टीका।

क्रियात्मक परापरशक्ति है और आत्ममाया अथवा योगमाया स्वातन्त्र्यात्मक इच्छा अथवा ऐश्वर्यमयी पराशक्ति है। माया को पराशक्ति के रूप में तान्त्रिक परम्परा में उपचारतः ग्रहण किया जाता है। यह पराशक्ति ही महामन्त्ररूप मातृकाशक्ति है। मातृका के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया जायगा।

चतुर्थ अध्याय

मातृका के विविध स्वरूप और मातृका-वर्ण

सामान्यतया वर्णों[1] को पृथक्-पृथक् तथा वर्णमाला को समुदित रूप में मातृका के नाम से कहाजाता है। वर्णमालात्मक[2] मातृका (१) केवल, (२) बिन्दुसंयुक्त, (३) विसर्गयुक्त और (४) उभयात्मक भेदों से चार प्रकार की पाई जाती है। लोक में बिन्दु-विसर्ग रहित 'केवल मातृका' का उपयोग किया जाता है और अन्य तीन भेदों का प्रचलन मन्त्रशास्त्र में ही है।

अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त बिन्दुयुक्त मातृका को सर्वज्ञताकरी[3] विद्या भी कहते हैं। केवल मातृका को साक्षात् ब्रह्मराशि के[4] रूप में मान्यता दी गई है। स्वच्छन्दतन्त्र की उक्ति है—

'न विद्या मातृकापरा'। —पटल ११, श्लोक १९९

मातृका से परे और कोई विद्या नहीं है। यह सम्पूर्ण वर्णमालारूप मातृका, प्रणव से उत्पन्न होती है अतः ओङ्कार का एक नाम मातृकासूः[5] भी है। वर्णमाला—अक्षमाला अथवा मातृका न केवल सामान्य जनों के द्वारा अपितु महायोगी शिव के द्वारा भी जपी जाती[6] है।

---

१. मातृका वर्णरूपिणी। ललितासहस्रनाम, श्लोक १६७

२. चतुर्द्धा मातृका प्रोक्ता केवला बिन्दुसंयुता।
सविसर्गा सोभया च रहस्यं शृणु कथ्यते॥
विद्याकरी केवला च सोभया वृद्धिकारिणी॥
सविसर्गा पुत्रदा च सबिन्दुर्वित्तदायिनी॥
'तन्त्रसार, मातृकाविलास', में उद्धृत, पृ० ६३

३. श्रीकण्ठादिक्षान्ताः सर्वे वर्णाः बिन्दुसहिताः मातृका सर्वज्ञातकरी विद्या। परशुरामकल्पसूत्र २१. दशम खण्ड

४. सोऽयं वाक्समाम्नायो वर्णसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः। महाभाष्य

५. अक्षरं मातृकासूश्चानादिरद्वैतमोक्षदौ। मन्त्राभिधान ४

६. कथयामि वरारोहे यन्मया जप्यते सदा।
अकारादिक्षकारान्ता मातृका वर्णरूपिणी।
चतुर्दशस्वरोपेता बिन्दुत्रयविभूषिता॥

मुनिवर्य सौभरि ने अपने 'मातृकानाममाला'[1] नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम अकारादि सोलह स्वरों, क्ष पर्यन्त व्यञ्जनों एवं मात्राओं की पुरःस्थापना करके वर्णों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की थी। मातृकाओं का प्रचलित क्रम तब से निरन्तर उसी रूप में चला आ रहा है। श्री जीवगोस्वामी ने हरिनामामृत नामक वैष्णव व्याकरण में इस क्रम को नारायण[2] से उद्भूत माना है। नन्दिकेश्वर काशिका में व्याख्यात और पाणिनि द्वारा स्वीकृत माहेश्वर वर्णमाला का क्रम पूर्वोक्त मातृका क्रम से भिन्न है।

मन्त्रशास्त्र में विलोममातृका, बहिर्मातृका तथा अन्तर्मातृका की विशेष चर्चा मिलती है। प्रचलित मातृका का सबिन्दुक उलटा रूप ही विलोम मातृका है। लिपिमयी देवी के रूप को बहिर्मातृका कहते हैं। इसमें विशेष क्रम से अकारादि वर्णों द्वारा ही देवी के अङ्गों का निर्माण किया जाता है। आधार, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों में, साधक जब मातृका वर्णों का वं शं षं सं आदि क्रम से न्यास करता है तो इसी को अन्तर्मातृका कहते हैं। सुश्लिष्ट क्रम अ से क्ष पर्यन्त समझना चाहिए। अकार को मातृकाद्य[3] और क्षकार को मातृकान्त कहते हैं।

कलामण्डलमास्थाय शक्तिरूपं महेश्वरि।
ककारादिक्षकारान्ता वर्णास्तु शक्तिरूपिणः।
व्यञ्जनत्वात् सदानन्दोच्चारणं सहते यतः।
उच्चारे स्वरसम्भिन्नास्ततो देवि न संशयः।
पञ्चाशद्वर्णभेदेन शब्दाख्यं वस्तु सुव्रते।
अकारः प्रथमं देवि क्षकारोन्त्यस्ततः परम्।
अक्षमालेति विख्याता मातृका वर्णरूपिणी।

परात्रिंशिका, टि०, पृ० १९४

१. मालेयं मातृकावर्णैः कृता सौभरिणा पुरा।
विस्तृताङ्गिरसा भूमौ विद्वच्चेतःप्रसादिनी।

मातृकाविलास, पृ० ९६

२. द्रष्टव्य मातृकाविलास, पृ० ८६

३. मातृकाद्यः स्वराद्यश्च···प्रथमो भवेत् ॥ २ ॥

मातृकानिघण्टु।

क्षः कोपः···मातृकान्तोऽनलक्षयौ ॥ १७२ ॥

प्रकारान्तरमन्त्राभिधान

मातृकाओं की संख्या प्रायः पचास ही है। सुप्रसिद्ध तान्त्रिक योगी भास्कर राय ने ललितासहस्रनाम के 'पञ्चाशत्पीठरूपिणी' की व्याख्या करते हुए पचास को एक्यावन का उपलक्षक बताया है[1]। अपनी मान्यता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने दृढ़ तर्क उपस्थित किये हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि शरीर के अन्तर्गत एक्यावन शक्तिपीठ हैं और मातृका न्यास भी तदनुरूप होना चाहिए। वर्णमाला को स्थूल[2] मातृका कहते हैं। यही वैखरी वाक् है।

विशेषतया[3] खर अर्थात् कठिन या घनीभूत होने के कारण इसे वैखरी कहते हैं। अथवा निश्चित रूप से यह 'ख' अर्थात् कर्ण विवर में पैठती है; अथवा विखर नामक प्राण से प्रेरित होना ही इसे वैखरी की आख्या प्रदान करता है।

---

१. पञ्चाशच्छब्दोऽयं प्रकृते लक्षणयैकपञ्चाशत्परः। सान्निध्यरूपशक्य-सम्बन्धात्। अतएव 'नित्यानन्दवपुर्निरन्तरगलत्पञ्चाशदर्णैः क्रमादि'ति शारदा-तिलकश्लोके पञ्चाशत्पदमेकपञ्चाशत्परतयैव व्याख्यातं हर्षदीक्षितैः। तदिह पञ्चाशत एव मातृकाणामन्तर्मातृकान्यासे विनियोगात् ळळयोरभेदाद्वा क्षकारस्य पार्थक्याभावाद्वाक्षमालायां तस्य मेरावेव निवेशनेन मणीनां पञ्चाश-त्त्वाद्वा पञ्चाशन्मातृकेति व्यवहारेऽप्येकपञ्चाशत्परतैव तस्य वक्तव्या। अतएव बहिर्मातृकान्यासप्रकरणेऽपि 'पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोर्यन्मध्यवक्षस्थलं' 'पञ्चाशद्वर्णभेदैर्विहितवदनदोः पादयुक्कुक्षिवक्ष' इत्यादयः कवीनां प्रयोगाः। एकपञ्चाशतो न्यासमुक्त्वा तदन्ते, पञ्चाशद्वर्णरूपेयं कन्दर्पशशिभूषणेत्यादयो ज्ञानार्णवादितन्त्रप्रयोगाश्चोपपद्यन्ते।

सौभाग्यभास्कर-व्याख्या, पृ० १६८

२. मातृका च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा सूक्ष्मतरापि च।

सूतसंहिता, शिवमाहात्म्य खण्ड, अ० ५, श्लोक ९

तत्र वैखरी स्थूलामातृका सा प्रथमाधिकारिणः पूजोपकरणम्।

सूतसंहिता, तात्पर्यदीपिका-व्याख्या

३. (क) विशेषेण खरः कठिनस्तस्येयं वैखरी सैव रूपं यस्याः। घनभावमापन्नेति यावत्।

(ख) वै निश्चयेन खं कर्णविवरं राति गच्छतीति व्युत्पत्तिः सौभाग्य-सुधोदये कथिता।

(ग) प्राणेन विखराख्येन प्रेरिता वैखरी पुनरिति योगशास्त्रवचनाद्विखर-वायुनुन्नेति वा। सौभाग्यभास्कर, पृ० १००

(घ) विखरे शरीरे भवत्वात् वैखरीपदाभिधेया।

तन्त्रालोकविवेक, तृ० आ०, पृ० २२५

मध्यमा[1] वाणी सूक्ष्म मातृका है। परा और पश्यन्ती इन दोनों को सूक्ष्मतर या सुसूक्ष्म मातृका कहते हैं। भासुरानन्द[2] नाथ ने तो मातृका का चातुर्विध्य स्वीकार किया है। वह परादि वाणियों के अनुरोध से ही, सिद्धांततः उसमें कोई विरोध नहीं है। और सत्य तो यह है कि सूतसंहिताकार को भी मातृका का एक पररूप भी अभीष्ट है जो ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों से अचिन्त्य, चिन्मय, एवं शिव से अभिन्न है[3]। यह भगवती मातृका ही समस्त वाच्यवाचकात्मक जगत् के अभेद का भोगानन्द प्रदान करने वाली शब्दराशि की विमर्शिनी है। अरणि से अग्नि के सदृश सम्पूर्ण मन्त्र इसी से उत्पन्न होते हैं। अतः आगमों में इसे मन्त्रमाता कहा गया है[4]। यह बुद्धिस्थ होकर मध्यमा वाणी का रूप ग्रहण करके विविध भेदों को प्राप्त करती है। मन्त्र, वेद तथा सत्येतर शब्दों के रूप में यही शक्ति आविर्भूत होती है। मातृका परम देवी है; वह तालवादि स्थानों में करण विशेषों से अभिव्यक्त नाना पदाकारों, वर्णों के रूप में विभक्त होकर वैखरी भाव को प्राप्त होती है। **सूत संहिता के टीकाकार माधवाचार्य ने तात्पर्यदीपिका में लिखा है कि मातृका का पररूप परा और पश्यन्ती से परे बिन्दुनादात्मक है—**

---

१. मध्यमा सूक्ष्मा मातृका मध्यमाधिकारिणः पूजोपकरणम्। कारण-कार्यबिन्द्वात्मिका परापश्यन्तीरूपा सूक्ष्मतरा मातृकोत्तमाधिकारिणः।

तात्पर्यदीपिकाख्या० आनन्दाश्रम संस्करण, पृ० ५४

२. इत्थं चतुर्विधासु मातृकासु परादित्रयमजानन्तो मनुष्याः स्थूलदृशो वैखरीमेव वाचं मन्वते। सौभाग्यभास्कर, पृ० १००

३. वाचामगोचराकारो मातृकायास्तथा परः।
ब्रह्मविष्ण्वादिदेवानामचिन्त्यः सूक्ष्मतावधिः।
चिन्मयः परचिद्रूपः शिवासंभिन्न एव हि ॥ ३३-३४ ॥

सूत०, यज्ञवैभव०, अ० ४

४. मन्त्राणां मातृभूता च मातृका परमेश्वरी ॥ १८ ॥
बुद्धिस्था मध्यमा भूत्वा विभक्ता बहुधा भवेत्।
सा पुनः क्रमभेदेन महामन्त्रात्मना तथा ॥ १९ ॥
मन्त्रात्मना च वेदादिशब्दाकारेण च स्वतः।
सत्येतरेण शब्देनाप्याविर्भवति सुव्रताः ॥ २० ॥
मातृका परमा देवी स्वपदाकारभेदिता।
वैखरीरूपतामेति करणैर्विशदा स्वयम् ॥ २१ ॥

वही, अध्याय ४

"परापश्यन्त्याद्यवस्थातः प्राक् बिन्दुनादाद्यात्मकं यन्मातृकायाः सूक्ष्मं रूपम्।"

यज्ञवैभव ख०, पृ० ३५८

इस सम्बन्ध में आगम समुच्चय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

यह[1] मातृका विश्वनिर्मात्री, स्वतन्त्र अलुप्तप्रभाव क्रियाशक्ति है। घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झाङ्कार तथा ध्वङ्कृति इन आठ प्रकार के शब्दों में व्याप्त अ से लेकर क्ष पर्यन्त पचास वर्णभट्टारक रूप, मन्त्रादिमय समस्त शुद्ध, अशुद्ध संसारों की जननी, परमेश्वरी क्रिया शक्ति 'अज्ञात माता' होने के कारण अक्रमा मातृका कही जाती है। यही समस्त वाच्यवाचकात्मक वाङ्मयाभास रूप होने के कारण सक्रमा मातृका का रूप ग्रहण करती है। तत्तत् पदार्थों के क्रम से प्रतिच्छायित प्रतिभा भी सक्रमा मातृका के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

मातृका[2] शक्ति ही पर—अभेदप्रथात्मक और अपर—भेदप्रथात्मक ज्ञान की आधार है। अकारादि क्षकारान्त शब्दराशि से उत्पन्न ब्राह्मी आदि शक्तियाँ पुरुष का[3] उपभोग करती हैं। इन शक्तियों की ककार आदि कलाओं से पुरुष का स्व स्वभाव—स्वातन्त्र्य रूप वैभव लुप्त कर दिया जाता है तभी इसकी पशु संज्ञा होती है। परामृत रस ही पुरुष का स्वरूप है उससे च्युत होने पर 'मैं अपूर्ण हूँ, क्षीण हूँ, स्थूल हूँ'—आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं जिससे वह अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता हैं। उपर्युक्त स्वरूप को ढकने के लिए ब्राह्मी आदि वर्ग शक्तियाँ सर्वदा उद्यत रहती हैं क्योंकि शब्दानुवेध के बिना

---

१. यदा स्वतन्त्रतालुप्ता सा क्रियाकरणरूपिणी ॥ ३७ ॥
वर्णरूपाष्टभेदेन स्फोटादिध्वनिरूपिणी।
मातृका सा विनिर्दिष्टा क्रियाशक्तिर्महेश्वरी ॥ ३८ ॥
क्रियाख्या परमा सा तु सर्ववाङ्मयरूपिणी।

नेत्रतन्त्र, अधिकार २१।

अष्टविधशब्दव्याप्तिरादिक्षान्तपञ्चाशद्वर्णभट्टारकरूपतया समस्तमन्त्रादिमय-शुद्धाशुद्धजगज्जननी 'अज्ञाता माता मातृका' परमेश्वरी क्रियाशक्तिः। एषैव च अक्रमा अपि समस्तवाच्यवाचकात्मवाङ्मयाभासरूपतया सक्रमा क्रिया उच्यते।

नेत्रतन्त्रोद्योत, पृ० २७१

२. ज्ञानाधिष्ठानं मातृका। ४। शिवसूत्र, प्रथमप्रकाश
ज्ञानस्यैव द्विरूपस्य परापरविभेदतः।
स्यादधिष्ठानमाधारः शक्तिरेकैव मातृका ॥ २३ ॥ शिवसूत्रवार्तिक

३. द्रष्टव्य—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० १६

कोई प्रत्यय या ज्ञान सम्भव ही नहीं। इस प्रकार पशुओं में वर्तमान क्रियात्मिका मातृका[१] शक्ति ही अज्ञात होने पर बन्धन का कारण है और ज्ञात होने पर, मुक्तिरूप पर और भुक्तिरूप अपरसिद्धियों का प्रदान करती है[२]। वर्णराशिमयी मातृकाशक्ति पुरुष को बाँधती और मुक्त करती है इसमें सन्देह नहीं है[३]। सम्पूर्ण मन्त्र वर्णात्मक हैं और वर्ण, शक्ति के पुञ्ज। शक्ति भी मातृका से भिन्न नहीं है और यह मातृकाशक्ति, शिवमयी है। परतेज से समन्वित इस मातृकाशक्ति द्वारा समस्त स्थूल-सूक्ष्म विश्व व्याप्त है।

देशिकेन्द्र दुर्वासा ने भी कहा है—नानार्थक, पद और वाक्यों की स्वरूप-रचना करने वाले, अर्थ से सर्वदा मिले-जुले, कर्म के फल रूप में अभीष्ट अर्थ

---

१. शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ ४५ ॥
परामृतरसापायः तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥ ४६ ॥
स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥ ४७ ॥
सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥ ४८ ॥
स्पन्दकारिका, निष्यन्द ३

२. अस्मादेव तु मायीयाद् वर्णपुञ्जान्निरूपिता।
मायामालम्ब्य भिन्नैव श्रीपूर्वे सृष्टिराक्षरी।
पञ्चाशद्भेदसम्भिन्नप्रत्ययप्रसवात्मिका।
बन्धरूपा स्वभावेन स्वरूपावरणात्मिका।
अत्रैवान्तर्गतास्तास्ताः खेचर्यो विषयात्मिकाः।
तन्वते संसृतिं चित्रां कर्ममायाणुतामयीम् ॥
अस्याः साम्यं स्वभावेन शुद्धभैरवतामयम्।
परात्रिंशिका, पृ० २१४

३. सर्वे वर्णात्मका मन्त्राः ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेयाशिवात्मिका ॥
या सा तु मातृकादेवी परतेजःसमन्विता।
तया व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्मभुवनान्तकम् ॥
श्रीतन्त्रसद्भाव (शिवसूत्रविमर्शिनी में उद्धृत, पृ० ५१)

को देने वाले, स्वदेह से उत्पन्न पचास अक्षरों से निर्मित नानविध विख्यात धातुओं से इस विश्व को व्याप्त करके चिदात्मा रूप से 'अहं' इत्याकारक मातृका शक्ति ही विलास कर रही है[1]।

'स्फुरणा[2]' से अन्वित ज्ञान ही प्रकाश नामक ब्रह्म है। यह सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व आदि शक्तियों से सदा युक्त रहता है। इसका आनन्द रूप अंश में स्फुरण ही पराहन्ता, विमर्श, परा, ललिताभट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी आदि नामों से उल्लिखित हुआ है। वटबीज के अन्तर्गत वटवृक्ष के सूक्ष्मरूप के सदृश शब्दसृष्टि के सूक्ष्मरूप को धारण करने वाली पूर्वोक्त त्रिपुरसुन्दरी ही परावाणी है। और इसे ही निर्माण, तरण और शब्दविधानात्मक गुणों के कारण मातृका कहते हैं ऐसा भास्करराय का मत है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सिद्धयोगीश्वरी के मतानुसार आनन्दात्मिका विसर्गशक्ति को शब्दराशि अथवा मातृका के नाम से कहा है। ऊपर जिसे प्रकाश कहा गया है वही 'अ' वर्ण का द्योतक अनुत्तर पद है। और 'ह' वर्ण ही विसर्ग है इन दोनों का संघट्ट है 'अहं'। पर तेज रूप अनुत्तर को अकुल अथवा शिव कहते हैं और उस प्रभु की परा कौलिकी नामक शक्ति ही विसर्ग है—

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते॥ १४३॥ तं० आ०

अकुल और कौलिकी शब्द द्वारा बोध्य अथवा अकार-हकार द्वारा संकेतित शिव-शक्ति के संघट्ट को आनन्दशक्ति कहा गया है जिससे विश्व का निर्माण होता है। इसे सार, हृदय और विसर्ग कहते हैं। देवीयामलग्रन्थ में काल-

---

१. पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरमयैर्नानाविधैर्धातुभि-
बेह्वर्थैः पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनाभावितैः।
साभिप्रायवदर्थकर्मफलदैः ख्यातैरनन्तैरिदं
विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके॥ ३०॥

शक्तिस्तोत्र

२. स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशाभिधं ब्रह्म। तच्च सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्व-कर्तृत्वपूर्णत्वव्यापकत्वादिशक्तिसंवलितम्। तस्य चानन्दरूपांश एव स्फुरणं पराहन्ता, विमर्शः, परालिताभट्टारिका त्रिपुरसुन्दरीत्यादिपदैः व्यवह्रियते।
वरिवस्यारहस्य, पृ० ४

वटबीजान्तर्गतवटवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टिसूक्ष्मरूपशालिनी पूर्वोक्तरूपा त्रिपुरसुन्दर्येव तादृशसूक्ष्मरूपवत्त्वप्रवृत्तिनिमित्तकपरापदवाच्या। सैव च माति, तरति, कायतीति व्युत्पत्त्या मातृकेत्युच्यते। वही, पृ० १७

कर्षिणी, महाडामरक याग में श्रीपरा तथा श्रीपूर्वशास्त्र में मातृसद्भाव के नाम से इसका वर्णन किया गया है[1]।

यह पराशक्ति ही **प्रतिभा देवी है**—

तां परां प्रतिभां देवीं सङ्गिरन्ते ह्यनुत्तराम् ॥ ६६ ॥

अकुलधाम शिव की विसर्गशक्ति सर्वत्र विद्यमान है उसी से आनन्दरस का उन्मेष होता है[2]।

गीत आदि के विषय में, व्यक्ति की जो एकतानता और हृदय में परिस्फुरणरूपता है वही आनन्द शक्ति है जिसके माहात्म्य से जड़ जन भी सचेत कहलाते हैं। लोक में भी आनन्दातिशय के भोक्ता को ही सहृदय कहा जाता है[3]।

इस प्रकार पारमेश्वरी कौलिकी आदि शब्दों द्वारा बोध्य विसर्गशक्ति उन-उन आदर्शों अथवा रूपों में स्फुरित होती है—

तदेवं पारमेश्वरी कौलिकी-आदिशब्दव्यपदेश्या
विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मना स्फुरतीति तात्पर्यार्थः ।

तन्त्रालोकविवेक, पृ० २०६

वही जीवभूत, चिदात्मिका कुण्डलिनी भी है जिससे ध्रुव, इच्छा और उन्मेष अर्थात् अकार, इकार और उकार यह त्रिक तथा वैसर्गिकी कला (ह) पर्यन्त समस्त वर्ण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह विसर्गशक्ति विश्व का कारण है।

---

१. तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥ ६८ ॥

तृतीय अध्याय

परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते ।
तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ॥ ६९ ॥
देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी ।
महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा ॥ ७० ॥

तृतीय आ०

श्री पूर्वशास्त्रे सा मातृसद्भावत्वेन वर्णिता । तन्त्रालोक

२. विसर्गशक्तिर्या शम्भोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते ॥ २०८ ॥
तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः ।

३. तथा हि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके ॥ २०९ ॥
माध्यस्थविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता ।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः ॥ २१० ॥

ऐतरेयाख्य वेदान्त तथा गीता[1] में भी यही बात कही गई है। इस विसर्ग-शक्ति को ही शब्दराशि अथवा मातृका[2] कहते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परात्रिंशिका' में अहन्ता और इदन्तात्मक शुद्ध विद्या को मातृका स्वरूप बताया है—

'स्वाभाविकमहासंवित्सत्संस्कारैकलक्षणम्।
शुद्धविद्यात्मकं [3]रूपमहमित्युभयात्मकम्।
तदेव मातृकारूपं...................... । पृ० ११३

माया से ऊपर महामाया विद्यमान है जिसे शुद्धमहाविद्या मातृका अथवा वागीश्वरी कहते हैं—

महामायोर्ध्वतः शुद्धा महाविद्याथ मातृका ॥३३७॥
वागीश्वरी च तत्रस्थं ....।

तन्त्रालोक, ८वाँ आह्नि पृ० २२६

स्वच्छन्द[4] तन्त्र में भी कहा गया है कि सम्पूर्ण विद्याओं और प्रणव से

---

१. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

गीता, अ० ८, श्लोक ३

२. सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका॥ २२०॥
तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः।
आ इत्यवर्णादित्यादि यावद्वैसर्गिकी कला॥ २२१॥
विसर्गशक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता।
ऐतरेयाख्यवेदान्ते परमेशेन विस्तरात्॥ २२६॥
शब्दराशिः स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता॥ २३२॥

३. समानाधिकरण्यं हि सद्विद्याहमिदं द्वयोः।

ईश्वरप्र० ३।१।३

४. अथोपरि महाविद्या सर्वविद्याभवोद्भवा॥ ११४२॥
जगतः प्रलयोत्पत्तिविभूतिनिधिरव्यया।
सा एव परमा देवी वागीशीति निगद्यते॥ ११४३॥
अष्टवर्गविभिन्ना च विद्या सा मातृकैव तु। स्वच्छ०, पटल १०

अकचटतपयशैरष्टाभिर्वर्गैर्भिन्ना न त्वभिन्ना अनाहतपरामर्शमयत्वेन भिन्ना अशेषविश्वावभासभाजो मन्त्रानुन्मीलयेत् अतएव च इयं मातृका वाच्यवाचकाशेषविश्वहेतुत्वेऽपि पशुभिस्तथात्वेन अपरिज्ञाता माता।

स्वच्छन्दोद्योत, पृ० ४८४

उपलक्षित समस्त मन्त्रों की उद्भव भूमि, संसार की उत्पत्ति, स्थिति, और विनाश करने वाली, अव्यय महाविद्या, माया से ऊपर विद्यमान है। माया, भेद का उद्भव करने वाली है और यह शुद्धविद्या अभेद के उन्मीलन करने के लिए प्रथम सोपान के सदृश है। वागीश अर्थात् महेश्वर की शक्ति होने से यह परमा देवी वागीशी कही जाती है। अ, क, च, ट, त, प, य, और श इन आठ वर्गों से भिन्न वह पूर्वोक्त विद्या ही मातृका है। वाच्यवाचकात्मक सम्पूर्ण विश्व का कारण होने पर भी पशुओं के निकट वह माता अज्ञात ही रहती है इसीलिए मातृका के नाम से ख्यात है।

सुप्रसिद्ध ३६ तत्त्वों में, प्रारम्भ से गिनने पर शुद्धविधा ५ वां तत्त्व है। विश्व से अतीत या निष्कल तत्त्व है परमशिव। इसकी सकल अवस्था ही शिवतत्त्व है। यह तत्त्व स्पन्दहीन परमशिव का प्रथम स्पन्द है। निष्फल परम शिवावस्था में शक्ति पूर्णतया घुली-मिली रहती है। वहाँ अहं और इदं अथवा विषयी और विषय का भेद नहीं रहता। वह स्वरूपविश्रान्ति अथवा आनन्द की अवस्था है। इसको परा संवित् के नाम से भी बोधित करते हैं यही परनाद है। सदाशिवतत्त्व को नाद, और ईश्वरतत्त्व को बिन्दु कहा गया है। इसके अनन्तर नीचे शुद्धविद्या तत्त्व है, यहाँ अहं और इदं की समान स्थिति रहती है। शिवतत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्व में 'अह-मिदं' विमर्श और ईश्वरतत्त्व में 'इदमहं' विमर्श। शुद्धविद्या की स्थिति शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि के बीच में होती है अतः इसे परापर दशा, अथवा भेदाभेद दशा भी कहते हैं।

पुण्यानन्दाचार्य[१] कृत कामकलाविलास की टीका में कहा गया है— 'अपने अन्तर्गत अनन्त अक्षर राशि को लिए हुए महामन्त्रवीर्य रूप पूर्ण अहन्तात्मक, प्रकाशानन्दसर्वस्व, शोण, सित, और मिश्र बिन्दुओं की समष्टि, लिप्यक्षररूप कामकला ही महात्रिपुरसुन्दरी मातृका है जिसका परम योगिगण स्मरण करते रहते हैं।

वामकेश्वर[२] तन्त्र के अनुसार मन्त्रमयी मातृका देवी कालरूप से

---

१. स्वान्तर्गतानन्ताक्षरराशिमहामन्त्रवीर्यपूर्णाहन्तारूपिणी प्रकाशानन्दसारा बिन्दुत्रयसमष्टिरूपलिप्यक्षररूपिणी कामकला नाम महात्रिपुरसुन्दरी मातृका परमयोगिभिः महामाहेश्वरैरनिशमनुस्मर्तव्या इति।

कामकलाविलास, पृ० ११

२. गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्॥ १॥

वामकेश्वरी०, प्रथम पटल

प्रस्फुरित होने के कारण गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी और राशिरूप है। देश-रूप से अवभासित होने के कारण इसे पीठ या वर्णमातृका स्वरूप कहा जाता है। मातृका देवी में विद्यमान मूर्तिशक्ति और क्रियाशक्ति के वैचित्र्य से इसी के द्वारा विश्व में देशक्रम और कालक्रम का प्रसार होता है। वर्ण, मन्त्र और पदरूप कालाध्वा तथा कला, तत्त्व और भुवनरूप देशाध्वात्मक षडध्व की भी यही जननी है।[1] जगद्विधाता की यह समवायिनी शक्ति है। यह आदि सिद्ध

कालः सूर्यादिसञ्चारः—

ई० प्र० २।१।३। इतिमहागुरूदितलक्षणकालरूपतया स्फुरन्ती-मित्यर्थः। न केवलमेवं, यावद्देशरूपतयापि प्रस्फुरतीत्याह पीठरूपिणीमिति। पीठशब्देन—'पीठस्तु मातृका प्रोक्ता'—इति सकलजगदाधारवाचित्वेऽपि अत्र तद-विनाभावित्वाद्देश आक्षिप्यते इति देशरूपतयापि अवभासमानामित्यर्थः। अयमत्र आशयः—परैव हि संवित् स्वातन्त्र्यात् प्रथमं विश्वभवविभासयिषुः—

मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः।

ई० प्र० २।१।५।

इति दिशा मूर्तिवैचित्र्यावभासनेन परसूक्ष्मस्थूलतया कलातत्त्वभुवनात्मना स्फुरन्ती देशाध्वानमवभासयति, क्रियावैचित्र्यनिर्भासनेन अपि वर्णमन्त्रपदात्मना कालाध्वानमपीति षड्विधाध्वमयनिखिलविश्वरूपतया स्फुरति इति।

यदाहुः—'तत्र क्रियाभासनं यत् सोऽध्वा कालाख्य उच्यते।
वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्त्यध्वत्रयं स्फुटम्।
यस्तु मूर्त्यवभासांशः स देशाध्वा निरूप्यते।
कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम्।
त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं† वपुः।
यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वा षड्विधमुच्यते।

तं० ६।३४।३५, ३६,

[1] या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी (मा० बि० ३।५) इत्यादिना उक्तम्, इहापि—"त्रिपुरा परमाशक्तिराद्या जातादितः प्रिये। स्थूल-सूक्ष्मविभागेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका", वामकेश्वरीमतम् ४।४। परदशायामिच्छा-ज्ञानक्रियात्मना, सूक्ष्मदशायां वामाज्येष्ठारौद्रीलक्षणेन, स्थूलदशायां ब्रह्मविष्णवीश-

---

† पदानि मन्त्रारब्धानि मन्त्रा वर्णैकविग्रहाः।
वर्णाः स्वनिष्ठा इत्येषां स्थूलसूक्ष्मपरात्मता॥

तन्त्रा० वि०, पृ० ३४

चिदानन्दैकघन परमशिव से प्रस्फुटित तथा उससे समवेत होने के कारण परमा शक्ति, सम्पूर्ण शक्तिसमुदाय की एकाश्रयस्वभाव, नियत नाम द्वारा निर्दिष्ट न की जाने के कारण अनाख्य तथा सहज सिद्ध होने से आद्या-शक्ति कही जाती है। परदशा में—इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप, सूक्ष्म दशा में—वामा, ज्येष्ठा और रौद्री स्वरूप, स्थूलावस्था में—ब्रह्मा, विष्णु और ईश इन विभागों द्वारा तीनों पुरों अथवा सृष्टि, स्थिति और संहार के आपूरक तत्त्वों में अनुगत होने के कारण इसे त्रिपुरा कहते हैं। त्रैलोक्य की उत्पादिका जननी होने से यह मातृका तथा अम्बिका इस अभिधेय द्वारा व्यवहृत होती है।

स्वभावतः[1] उदित यह, प्रत्यवमर्शात्मक परावाक् तथा चिति शक्ति है, इसे परमात्मा के ऐश्वर्य एवं मुख्य स्वातन्त्र्य के नाम से कहा जाता है। देश और काल से अविशिष्ट यह महासत्ता अथवा स्फुरण शक्ति है। यह परमेष्ठी का हृदय अथवा साररूप से कही गई है।

यह मातृका शक्ति[2] काल की अवस्था विशेष से जनित त्रुटि, लव, निमेष आदि कलनाओं को प्रशान्त कर देने वाली, अपनी महिमा से अपरिच्छिन्न परसंविदेकघन रूप से द्योतमान महादेवी, परमेश्वरी एवं अत्यन्त दुर्घटकारी स्वातन्त्र्य रूप है।

इसके एक अक्षरमात्र के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य—सूर्य, तार्क्ष्य, इन्दु, कन्दर्प, शंकर, अनल तथा विष्णु से स्पर्द्धा करने लगता है[3]।

रूपेण विभागेन त्रयाणां पुराणामुक्तगत्या सृष्टिस्थितिसंहारापूरकाणां स्थानानां भावादनुगतार्थतया त्रैलोक्यस्य अतिभवाभवभवात्मकस्य उत्पत्ताववभासने मातृका जननी, अथ च अम्बिकाशब्दव्यपदेश्या जाता। वामकेश्वरीमतविवरण, पृ० १००

१. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः। सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः। ई० प्र० १।५।१०

२. प्रणमामि महादेवीं मातृकां परमेश्वरीम्।
कालहल्लोहलोल्लोलकलनाशमकारिणीम्॥ वामकेश्वरी०, पटल २।१

३. यदक्षरैकमात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्द्धते नरः।
रवितार्क्ष्येन्दुकन्दर्पशङ्करानलविष्णुभिः ॥ ३ ॥
यदक्षरशशिज्योत्स्नामण्डितं भुवनत्रयम्।
वन्दे सर्वेश्वरीं देवीं महाश्रीसिद्धमातृकाम्॥ ५ ॥
यदक्षरमहासूत्रप्रोतमेतज्जगत्त्रयम्।
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते॥ ६ ॥

सर्वेश्वरी महासिद्धमातृका देवी के एक अक्षररूप चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से तीनों भुवन प्रकाशित हो रहे हैं ब्राह्माण्डादि कटाह अर्थात् शक्त्यण्ड तथा उसका अन्त—चराचर जगत् उस आदि सिद्ध मातृका के वर्णमय महासूत्र में अनुस्यूत है।

अनुत्तररूप[1] अकार और आनन्दरूप आकार को इकारात्मक इच्छाशक्ति से जोड़ने पर बीजत्रय के संघट्ट से एकारात्मक जन्माधाररूप एकादशम बीज का उदय होता है जिसे त्रिकोण कहा जाता है। यह परमानन्दमय स्थान है इसी से आज भी जगत् की उत्पत्ति देखी जाती है। ज्ञानरूपी रत्नों का पिटारा, सम्पूर्ण सुखों का आलय, एकार के आकृतिरूप यह गुप्त त्रिकोण, मातृका का ही प्रसार है। 'अ', 'आ' और 'इ' के संयोग से जनित उत्कृष्ट आधारात्मक यह परापरा शक्ति, अ क च ट त प य शात्मक वर्गमयी तथा शिर, शिखा, ललाट, हृदय आदि देशों में रहने वाली है।[2] यह अकारादि और हकारान्त समस्त वर्णों का प्रत्याहार रूप अहन्ता है। अनुत्तर और विसर्गात्मक ककार और सकार की प्रत्याहार—क्षकाररूपिणी होते

अकचादिटतोन्नद्धपयसाक्षरवर्गिणीम्।
ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासिनीम् ॥ ७ ॥
तामिकाराक्षरोद्धारसाराधारां परापराम्।
प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम् ॥ ८ ॥

वामकेश्वरीमतम्, प्रथम पटल

१. अनुत्तरानन्दचिती इच्छाशक्ती नियोजिते।
त्रिकोणमिति तत्प्राहुर्विसर्गामोदसुन्दरम् ॥ तं० आ० ३।९४
त्रिकोणमेकादशमं बह्निगेहं च योनिकम्।
शृङ्गाटं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम् ॥

तं० विवेक, पृ० १०३

त्रिकोणं भग इत्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छाज्ञानक्रियाकोणं......................।
एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये षट्कारभूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम् ॥

तन्त्रा० विवेक, पृ० १०४

२. वन्दे तामहमक्षय्यक्षकाराक्षररूपिणीम्।
देवीं कुलकलोल्लोलप्रोल्लसन्तीं परौलिजाम् ॥

वामकेश्वरीमतम्, १० प्र० पटल

हुए भी यह अक्षय है। कुल नामक अव्यपदेश्य कलारूप परा संवित् में जलधि लहरी के सदृश यह प्रोल्लसित, विश्रान्त तथा अनतिरिक्तरूप से आभासित होती है। नाना रूपों को धारण करके क्रीड़ा करने वाली मातृकादेवी आदि-सिद्ध शिव से उत्पन्न हुई है।

इस[1] प्रकार त्रिपुरसुन्दर्यात्मिक परावाणीरूप सूक्ष्मतम मातृका, विश्व-सृष्टि के लिए ईक्षणात्मक पश्यन्तीरूप सूक्ष्मतर, मध्ममारूप सूक्ष्म, तथा नववर्गवती वैखरी रूप स्थूलमातृका का वर्णन हुआ। प्रकृत खण्ड स्थूल मातृका से ही सम्बन्ध रखता है अतः तत्सम्बन्धी आलोचना ही यहाँ अधिक समीचीन होगी। वर्णों की समुदित शक्तिरूप स्थूल मातृका वस्तुतः एक ही है। पश्चात् वही ५० पृथक् पृथक् वर्णों की शक्तिरूप पृथक् पृथक् मातृकाओं के रूप में विकसित होती है। यों तो पचास मातृका वर्णों के नववर्गों का उल्लेख मिलता है किन्तु सप्त एवं अष्ट मातृकायें अधिक प्रसिद्ध हैं।

नववर्ग[2]

अ, क, च, ट, त, प य, श, क्ष।

---

१. वटबीजान्तर्गतवटवृक्षीयसूक्ष्मरूपतुल्यशब्दसृष्टिसूक्ष्मरूपशालिनी पूर्वोक्त-रूपा त्रिपुरसुन्दर्येव तादृशसूक्ष्मरूपवत्वप्रवृत्तिनिमित्तकपरापदवाच्या। सैव च मातितरति कायति इति च व्युत्पत्त्या मातृकेत्युच्यते। तस्यां च निर्विकारायामपि अनादिसिद्धप्राण्यदृष्टवशात् स्वान्तःसंहृतविश्वसिसृक्षोत्पद्यते। ततः स्रष्टव्य-पदार्थानालोचयति 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ३.६.२) इति श्रुतेः। तादृशमीक्षणमेव प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तस्यां पश्यन्तीति पदं प्रवर्तते। सैव च पश्यन्त्याख्या मातृका करणसरणितः उत्तीर्णत्वात् उत्तीर्णेत्युच्यते। तदवयवाश्च वामादयः अष्टौ शक्तयः अन्यत्र प्रपञ्चिताः। अतः सैव व्यष्टिसमष्टिवेषेण नवविधा ततो नव नादा अविकृतशून्यादयो जाताः। तत्समष्टिश्च नादध्वन्या-दिपदवाच्या नातिसूक्ष्मा परावन्नातिस्थूला वैखरीवदतो मध्यमाख्या मातृका मध्यमावयवरूपमविकृतशून्यस्पर्शनादध्वनिबिन्दुशक्तिबीजाक्षराख्यं नादनवकं मूलाधारादिषट्के नादे नादान्ते ब्रह्मरन्ध्रे च स्थितम्। नवभिर्नादैः अकचटतपय-शळाख्यवर्गनवकवती वैखर्याख्या मातृका जाता। वरिवस्यारहस्य, पृ० १७

२. नवधा च स्मृता, सा तु नववर्गोपलक्षिता। तन्त्रसद्भाव (शिवसूत्र वि०, पृ० ५४) नवधावर्गभेदतः—मालिनीविजयतन्त्र, तृ० अ० श्लोक ११ ननु क्षकारेण सह नववर्गाः इति येषां मतमित्यादि। जयरथ, पृ० १९८ (तं०)

नववर्गास्तु ये प्राहुः तेषां प्राणशतीरविः॥

तन्त्रा० छठा आ० श्लोक २४४

श्री भासुरानन्द नाथ ने 'क्ष' के स्थान में ळ को स्थान देकर नववर्गों को पूरा किया है—

नवभिर्नादैः अकचटतपयशळाख्यवर्गनवकवती वैखर्याख्या मातृका जाता।

वरिवस्यारहस्य, पृ० १७

सप्तवर्ग और मातृकाएँ[1]

अ, क, च, ट, त, प, य।

अवर्ग से भैरव का बोध होता है। अनुत्तर–अकार से लेकर विसर्ग पर्यन्त सोलह वर्णों के समुदाय को स्वर शब्द से बोधित किया जाता है। स्वतः प्रकाशित, शब्दन स्वभावशील, भेदरूप उपताप तथा विश्व का आक्षेप करने के कारण भैरव, स्वर[2] शब्द वाच्य है। स्वरों को बीज और 'क' आदि व्यञ्जनों को योनि कहते हैं। कादि योनि वर्णों के तत्त्वों का प्रसार भी इन्हीं स्वरों से होता है। अतः स्वरों का अथवा अवर्ग का अधिष्ठाता भैरव है। बीज वर्ण ही घनीभूत होकर क, च आदि वर्णों का रूप ग्रहण करते हैं। ये बीज के द्वारा व्यक्त होते हैं अतः इन्हें व्यंजन कहा जाता है। उक्त बीज के संसर्ग से जगत का हेतु होने के कारण ये योनि पद वाच्य हैं। इन वर्गों का प्रत्याहारक जो 'क्ष' वर्ण है वही भैरवी है। यही कारण है कि अवर्ग द्वारा भैरव और योनि वर्ग के समाहारक 'क्ष' वर्ण द्वारा भैरवी की पूजा की जाती है। भैरवी ही

---

१. अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैर्विरचितमुखवाहापादमध्याख्यहृत्का।
सकलजगदधीशा शाश्वता विश्वयोनिर्वितरतु परिशुद्धिं चेतसः शारदा वः॥

श्रीप्रपञ्चसारतन्त्र, प्र० पटल, १।

२. आदिः प्रथमो वर्गः—अनुत्तरादेर्विसर्गान्तस्य विश्वाप्यायिनः षोडशकस्य स्वयं राजमानतया शब्दनस्वाभाव्येन भेदोपतापकारितया विश्वाक्षेपेण च स्वरशब्दवाच्यस्य गर्भीकृताशेषवाच्यवाचकादियोनिवर्णतत्त्वप्रसरसमाश्रयत्वात् तदुल्लासकत्वाच्च बीजव्यपदेशस्य परसंवित्स्फारसतत्त्वस्य भेदेन वैचित्र्येण साक्षाद्भैरवः अशेषविश्वमयत्वात् वाच्यवाचकयोरभेदाच्च, कादीनां तु बीजस्थानीभावरूपत्वेन घनत्वाद् बीजव्यङ्ग्यत्वेन व्यञ्जनशब्दव्यपदेश्यानामुक्तबीजसंसर्गेण जगत्कारणत्वाद् योनिता, तथैव चेति–वर्गरूपतया संहारेण क्षकारेण भैरवी, मातृकाधिष्ठातारं भैरवं—तत्स्फाररूपतयैव भरणरवणवपनपरमार्थं निष्कलभट्टारकस्वरूपं अवर्गेण व्यावर्णितस्वरूपेण षोडशकेन प्रपूजयेत्, भैरवी अपि निष्कलभट्टारकाभिन्नस्वरूपैव कादिना क्षान्तेन योनिवर्गग्रामेणाविभक्तेन तदधिष्ठातृ उमा योगीश्वरीरूपा पूज्या। स्वच्छन्दोद्योत, प्रथम पटल, पृ० २८

योगीश्वरी रूप 'उमा' है। अवशिष्ट 'क' से लेकर 'श' तक सप्त वर्गों द्वारा सप्तमातृकाओं की पूजा की जाती है—

आदिः षोडशभेदेन साक्षाद्वै भैरवः स्मृतः।
कवर्गश्चटवर्गौ च तपयाः शस्तथैव च ॥ ३२ ॥
संहारेण समोपेता योनिर्वै भैरवी स्मृता।
मातृका भैरवं देवमवर्गेण प्रपूजयेत् ॥ ३३ ॥
भैरवी कादिना पूज्या मातृवर्गैः प्रपूजयेत्।

स्वच्छ०, १ पटल

निम्नांकित शक्तियाँ तत्तद्वर्गों की अधिष्ठातृदेवता हैं जो सप्तमातृका के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः उमा देवी जो भगवान् का शरीरार्द्ध हैं आठवीं देवी हैं, वे ही सात रूपों में अपने को विभक्त करती हैं—

१. अवर्ग	**महालक्ष्मी**	
२. कवर्ग	ब्राह्मी	१
३. चवर्ग	माहेश्वरी	२
४. टवर्ग	कौमारी	३
५. तवर्ग	वैष्णवी	४
६. पवर्ग	वाराही	५
७. यवर्ग	ऐन्द्री	६
८. शवर्ग	चामुण्डा	७

अवर्गे तु महालक्ष्मीः कवर्गे कमलोद्भवा ॥ ३४ ॥
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे तु कुमारिका।
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका ॥ ३५ ॥
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका।
एताः सप्तमहामातॄः सप्तलोकव्यवस्थिताः ॥ ३६ ॥

स्वच्छ०, प्र० पटल

ऊपर अवर्ग की अधिष्ठातृ महालक्ष्मी और अन्यत्र भैरव को अधिष्ठाता बताया गया है इसमें आपाततः विरोध दीखता है[1]। सत्य तो यह है कि ज्ञान-दीप्तिमयी उमा ही महालक्ष्मी हैं और वे उमापति भैरव-देह से अभिन्न हैं। अतः महेश्वर सप्त मातृकाओं से परिवारित परा लक्ष्मी के साथ विद्यमान

---

१. परालक्ष्मीर्ज्ञानदीप्तिमयी उमादेवी, तया सह। अतश्च उमैव सप्तधा स्थिता सती उमापतेर्देहाविभिन्ना इत्यष्टशक्तिर्महेश्वरः।

स्वच्छन्दोद्योत, १० पट०, पृ० ४२३

रहते हैं। यह बात स्वच्छन्दतन्त्र के १०वें पटल में आगे चलकर स्पष्ट की गई है—

उमैव सप्तधा भूत्वा नामरूपविपर्ययैः ॥ १०२६ ॥
एवं स भगवान् देवो मातृभिः परिवारितः ।
आस्ते परमया लक्ष्म्या तत्रस्थो द्योतयञ्जगत् ॥ १०३० ॥

सप्तमातृकाओं[1] के स्वरूप का वर्णन निम्नांकित है :—

१. ब्राह्मी	कमल पत्र के समान कान्ति, दिव्य आभरणों से अलंकृत । दिशा—आग्नेयी ।
२. माहेश्वरी	शङ्ख और गोदुग्ध के सदृश कान्ति, महातेजस्विनी ।
३. कौमारी	पद्मगर्भ सदृश कान्ति, हार, केयूर से अलंकृत । दिशा—उत्तर ।
४. वैष्णवी	स्निग्ध नीलोत्पल सदृश कान्ति, हार और कुण्डलों से मण्डित । दिशा—दक्षिण ।

---

१. मातरः सप्तरूपिण्यो नानालङ्कारभूषिताः ॥ १०१७ ॥
परिवार्य महात्मानं समन्तात् पर्यवस्थिताः ।
ब्राह्मी कमलपत्राभा दिव्याभरणभूषिता ॥ १०१८ ॥
आग्नेय्यां दिशि देवेशि स्थिता वै श्रीरिवापरा ।
शङ्खगोक्षीरसङ्काशा त्वैशान्यां तु वरानने ॥ १०१९ ॥
माहेश्वरी महातेजास्तिष्ठते सुरपूजिता ।
कौमारी पद्मगर्भाभा हारकेयूरभूषिता ॥ १०२० ॥
दिश्युत्तरस्यां देवेशि कामिनीपर्युपासिता ।
स्निग्धनीलोत्पलनिभा हारकुण्डलमण्डिता ॥ १०२१ ॥
दक्षिणस्यां दिशि तु सा उपास्ते परमेश्वरम् ।
वैष्णवीति च विख्याता शिवेन परमात्मना ॥ १०२२ ॥
नीलजीमूतसङ्काशा सर्वाभरणभूषिता ।
वारुण्यां दिशि देवेशि वाराही पर्युपस्थिता ॥ १०२३ ॥
शङ्खकुन्देन्दुधवला हारकुण्डलमण्डिता ।
ऐन्द्रयां दिशि च सा देवी इन्द्राणी पर्युपस्थिता ।
करालवदना दीप्ता सर्वाभरणभूषिता ।
नैर्ऋत्यां दिशि चामुण्डा उपास्ते परमेश्वरम् ॥ १०२५ ॥
स्वच्छन्द०, १० पटल

५. वाराही	नील नीरद सदृश कान्ति, सम्पूर्ण आभरणों से आभूषित। दिशा—वारुणी।
६. इन्द्राणी	शङ्ख, कुन्द और इन्दु के सदृश धवल हार और कुण्डलों से आभूषित। दिशा—ऐन्द्री।
७. चामुण्डा	प्रदीप्त, करालवदना। दिशा—नैर्ऋत्य।

महालक्ष्मी को पृथक् मान कर प्रायः अष्ट मातृकाओं का उल्लेख किया जाता है।[1] ये अष्ट मातृकाएँ लोकमाता या[2] पशुमाता के नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्गों की संख्या निम्नलिखित है :—

अ, क, च, ट, त, प, य, श।

अकचादिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम् ॥ ७ ॥

वामकेश्वरीमतम्, प्रथम पटल

अणिमादि अष्टमहासिद्धियाँ भी इन्हीं अष्ट वर्गों से ही उत्पन्न होती हैं।

इसके अतिरिक्त वामकेश्वरतन्त्र में वर्गानुक्रम से आठ निम्नांकित[3] देवताओं का भी उल्लेख मिलता है :—

---

१. माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगेशी चेति ता मताः ॥ १४ ॥

मालिनीविजयोत्तर, तृ० अधि०

ब्रह्माणी माहेशी कौमारी, वैष्णवी च वाराही।
इन्द्राणी चामुण्डा समहालक्ष्मीश्च मातरः प्रोक्ताः ॥ ११ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, सप्तम पटल

ततोऽष्टविधभेदेन पञ्चाशद्वर्णरूपिणी।
ज्ञानशक्तिः परा सूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधाः ॥ ७१ ॥

श्रीनेत्रतन्त्र, २१वाँ अधि०

२. कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ॥ १९ ॥

शिवसूत्र

३. वर्गानुक्रमयोगेन यस्या मात्रष्टकं स्थितम्।
वन्दे तामष्टवर्गोत्थमहासिद्धयष्टकेश्वरीम् ॥ ११ ॥

वामकेश्वरीमतम्, प्रथम पटल

वर्गानुक्रमयोगेन देवताष्टकसंयुता।
अवर्गः प्रथमो देवि वशिनी तत्र देवता ॥ ६० ॥
तत्परस्तु कवर्गो यः तत्र कामेश्वरी स्थिता।
मोदिनी तु चवर्गस्था टवर्गे विमला तथा ॥ ६१ ॥

वर्ग	देवता
अवर्ग	वशिनी
कवर्ग	कामेश्वरी
चवर्ग	मोदिनी
टवर्ग	विमला
तवर्ग	अरुणा
पवर्ग	जयिनी
यवर्ग	सर्वेश्वरी
शवर्ग	कौलिनी

ये अष्टवर्गीय देवता हैं जिनकी अर्चना करके संसार को शीघ्र ही वश में किया जा सकता है। आनन्दलहरी नामक स्तोत्र में आचार्य शङ्कर ने कहा है—वाक्यों[1] की जननी, सद्यः काटे गये चन्द्रकान्तमणि की कान्ति के समान शोभाशाली, वशिनी आदि देवताओं के साथ ऐ माँ, यदि तुम्हारा कोई ध्यान करता है तो वह सुन्दर भङ्गिमाओं से सम्पन्न काव्य का कर्ता बन जाता है।

पीछे कही हुई अष्टवर्गाधिष्ठातृ ब्राह्मी आदि शक्तियाँ पर अर्थात् अभेदाभासात्मक तथा अपर अर्थात् भेदाभासात्मक फलों को देने वाली हैं।

अरुणा तु तवर्गस्था पवर्गे जयिनी स्थिता।
सर्वेश्वरी यवर्गे तु शवर्गे कौलिनीति च॥ ६२॥
एता वर्गाष्टके देवि अष्टावेव हि देवताः।
अर्चिताः पुरुषस्याशु प्रकुर्वन्ति वशं जगत्॥ ६३॥

वामकेश्वरीमतम्, प्रथम पटल

१. सवित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिलाभङ्गरुचिभि-
र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि सञ्चिन्तयति यः।
स कर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गिसुभगै-
र्वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः॥ १७॥

सौन्दर्यलहरी

भगवत्याः स्वरूपं तु पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृकैव। सेयं पञ्चाशद्वर्णात्मिका मातृका अष्टवर्गात्मिका भवति। ते चाष्टवर्गाः अकचटतपयशादयः। अकारादयः षोडश स्वराः प्रथमवर्ग आदि। एवं अष्टवर्गात्मिका भगवती मातृका त्रिपुरसुन्दरी अकचटतपयशवर्गेषु यथाक्रमं वशिन्यादिशक्तिभिर्योजिता—काव्यकर्तृत्वसम्पादिका।

सौन्दर्यलहरी (लक्ष्मीधर-व्याख्या)

प्रत्येक[1] वर्ग की शक्तियाँ त्रिधा विभक्त हैं। १. घोर, २. घोरतर और ३. अघोर। जब काम क्रोधादिकों का विस्तार करती हुई ये भोगापवर्गात्मक मिश्रित कर्मों के फल में व्यक्ति को आसक्त करती हैं तो इनका लक्षण 'घोर' होता है। विषयासक्त चित्त वालों को जब नीचातिनीच दशा में डालने का कारण बनती हैं तब इन्हें घोरतर कहा जाता है। और जब ज्ञात होने पर ये ही शिवता प्रदान करती हैं तो इन्हें अघोर कहते हैं।

पर और अपर, ज्ञान के दो प्रकार अथवा फल शिवसूत्रवार्तिककार भास्कर के मतानुसार कहे गये हैं—**'ज्ञानस्यैव द्विरूपस्य परापरविभेदतः'** (शिवसूत्रवार्तिकम्, सूत्र ४, प्रथम प्रकाश) आचार्य क्षेमराज ने श्रीपूर्वशास्त्र नामक ग्रन्थ को स्पन्दसन्दोह[2] में उद्धृत करते हुए पर, परापर और अपर—ये तीन भेद बताये हैं जिन्हें क्रमशः अघोर, घोर और घोरतर के नाम से कहा जाता है।

पूर्वोक्त[3] ब्राह्मी आदि शक्तियों को योगिनीहृदय में 'योगिनी' कहा गया है।

---

१. माहेश्याद्यष्टकं तत्र परापरफलप्रदम्।
अधिष्ठाय पशूनां च बाह्यार्थविगमे स्थितम्॥
मिश्रकर्मफलासक्तिजनकं घोरलक्षणम्।
विषयासक्तचित्तानामधोऽधः पातकारकम्॥
घोरघोरतरं तत्स्यात् अघोरं शिवदायकम्।
एवं मात्रष्टकं चैतत् प्रतिवर्गं त्रिभेदवत्॥
पूर्ववर्गे भैरवता संस्थितैवानपायिनी।
तदेवं शब्दराशिश्च त्रिस्वरूपोष्टवर्गजः॥

शिवसूत्रवार्तिक, तृतीय प्रकाश, सूत्र १९

२. विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून्याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः।
मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः॥
पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः।

स्पन्दसन्होह, पृ० २१

३. वर्गाष्टकनिविष्टाभिः योगिनीभिश्च संयुता।
योगिनीरूपमास्थाय राजते विश्वविग्रहा॥ ६१॥

योगिनीहृदय, मन्त्रसंकेत, द्वि० पटल

मातृका शक्ति ही वर्गाष्टक में प्रविष्ट होकर ब्राह्मी आदि योगिनी रूप ग्रहण करती हैं। समुदित रूप में इसे अष्टकेश्वरी कहा जाता है।

पीछे सप्तमातृकाओं की चर्चा करते हुए स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार उनके स्वरूप का वर्णन किया गया था। यहाँ योगिनीहृदय के अनुसार अष्टमातृकाओं की आकृति का विवरण प्रस्तुत किया जाता है:—

१. ब्रह्माणी	पीतवर्णा, चतुर्मुखी, वरदा और अभयमुद्रायुक्तहस्ता, कुण्डिका तथा अक्षमालाधारिणी।
२. माहेश्वरी	श्वेतवर्णा, त्रिनेत्रा, शूलधारिणी, कपाल, मृग और परशु लिए हुए।
३. ऐन्द्री	श्यामवर्णा, वज्र और उत्पलधारिणी।
४. कौमारी	पीतवर्णा, वरदाभयहस्ता, शक्तितोमरधारिणी
५. वैष्णवी	श्यामवर्णा, शङ्ख, चक्र, वर, अभय और पद्म-धारिणी, दिव्यभूषणभूषिता।
६. वाराही	श्यामलकान्ति, वज्र, चक्र, हल, मुशल, खड्ग, खेटक धारण करने वाली।
७. चामुण्डा	कृष्णवर्णा, दक्षिण करों में शूल, डमरू, खड्ग, वेतालक धारण करनेवाली। वाम करों में नाग, खेटक, घण्टा तथा कपाल धारण करनेवाली।
८. महालक्ष्मी[1]	पीताभा, पद्म, दर्पण और मातुलुङ्गफल धारण करनेवाली।

वर्गा अकचटतपयशाः तेषामष्टके निविष्टा ब्राह्म्याद्याः योगिन्यः। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे :—

सर्ववाङ्मयमूला या वर्गाष्टकसमावृता।
विश्वोत्पत्तिसमाविष्टशक्तिप्रसृतभैरवैः ॥
शक्तिभिश्च समायुक्ता अक्षान्ता मातृकावलिः ॥

चतुःशत्यामप्युक्तम्—

वर्गानुक्रमयोगेन यस्यां मात्रष्टकं स्थितम्।
वन्दे तामष्टवर्गोत्थां महासिद्ध्यष्टकेश्वरीम् ॥

योगिनीहृदयदीपिका

१. ब्रह्माणी पीतवर्णा च चतुर्भिः शोभिता मुखैः।
वरदाभयहस्ता च कुण्डिकाक्षलसत्करा ॥ १२० ॥
माहेश्वरी श्वेतवर्णा त्रिनेत्रा शूलधारिणी।
कपालमेणं परशुं दधाना पाणिभिः प्रिये ॥ १२१ ॥

मातृकावर्ण-क्रम—

१. अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ।

२. क, ख, ग, घ, ङ ।

३. च, छ, ज, झ, ञ ।

४. ट, ठ, ड, ढ, ण ।

५. त, थ, द, ध, न ।

६. प, फ, ब, भ, म ।

७. य, र, ल, व ।

८, श, ष, स, ह (ळ) क्ष ।

वर्णों में ळ इस दुःस्पृष्टवर्ण की गणना केवल मातृकाचक्रविवेक और भास्करराय के मतानुसार है । स्वच्छन्दतन्त्र और तन्त्रालोक में इसकी गणना नहीं है । वहाँ पचास वर्णों का ही निर्देश मिलता है । **"श्लिष्टं पुरः स्फुरित-सद्वयकोटिळक्षरूपं परस्परगतं च समं च कूटम् ॥"**

मातृ० च० वि०, पृ० १२१

समस्त वर्ण, बीज और योनि भेद से दो प्रकार के हैं । ककारादि व्यञ्जन योनि और स्वर-वर्ण बीज कहे जाते हैं । बीज शिवरूप और योनिवर्ण शक्ति-रूप है—

बीजयोन्यात्मकाद् भेदात् द्विधा बीजं स्वरा मताः ॥ १० ॥
कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधावर्ग-भेदतः ॥ ११ ॥

(ऐन्द्री तु श्यामवर्णा च वज्रोत्पललसत्करा ।)
कौमारी पीतवर्णा च शक्तितोमरधारिणी ॥ १२२ ॥
वरदाभयहस्ता च ध्यातव्या परमेश्वरी ।
वैष्णवी श्यामवर्णा च शङ्खचक्रवराभयान् ॥ १२३ ॥
हस्तपद्मैस्तु बिभ्राणा भूषिता दिव्यभूषणैः ।
वाराही श्यामलच्छाया पोत्रचक्रसमुज्ज्वला ॥ १२४ ॥
हलं च मुसलं खड्गं खेटकं दधती भुजैः ।
ऐन्द्री श्यामलवर्णा च वज्रद्वयलसत्करा ॥ १२५ ॥
चामुण्डा कृष्णवर्णा च शूलं डमरुकं तथा ।
खड्गं वेतालकं चैव दधाना दक्षिणैः करैः ॥ १२६ ॥
नागखेटकघण्टाख्यान् दधानान्यैः कपालकम् ।
महालक्ष्मीस्तु पीताभा पद्मदर्पणमेव च ॥ १२७ ॥
मातुलुङ्गफलं चैव दधाना परमेश्वरी ।

योगिनी०, द्वि० पटल

बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ।। १२ ।।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, तृ० अधि०

ऊपर वर्णों का जो क्रम दिखाया गया है उसे मातृका, सिद्धा अथवा पूर्वमालिनी कहते हैं। इससे विलक्षण उत्तरमालिनी क्रम है जिसकी अधिष्ठात्री मालिनी शक्ति है[1]। मातृका को अभिन्नयोनि[2] और मालिनी को भिन्नयोनि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि योनि अर्थात् व्यञ्जन (कादि) जहाँ बीज अर्थात् स्वरों से परस्पर मिल गये हों वही भिन्नयोनि मालिनी शक्ति है—

'मातृकाशब्दराशिसंघट्टात् शक्तिमदैक्यात्मलक्षणात् लवणारनालवत्परस्पर-मेलनात्, "भिन्ना बीजैर्भेदिता योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती।"

तन्त्रालोकवि०, तृ० आ०, पृ० १९२

वस्तुतः भैरवात्मक शब्द-राशि को मातृका और मालिनी इन दो रूपों में स्मरण करते हैं। मातृका ही क्षोभ्य और क्षोभकतावेश से मालिनी बन जाती है।[3] क्षोभ्य-योनियों का क्षोभक-बीजों से परस्पर सङ्घट्टात्मक आवेश ही इसमें कारण है—

'शब्दराशिः स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता।
क्षोभ्यक्षोभकतावेशान्मालिनीं तां प्रचक्ष्महे ।। २३२ ।।

तन्त्रा०, तृ० आ०

---

१. एकामर्शस्वभावत्वे शब्दराशिः स भैरवः।
आमृश्यच्छायया योगात् सैव शक्तिश्च मातृका ।। १९८ ।।
सा शब्दराशिसंघट्टाद् भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।। १९९ ।।

तं०, तृ० आ०

२. अभिन्नमालिनीकाये ....।। १० ।।
भिन्नयोनिस्तु या देव त्वयोक्ता मालिनी मम ।। ११ ।।

मालि० वि०, च० अ०

३. पदवाक्याद्यात्मना विभक्तानां स्थूलानां शब्दानां अविभागस्वभावतः कारणात्मा राशिः, मातृकेति पशुभिः—'सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि। इयं योनिः समाख्याता सर्वमन्त्रेषु सर्वदा ।।' इत्यादिनिरूपितेन स्वेन रूपेण अज्ञाता माता इत्यर्थः।

क्षोभ्या योनयः, क्षोभकाणि बीजानि तेषां भावः क्षुभिक्रियायां कर्तृकर्मरूपः सम्बन्धस्तत्र य आवेशः परस्परसङ्घट्टात्मा लोलीभावः ततो भिन्ना बीजैर्भेदिता योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती मालिनी—मलते विश्वं स्वरूपे धत्ते इति विश्वरूपिणी इत्यर्थः। तन्त्रा० वि०, पृ० २२२

यह मालिनी शक्ति अनुत्तर प्रकाशात्मक पराशक्ति रूप में निर्णीत हुई है। बीज और योनियों के सामरस्य से जनित नाना विसर्गोदयों से सुन्दर इसे विश्वरूपिणी भी कहा जाता है—

बीजयोनिसमापत्तिविसर्गोदयसुन्दरा।
मालिनी हि पराशक्तिनिर्णीता विश्वरूपिणी ॥ २३३ ॥

तन्त्रा०, तृ० आ०

यह शक्ति सम्पूर्ण विश्व को अपने रूप में धारण करती है अथवा समग्र को अपने अन्तर्भूत कर लेती है, इसीलिए मालिनी कही जाती है। इसका क्रम 'न' वर्ण से लेकर 'फ' वर्ण तक है—

'मलते विश्वं स्वरूपे धत्ते, मालयति अन्तःकरोति कृत्स्नमिति च मालिनीति व्यपदिश्यते। भिन्नयोनित्वादेव च अस्याः बीजयोनीनां विसंस्थुलत्वात् नादि-फान्तत्वम्।

तन्त्रा० वि०, पृ० १९२

मालिनीवर्णक्रम—

न[1], ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, ड, ढ, ठ, झ, ञ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, फ।

भगवती मालिनी, मुख्य शाक्तरूप धारिणी है। बीज और योनि के संघट्ट से जनित यह शक्ति सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली है। इसका मालिनी यह सार्थक नाम है क्योंकि यह रुद्र और शक्तियों की माला से युक्त है। संसार-स्वरूप शिशिर के संहार के लिए यह नादमयी भ्रमरी के सदृश है। सिद्धियाँ और मोक्ष दोनों इसके द्वारा प्राप्त होते हैं।

---

१. न शिखा ऋ ॠ ऌ ॡ च शिरोमाला 'थ' मस्तकम्।
नेत्राणि चोर्ध्वेऽधोऽन्ये ई घ्राणं मुद्रे णु णू श्रुती ॥ ३७ ॥
ब कवर्ग इ आ वक्त्रदन्तजिह्वासु वाचि च।
वभयाः कण्ठवक्षादिस्कन्धयोर्भुजयोर्डढौ ॥ ३८ ॥
ठो हस्तयोर्झञौ शाखा ज्रटौ शूलकपालके।
पह्वत् छलौ स्तनौ क्षीरमास जीवो विसर्गयुक् ॥ ३९ ॥
तत्परः कथितः प्राणः षक्षावुदरनाभिगौ।
मशताः कटिगुह्योरुयुग्मगा जानुनी तथा ॥ ४० ॥
ए-ऐकारौ तथा जङ्घे तत्परौ चरणौ दफौ ॥ ४१ ॥

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, तृ० अधि०

भ्रष्टविधानवाला मन्त्र भी इसके न्यास से पूर्ण हो जाता है। गारुड़ तथा वैष्णव मन्त्र साञ्जन (मलिन) होने पर भी इसके सम्पर्क से निरञ्जन होकर मोक्षप्रद बन जाते हैं—

'तदुक्तं—मालिनी हि भगवती मुख्यं शाक्तं रूपं बीजयोनिसङ्घट्टेन समस्तकामदुघम्। अन्वर्थं चैतन्नाम रुद्रशक्तिमालाभिर्युक्ता फलेषु पुष्पिता संसार-शिशिरसंहारनादभ्रमरी सिद्धिमोक्षधारिणी दानादानशक्तियुक्ता इति रलयोरे-कत्वस्मृतेः, अतएव भ्रष्टविधिरपि मन्त्र एतन्न्यासात्पूर्णो भवति साञ्जनोऽपि गारुडवैष्णवादिः निरञ्जनतामेत्य मोक्षप्रदो भवति ॥''

परात्रिंशिका टिप्पणी, पृ० १२२

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मातृका और मालिनी के बीच केवल वर्णों के विन्यास क्रम को लेकर ही अन्तर है वहाँ किसी एकान्त भिन्नता का अनुसन्धान करना असङ्गत होगा।

मातृका के पर रूप में इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये शक्तियाँ समुदित रूप में विद्यमान रहती हैं। अतः अभिप्राय विशेष को लक्ष्य करके उसे कभी परा इच्छाशक्ति, कदाचित् परा ज्ञानशक्ति तथा परा क्रियाशक्ति के रूप में भी उल्लेख करते हैं। विकास के क्रम में पर रूप से पृथक् इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ तो देखी ही जाती हैं।

परमेश्वर[1] की परा क्रियाशक्ति को मातृका कहा गया है। यह स्वाभास शक्ति है। परमेश्वर के स्वरूप का इसी के द्वारा प्रत्यवमर्श होता है। उसी मातृका के कलासमूह अथवा वर्ण समुदाय को मातृका-चक्र कहते हैं। मातृका वर्णों को माता[2], शक्तियाँ, देवियाँ, रश्मि और कला आदि नामों से अभिहित किया जाता है। ये वर्ण के पर्यायवाची शब्द हैं। शक्ति, देवी, रश्मि आदि नामों द्वारा ही यह संकेत मिलता है कि वर्ण केवल कल्पनामूलक नहीं है। प्रत्येक वर्ण एक शक्ति-विशेष है। स्वयं वर्ण के लिए भी केवल

---

१. स्वाभासा मातृका ज्ञेया क्रियाशक्तिः प्रभोः परा।
तस्याः कलासमूहो यस्तच्चक्रमिति कीर्तितम् ॥ २६ ॥

शि० सू० वा०, द्वितीय प्रकाश

२. अकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम् ॥ २० ॥
मातरः शक्तयो देव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृताः ॥ २१ ॥

वही, प्र० प्र०

'वर्ण' शब्द का उल्लेख न करके वर्णभट्टारक[1] इस अभिधान का प्रयोग तन्त्र में मिलता है।

प्रपञ्चसारतन्त्र[2] के अनुसार समस्त वर्ण अग्नीषोमात्मक हैं। वर्णों में व्याप्त आकारांश आग्नेय अथवा पुरुषात्मक है और इतर अंश सौम्य अथवा प्रकृत्यात्मक है। पहले, वर्णों का दो प्रकार से विभाग मिलता है : एक स्वर और दूसरा व्यञ्जन।

व्यंजन[3] अथवा कादि योनियाँ स्वरों से ही अभिव्यक्ति अथवा प्रकाश पाती हैं।

शब्द[4] द्वारा चित्तवृत्ति को अनुभावित करने के कारण, स्व अर्थात् आत्मा के रूप का बोध कराने के कारण अथवा कादि योनियों को विकसित करने के कारण ही इन्हें स्वर कहा जाता है।

व्यञ्जन वर्णों के दो भेद हैं—स्पर्श और व्यापक। व्यापक भी द्विधा भिन्न हैं अन्तःस्थ और ऊष्म[5]। समस्त वर्ण पुनः तीन प्रकार के हैं। सोलह स्वर सौम्य, पच्चीस स्पर्श सौर और दश व्यापक वर्ण आग्नेय हैं। स्वरों में ह्रस्व अ, इ, उ, ए, ओ और बिन्दु ये पुरुष वर्ण हैं; आ, ई, ऊ, ऐ, औ और विसर्ग स्त्री वर्ण हैं। अवशिष्ट चार ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ये नपुंसक वर्ण कहलाते हैं। ह्रस्व

---

१. यत्र सर्वसर्वात्मकबोधैकघनकण्ठौष्ठादिधाम्नि तथाविधबोधनविमर्शात्मकस्वातन्त्र्यसारमहामन्त्ररूपवर्णभट्टारकनिवेशः।

परात्रिंशिका, पृ० १८६

२. अथोभयात्मका वर्णाः स्युरग्नीषोमभेदतः ॥ १ ॥

प्रचञ्चसारत०, तृ० पटल

३. इत्थं यद्वर्णजातं तत्सर्वं स्वरमयं पुरा ॥ १८३ ॥
व्यक्तियोगाद् व्यञ्जनं तत्स्वरप्राणं यतः किल।

तं० लो०, तृ० आ०

४. स्वरयन्ति शब्दयन्ति सूचयन्ति चित्तं, स्वं च स्वरूपमात्मानं रान्ति एवमिति परप्रमातरि सङ्क्रामयन्तो ददति, स्वं च आत्मीयं कादियोनिरूपं रान्ति—बहिः प्रकाशयन्तो ददति इति स्वराः ॥

परात्रिंशिका, पृ० २०२।

५. त एव स्युस्त्रिधा भूयः सोमेनाग्निविभागतः ॥ १ ॥
स्वराख्याः षोडशप्रोक्ताः स्पर्शाख्याः पञ्चविंशतिः।
व्यापकाश्च दशैते स्युः सोमेनाग्न्यात्मकाः क्रमात् ॥ २ ॥

प्र० सा० तं०, तृ० पटल

स्वर शिवमय और दीर्घ शक्तिमय है। ऋ और ऌ का शिव वर्ग में तथा ॠ और ॡ का शक्ति वर्ग में अन्तर्भाव लेना चाहिए[1]—

आद्यन्तस्वरषट्कस्य मध्यमं यच्चतुष्टयम् ।
वर्णानामागमधनैस्तन्नपुंसकमीरितम् ॥ ४ ॥

प्र० सा०, तृ० पटल

वाग्देवता के अङ्ग वर्णमय है। इसीलिए उसको वर्णतनु कहते हैं। वर्णमयी मातृका देवी बहिर्मातृका के नाम से प्रसिद्ध है। भिन्न-भिन्न अंग वर्णों की महिमा या प्रसार मात्र है। यही कारण है कि साधकगण तत्तत् अंगों के अन्तराल में निगूढ़ शक्ति को उद्‌बुद्ध करने के लिए बहिर्मातृका[2] न्यास का अनुष्ठान करते हैं।

बहिर्मातृका

वर्ण		**अङ्ग**
अ	...	ललाट वा शिर
आ	...	मुख
इ	...	दक्षिण नेत्र
ई	...	वाम नेत्र
उ	...	दक्षिण कर्ण
ऊ	...	वाम कर्ण
ऋ	...	दक्षनासा
ॠ	...	वामनासा
ऌ	...	दक्षिण कपोल
ॡ	...	वाम कपोल
ए	...	अधर
ऐ	...	ओष्ठ
ओ	...	अधोदन्त

---

१. एकारौकारयोः दीर्घत्वेऽपि अत्र पारिभाषिकं ह्रस्वत्वम् ।
इमे ह्रस्वदीर्घाः क्रमात् शिवशक्तिमयाः ।
ह्रस्वाः अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ एते शिवमयाः पुंरूपाश्चेत्यर्थः ।
दीर्घाः आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ऐ, औ एते शक्तिमयाः स्त्रीरूपाश्चेत्यर्थः ।
पदार्थादर्श, शारदा० टीका, पृ० ६६

२. कामधेनुतन्त्र, १० वाँ पटल

वर्ण		अङ्ग
औ	...	ऊर्ध्वदन्त
अं	...	जिह्वा
अः	...	ग्रीवा
क	...	दक्षिण बाहुमूल
ख	...	दक्षिण कूर्पर (केहुनी)
ग	...	दक्षिण मणिबन्ध
घ	...	दक्षिण अंगुलिमूल
ङ	...	दक्षिण अंगुल्यग्र
च	...	वाम बाहुमूल
छ	...	वाम कूर्पर
ज	...	मणिबन्ध
झ	...	अंगुलिमूल
ञ	...	अंगुल्यग्र
ट	...	दक्षिण ऊरुमूल
ठ	...	जानु
ड	...	गुल्फ
ढ	...	अंगुलिमूल
ण	...	अंगुल्यग्र
त	...	वाम ऊरुमूल
थ	...	जानु
द	...	गुल्फ
ध	...	अंगुलिमूल
न	...	अंगुल्यग्र
प	...	दक्षिणकुक्षि
फ	...	वामकुक्षि
ब	...	पृष्ठ
भ	...	नाभि
म	...	उदर
य	...	हृदय
र	...	दक्षिण स्कन्ध
ल	...	वाम स्कन्ध
व	...	तालु
श	...	हृदय से दक्षिण हस्त तक

ष	...	हृदय से वामहस्त तक
स	...	हृदय से दक्षिणपाद तक
ह	...	हृदय से वामपाद तक
क्ष	...	ब्रह्मरन्ध्र

इस प्रकार सूक्ष्मतम (सामान्य) सूक्ष्मतर (कारण) सूक्ष्म और स्थूल मातृका एवं मातृका-वर्णों का परिचय प्रस्तुत किया गया। मातृकाओं के वर्णरूप, स्वरूप, अभिरूप एवं महिमा आदि का विस्तृत वर्णन अग्रिम अध्याय में किया जायगा।

पञ्चम अध्याय

मातृकाओं के वर्ण-रूप, स्वरूप, अभिरूप, महिमा, कला, देवता, शक्ति, ऋषि और छन्द

'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त समस्त वर्ण[1], अमृतमय होने के कारण अत्यन्त निर्मल हैं। कहा जाता है कि द्वादशान्त अर्थात् आज्ञाचक्र से ऊपर ललाटदेश में स्थित अर्द्धचन्द्र से जो अमृतबिन्दु क्षरित होते हैं वे ही मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि छः कमल-दलों में आकर वर्णों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

वर्णों के रंगों—वर्णरूपों के विषय में लक्ष्मीधर ने सुभगोदय की व्याख्या चन्द्रकला में विस्तृत वर्णन किया है। वहाँ सनत्कुमारसंहिता के एतत्सम्बन्धी वर्णन को ही उन्होंने मान्यता दी है। जैसा कि अग्रिम विवृति से स्पष्ट होगा कि प्रत्येक वर्ण पञ्चभूतों, त्रिदेवों एवं प्राणादि से सङ्घटित होता है, अतः उसकी नील-पीतादि वर्णरूपता भी स्वतःसिद्ध है। मातृकाओं के वर्ण-रूपों के सम्बन्ध में कई मत हैं।

अकारादि[2] स्वरों का रङ्ग (वर्ण) धूम्र है। 'क' से लेकर 'ट' तक सभी वर्ण सिन्दूराभ हैं; 'ड' से 'फ' तक वर्णों का रंग गौर है। तथा पांच 'ब' आदि

---

१. अकारादिक्षरान्तैर्वर्णैरत्यन्तनिर्मलैः।
   अशेषशब्दैर्या भाति तामानन्दप्रदां नुमः॥

सूतसंहिता, यज्ञवै० खं०, अ० ४७

आधारादिषट्कमलदलेषु पातिता द्वादशान्तस्थितचन्द्रमण्डलात्सृता अमृतबिन्दवोऽकारादिक्षकारान्तवर्णात्मना परिणताः। उक्तं ह्याचार्यैः—

मूलाधारात्स्फुरिततडिदाभाप्रभा सूक्ष्मरूपो-
द्गच्छन्त्यामस्तकमणुतरा तेजसां मूलभूता।
सौषुम्णाध्वाचरणनिपुणा सा सवित्रानुबिद्धा-
ध्याता सद्योऽमृतमथ रवेः स्रावयेत् सार्धसोमात्।
शिरसि निपतिता या बिन्दुधारा सुधाया।
भवति लिपिमयी सा ताभिरङ्गं मुखाद्यम्॥

तात्पर्यदीपिका, पृ० ७५३

२. तानि च सनत्कुमारसंहितायां—

"अकाराद्याः स्वरा धूम्राः सिन्दूराभास्तु कादयः।

अरुण वर्ण एवं लकारादि पाँच स्वर्ण वर्ण है। 'ह' और 'क्ष' ये तड़ित वर्ण हैं–यह सनत्कुमारसंहिता का मत है।

तन्त्रान्तर में स्वरों को स्फटिकाभ, स्पर्श वर्णों को विद्रुम सदृश, यकारादि नव वर्णों को पीत और क्षकार को अरुण कहा गया है।

कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि सम्पूर्ण वर्णों का रंग श्वेत है। मातृका-विवेक नामक ग्रन्थ में प्रत्येक वर्ण का पृथक्-पृथक् रंग बताया गया है। यथा—

'अकारं सर्वदेवत्यं रक्तं सर्ववशङ्करम्'।

सौभाग्यभास्कर, पृ० १२५

कामधेनुतन्त्र में भी वर्णों के स्वरूप की चर्चा करते हुए पृथक् रङ्गों का उल्लेख मिलता है। यहाँ उसी के आधार पर वर्णों के तात्त्विक रूप का वर्णन समीचीन होगा।

'अ'—[1]शरच्चन्द्रसदृश, पञ्चकोणमय, पञ्चदेवमय, शक्तित्रययुक्त, निर्गुण, त्रिगुणोपेत, कैवल्यमूर्ति, बिन्दुतत्वमय प्रकृतिस्वरूप।

डादिफान्ता गौरवर्णा अरुणाः पञ्च वादयः।
लकाराद्याः काञ्चनाभाः हकारान्त्यौ तडिन्निभौ॥ इति

तन्त्रान्तरे तु—

स्फटिकाभाः स्वराः प्रोक्ताः स्पर्शा विद्रुमसन्निभाः।
यादयो नव पीताः स्युः क्षकारस्त्वरुणो मतः॥
सर्वे वर्गा शुक्ला इत्यपि क्वचित्।

मातृकाविवेके तु—

अकारं सर्वदेवत्यं रक्तं सर्ववशङ्करम्—
इत्यादिना प्रत्यक्षरं वर्णविशेष उक्तः।

सौभाग्यभास्कर, पृ० १२५

१. शृणु तत्वमकारस्य अतिगोप्यं वरानने।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चकोणमयं सदा॥
पञ्चदेवमयं वर्णं शक्तित्रयसमन्वितम्।
निर्गुणं त्रिगुणोपेतं स्वयं कैवल्यमूर्तिमान्।
बिन्दुतत्वमयं वर्णं स्वयं प्रकृतिरूपिणी।
आकारं परमाश्चर्यं शङ्खज्योतिर्मयं प्रिये।
ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रमयं प्रिये।
पञ्चप्राणमयं वर्णं स्वयं परमकुण्डली।
इकारं परमानन्दसुगन्धकुसुमच्छविम्।

'आ'—शङ्खज्योतिर्मय, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय, पञ्चप्राणमय तथा परम कुण्डली रूप।

'इ'—कुसुमच्छवि, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय, सदा शक्तिमय, गुरुब्रह्ममय, सदाशिवमय, गुणत्रयसमन्वित, मूर्तिमान् कुण्डली।

'ई'—पीतविद्युत् के सदृश आकृति युक्त, परमकुण्डली रूप, ब्रह्मा विष्णु और रुद्रमय पञ्चदेव, पञ्चप्राण तथा चतुर्ज्ञानमय।

'उ'—पीतचम्पक[१] सदृश, अधः कुण्डलिनी, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, चतुर्वर्गप्रद।

'ऊ'—शङ्ख और कुन्द के सदृश आकारयुक्त, परमकुण्डली, पञ्चप्राण तथा पञ्चदेवमय, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सदा सुखप्रद।

'ऋ'—मूर्तिमान् कुण्डली, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रमय, सदाशिवयुक्त, ईश्वर संयुक्त, पञ्चवर्ण तथा चतुर्ज्ञानमय, रक्तविद्युत् सदृश।

'ॠ'—परमकुण्डली, पीतविद्युत् सदृश, पञ्चदेव तथा चतुर्ज्ञानमय, पञ्चप्राणयुक्त त्रिशक्तिसहित।

हरिब्रह्ममयं वर्णं सदा रुद्रयुतं प्रिये।
सदाशक्तिमयं देवि गुरुब्रह्ममयं तथा।
सदाशिवमयं वर्णं पर ब्रह्मसमन्वितम्।
हरिब्रह्मात्मकं वर्णं गुणत्रयसमन्वितम्।
इकारं परमेशानि स्वयं कुण्डली मूर्तिमान्।

कामधेनुतन्त्र (हस्तलिखित)

इकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डली।
ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं तथा रुद्रमयं सदा।
पञ्चदेवमयं वर्णं पीतविद्युल्लताकृतिम्।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा॥

१. उकारं परमेशानि अधःकुण्डलिनी स्वयम्।
पीतचम्पकसङ्काशं पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणमयं देवि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
शङ्खकुन्दसमाकारं ऊकारं परमकुण्डली।
पञ्चप्राणमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा।
धर्मार्थकाममोक्षं च सदासुखप्रदायकम्॥
ऋकारं परमेशानि कुण्डली मूर्तिमान् स्वयम्।
अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चैव वरानने।
सदाशिवयुतं वर्णं सदा ईश्वरसंयुतम्।

'ऌ'—[1]पीतविद्युत् सदृश, कुण्डली परदेवता, ब्रह्मादि देवों का निवासस्थान पञ्चदेव, चतुर्ज्ञान तथा पञ्चप्राणमय, गुणत्रयात्मक, बिन्दुत्रयात्मक ।

'ए'—रञ्जनीकुसुम सदृश, ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक, पञ्चदेवमय, पञ्चप्राणात्मक, बिन्दुत्रयात्मक चतुर्वर्गप्रद, परमकुण्डली ।

'ऐ'—कोटिचन्द्र सदृश, महाकुण्डलिनी, पञ्चप्राण, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रमय । सदाशिवमय, बिन्दुत्रययुक्त ।

'ओ'—रक्तविद्युत् सदृश, पञ्चदेवमय, त्रिगुणात्मा, ईश्वर, पञ्चप्राणमय, देवमाता, परमकुण्डली ।

पञ्चप्राणमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं तथा ।
रक्तविद्यल्लताकारं ऋकारं प्रणमाम्यहम् ॥
ॠकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डमम् ।
पीतविद्युल्लताकारं पञ्चदेवमयं सदा ।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं पञ्चप्राणयुतं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं प्रणमामि सदा प्रिये ॥

कामधेनुतन्त्र

१. ऌकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डली परदेवता ।
अत्र ब्रह्मादयः सर्वे तिष्ठन्ति सततं प्रिये ।
पञ्चदेवमयं वर्णं चतुर्ज्ञानमयं सदा ।
पञ्चप्राणयुतं वर्णं तथा गुणत्रयात्मकम् ।
बिन्दुत्रयात्मकं वर्णं पीतविद्युल्लता तथा ॥
एकारं परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ।
रञ्जनीकुसुमप्रख्यं पञ्चदेवमयं सदा ॥
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं तथा बिन्दुत्रयात्मकम् ।
चतुर्वर्गप्रदं देवि स्वयं परमकुण्डली ॥
ऐकारं परमं दिव्यं महाकुण्डलिनी स्वयम् ।
कोटिचन्द्रप्रतीकाशं पञ्चप्राणमयं सदा ।
ब्रह्मविष्णुमयं वर्णं बिन्दुत्रयसमन्वितम् ।
ओकारं चञ्चलापाङ्गि पञ्चदेवमयं सदा ।
रक्तविद्युल्लताकारं त्रिगुणात्मानमीश्वरम् ॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं नमामि देवमातरम् ।
एतद्वर्णं महेशानि स्वयं परमकुण्डली ॥

कामधेनुतन्त्र

'औ'—[1]रक्तविद्युत् सदृश, कुण्डली, ब्रह्मादि देवों का निवास, पञ्चप्राण तथा सदाशिवमय, ईश्वरसंयुक्त, चतुर्वर्गप्रद।

'अं'—पीतविद्युत् सदृश, पञ्चप्राणात्मक, ब्रह्मादिदेव तथा सर्वज्ञानमय, बिन्दु-त्रयसमन्वित।

'अः'—रक्तविद्युत्कान्ति, पञ्चदेव, पञ्चप्राण तथा सर्वज्ञानमय, आत्मादितत्वों से युक्त, बिन्दुत्रय, शक्तित्रयात्मक।

'क'—जपा, यावक तथा सिंदूर सदृश कान्तिशालिनी, चतुर्भुजा, त्रिनेत्रा, बाहुलताओं से शोभित, कदम्ब की कलियों के आकार वाले स्तनों से विभूषित, रत्न, कङ्कण, केयूर, तथा अङ्गदों से सुशोभित, रत्न तथा पुष्पहारों से मण्डित, परमेश्वरी कामिनी रूप।

---

१. रक्तविद्युल्लताकारं औकारं कुण्डली स्वयम्।
अत्र ब्रह्मादयः सर्वे तिष्ठन्ति सततं प्रिये।
पञ्चप्राणमयं वर्णं सदा शिवमयं सदा।
सदा ईश्वरसंयुक्तं चतुर्वर्गप्रदायकम्॥
अङ्कारं बिन्दुसंयुक्तं पीतविद्युत्समप्रभम्।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं ब्रह्मादिदेवतामयम्॥
सर्वज्ञानमयं वर्णं बिन्दुत्रयसमन्वितम्॥
अःकारं परमेशानि विसर्गसहितं सदा।
....रक्तविद्युत्प्रभामयम्।
पञ्चदेवमयो वर्णः पञ्चप्राणमयः सदा।
सर्वज्ञानमयो वर्णः आत्मादितत्वसंयुतः।
बिन्दुत्रयमयो वर्णः शक्तित्रयमयः सदा।
किशोरवयसाः सर्वे गीतवाद्यादितत्पराः।
शिवस्य युवती एताः स्वयं कुण्डली मूर्तिमान्।
जपायावकसिन्दूरमदृशीं कामिनीं पराम्।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां च बाहुवल्लीविराजिताम्।
कदम्बकोरकाकारस्तनद्वयविभूषिताम्।
रत्नकङ्कणकेयूरैरङ्गदैरुपशोभिताम्।
रत्नहारैः पुष्पहारैः शोभितां परमेश्वरीम्॥
एवं हि कामिनीं ध्यात्वा ककारं दशधा जपेत्॥

कामधेनुतन्त्र

'ख'—[1]कुण्डलीत्रय-युक्त, शङ्ख तथा कुन्द के समान कान्तिशाली, त्रिकोण तथा बिन्दुत्रय-संयुक्त, गुणत्रय, पञ्चदेव एवं शक्तित्रयविशिष्ट, सामान्यतया सर्वशक्त्यात्मक।

'ग'—पञ्चदेवात्मक, निर्गुण, त्रिगुणोपेत, निरीह, निर्मल, पञ्चप्राणमय, अरुणादित्य सदृश, कुण्डली रूप।

'घ'—चतुष्कोणात्मक, पञ्चदेवमय, तरुणादित्य-सदृश, त्रिगुणोपेत, सर्वगति, सर्वप्रद, शान्त।

'ङ'—[2]परम कुण्डली रूप, त्रिगुण एवं सर्वदेवमय पञ्चप्राणमय।

---

१. खकारं परमेशानि कुण्डलीत्रयसंयुतम्।
खकारं परमाश्चर्यं शङ्खकुन्दसमप्रभम्॥
कोणत्रययुतं रम्यं बिन्दुत्रयसमन्वितम्।
गुणत्रययुतं देवि पञ्चदेवमयं सदा।
त्रिशक्तिसंयुतं वर्णं सर्वशक्त्यात्मकं प्रिये॥
गकारं परमेशानि पञ्चदेवात्मकं सदा।
निर्गुणं त्रिगुणोपेतं निरीहं निर्मलं सदा।
पञ्चप्राणमयं वर्णं गकारं प्रणमाम्यहम्।
अरुणादित्यसङ्काशं कुण्डलीं प्रणमाम्यहम्॥
घकारं चञ्चलापाङ्गि चतुष्कोणात्मकं सदा।
पञ्चदेवमयं वर्णं तरुणादित्यसन्निभम्।
निर्गुणं त्रिगुणोपेतं सदा त्रिगुणसंयुतम्।
सर्वगं सर्वदं शान्तं घकारं प्रणमाम्यहम्।

कामधेनुतन्त्र, चतुर्थ पटल

२. ङकारं परमेशानि स्वयं परमकुण्डली।
सर्वदेवमयं वर्णं त्रिगुणं लोललोचने॥
पञ्चप्राणमयं वर्णं ङकारं प्रणमाम्यहम्।
चवर्णं शृणु सुश्रोणि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
कुण्डलीसहितं देवि स्वयं परमकुण्डली।
रक्तविद्युल्लताकारं सदा त्रिगुणसंयुतम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
छकारं परमाश्चर्यं स्वयं परमकुण्डली।
सततं कुण्डलीयुक्तं पञ्चदेवमयं सदा।

'च'—चतुर्वर्गप्रद, कुण्डली से युक्त परमकुण्डली-रूप, रक्त विद्युत्-सदृश, त्रिगुण, पञ्चदेव, पञ्चप्राण, त्रिशक्ति तथा बिन्दुत्रययुक्त।

'छ'—परमकुण्डली रूप, कुण्डली संयुक्त, पञ्चदेव, पञ्चप्राण, त्रिशक्ति, त्रिबिन्दु एवं ईश्वरयुक्त पीतविद्युत्-सदृश।

'ज'—मध्यकुण्डली-रूप, शरच्चन्द्र-सदृश, त्रिगुण, पञ्चदेव, पञ्चप्राण, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु सहित।

'झ'—[1]कुण्डली तथा मोक्षरूप, रक्तविद्युत्-सदृश, त्रिगुणयुक्त, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणात्मक, त्रिबिन्दु, त्रिशक्ति एवं ईश्वरसंयुत।

पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं सदा ईश्वरसंयुतम्।
पीतविद्युल्लताकारं छकारं प्रणमाम्यहम्।
जकारं परमेशानि या स्वयं मध्यकुण्डली।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं सदा त्रिगुणसंयुतम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं प्रिये।

कामधेनुतन्त्र, चतुर्थ पटल

१. झकारं परमेशानि कुण्डलीमोक्षरूपिणी।
रक्तविद्युल्लताकारं सदा त्रिगुणसंयुतम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।
सदा ईश्वरसंयुक्तं ञकारं शृणु पार्वति।
रक्तविद्युल्लताकारं स्वयं परमकुण्डली।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
टकारं चञ्चलापाङ्गि स्वयं परमकुण्डली।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
ठकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
पीतविद्युल्लताकारं सदा त्रिगुणसंयुतम्।
पञ्चदेवात्मकं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।

कामधेनुतन्त्र, चतुर्थ पटल

'ञ'—रक्तविद्युत्-लता-तुल्य, परमकुण्डलीरूप, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति एवं त्रिबिन्दु सहित ।

'ट'—परमकुण्डली-रूप, पञ्चदेव एवं पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दुयुक्त ।

'ठ'—कुण्डली और मोक्ष रूप, पीतविद्युत्-लता के आकार सदृश, त्रिगुण, पञ्च-देव एवं पञ्चप्राणात्मक त्रिबिन्दु एवं त्रिशक्ति सहित ।

'ड'—[1]त्रिगुणयुक्त, पञ्चदेव और पञ्चप्राणमय त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु सहित चतुर्ज्ञानमय एवं आत्मादि तत्त्वों से युक्त, पीतविद्युत्-लताकार ।

'ढ'—पराकुण्डली, पञ्चदेव—पञ्चप्राणमय, त्रिगुण तथा आत्मादि तत्त्वयुक्त रक्तविद्युत्-लताकार ।

'ण'—परमकुण्डली, पीतविद्युत्-लताकार, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, आत्मादि तत्त्वों से संवलित एवं महासौख्य-प्रदायक ।

'त'—स्वयं परमकुण्डली, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति एवं आत्मा-दितत्त्वयुक्त, त्रिबिन्दु-सहित, पीतविद्युत्समकान्तिशाली ।

---

१. डकारं चञ्चलापाङ्गि सदा त्रिगुणसंयुतम् ।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं तथा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा ।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम् ।
पीतविद्युल्लताकारं डकारं प्रणमाम्यहम् ।
ढकारं परमाराध्यं या स्वयं कुण्डली परा ।
पञ्चदेवात्मकं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा ।
सदा त्रिगुणसंयुक्तं आत्मादितत्त्वसंयुतम् ।
रक्तविद्युल्लताकारं ढकारं प्रणमाम्यहम् ।
णकारं परमेशानि या स्वयं परमकुण्डली ।
पीतविद्युल्लताकारं पञ्चदेवमयं सदा ।
पञ्चप्राणमयं देवि सदा त्रिगुणसंयुतम् ।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं महासौख्यप्रदायकम् ।
तकारं चञ्चलापाङ्गि स्वयं परमकुण्डली ।
पञ्चदेवात्मकं वर्णं पञ्चप्राणमयं तथा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम् ।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं पीतविद्युत्समप्रभम् ।

कामधेनुतन्त्र, चतुर्थ पटल

'थ'—[1]कुण्डली तथा मोक्ष रूप, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु सहित, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, तरुण आदित्य के समान कान्तिशाली।

'द'—चतुर्वर्ग-प्रदाता, पञ्चदेवमय, त्रिशक्ति-सहित, ईश्वरसंयुत, त्रिबिन्दु तथा आत्मादितत्त्व-युक्त, परमकुण्डलीरूप, रक्तविद्युल्लताकार।

'ध'—कुण्डली तथा मोक्ष रूप, आत्मादितत्त्व-संयुक्त, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दुसहित, पीतविद्युत्-सदृश, चतुर्वर्ग-प्रदायक।

'न'—[2]रक्तविद्युत् के सदृश आकृति, पञ्चदेवमय, परमकुण्डलीरूप, पञ्चप्राणात्मक, त्रिबिन्दु तथा त्रिशक्तियुक्त, आत्मादितत्त्वयुक्त, चतुर्वर्गप्रद।

---

१. थकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं प्रिये।
तरुणादित्यसङ्काशं थकारं प्रणमाम्यहम्।
दकारं शृणु चार्वङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।
सदा ईश्वरसंयुक्तं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं स्वयं परमकुण्डली।
रक्तविद्युल्लताकारं दकारं हृदि भावय।
धकारं परमेशानि कुण्डली मोक्षरूपिणी।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणमयं देवि त्रिशक्तिसहितं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णं धकारं हृदि भावय।
पीतविद्युल्लताकारं चतुर्वर्गप्रदायकम्।
कामधेनुतन्त्र, पञ्चम पटल

२. नकारं शृणु चार्वङ्गि रक्तविद्युल्लताकृतिम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं स्वयं परमकुण्डली।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम्।
चतुर्वर्गप्रदं वर्णं हृदि भावय पार्वति।
अतः परं प्रवक्ष्यामि पकारं मोक्षमव्ययम्।
चतुर्वर्गप्रदं वर्णं शरच्चन्द्रसमप्रभम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं स्वयं परमकुण्डली।
पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।

'प'—अव्यय मोक्षरूप, चतुर्वर्गप्रद, शरच्चन्द्रतुल्य-कान्तिशाली, पञ्चदेवमय स्वयं परमकुण्डली, पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु सहित, आत्मादितत्त्वयुक्त ।

'फ'—रक्तविद्युत्सदृश, चतुर्वर्गप्रद, पञ्चदेवमय, पञ्चप्राणात्मक, त्रिगुण तथा त्रिबिन्दु सहित, आत्मादितत्त्व-संयुक्त ।

'ब'—[1]चतुर्वर्गप्रदाता, शरच्चन्द्रोपम, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिबिन्दु तथा त्रिशक्ति सहित, निविड़ अमृत के समान निर्मल, कुण्डलिनी-रूप ।

त्रिबिन्दुसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम् ।
महामोक्षप्रदं वर्णं हृदि भावय पार्वति ।
फकारं शृणु चार्वङ्गि रक्तविद्युल्लतोपमम् ।
चतुर्वर्गमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा ।
पञ्चप्राणमयं वर्णं सदा त्रिगुणसंयुतम् ।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं त्रिबिन्दुसहितं सदा ।
कामधेनुतन्त्र

१. बकारं शृणु चार्वङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
शरच्चन्द्रप्रतीकाशं पञ्चदेवमयं सदा ।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं निविडाऽमृतनिर्मलम् ।
स्वयं कुण्डलिनी साक्षात् सततं प्रणमाम्यहम् ।
भकारं चञ्चलापाङ्गि स्वयं परमकुण्डली ।
महामोक्षप्रदं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं प्रिये ।
मकारं शृणु चार्वङ्गि स्वयं परमकुण्डली ।
महामोक्षप्रदं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा ।
तरुणादित्यसङ्काशं चतुर्वर्गप्रदायकम् ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा ।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं हृदिस्थं प्रणमाम्यहम् ।
यकारं शृणु चार्वङ्गि चतुष्कोणमयं सदा ।
पलालधूमसङ्काशं स्वयं परमकुण्डली ।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणात्मकं सदा ।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं तथा ।
प्रणमामि सदा वर्णं मूर्तिमान् मोक्षमव्ययम् ।

'भ'—परमकुण्डलीरूप, महामोक्षप्रद, पञ्चदेवमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु-सहित।

'म'—परमकुण्डलीरूप, महामोक्षप्रद, पञ्चदेवमय, तरुण आदित्य के समान कान्तिशाली, चतुर्वर्ग प्रदाता, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु-सहित, आत्मादि-तत्त्वों से युक्त।

'य'—चतुष्कोणमय, पुआल के धूयें के समान कान्तिशाली, परमकुण्डली-रूप पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु-सहित मूर्तिमान्, अव्यय मोक्ष-तुल्य।

'र'—[1]कुण्डलीद्वययुक्त, रक्तविद्युत् के सदृश कान्तिशाली, पञ्चदेव तथा पञ्च-प्राणात्मक, त्रिबिन्दु तथा त्रिशक्तिसहित, आत्मादितत्त्वयुक्त।

'ल'—कुण्डलीद्वययुक्त, पीतविद्युत्सदृश, सम्पूर्ण रत्नप्रदाता, पञ्चदेव तथा पञ्च-प्राणमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु सहित, आत्मादितत्त्वयुक्त।

'व'—कुण्डली तथा अव्यय मोक्षरूप, पुआल के समान कान्तिशाली, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु-सहित, आत्मादितत्त्वों से युक्त।

'श'—[2]कुण्डलीतत्त्वयुक्त, पीतविद्युत् के सदृश कान्ति-युक्त, सर्वरत्नप्रदायक, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु सहित आत्मादितत्त्वों से युक्त।

---

१. रकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीद्वयसंयुतम्।
रक्तविद्युल्लताकारं पञ्चदेवात्मकं सदा।
पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
त्रिशक्तिसहितं देवि आत्मादितत्त्वसंयुतम्।
लकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीद्वयसंयुतम्।
पीतविद्युल्लताकारं सर्वरत्नप्रदायकम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं हृदि भावय पार्वति।
वकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीमोक्षमव्ययम्।
पलालधूमसङ्काशं पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणमयं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम्।

कामधेनु०, षष्ठ पटल

२. शकारं चञ्चलापाङ्गि कुण्डलीतत्त्वसंयुतम्।
पीतविद्युल्लताकारं सर्वरत्नप्रदायकम्।

'ष'—अष्टकोणमय, रक्तचन्द्र-सदृश, परमकुण्डलीरूप, चतुर्वर्गप्रद, सुधानिर्मित-विग्रह, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, सत्त्वादि-त्रिगुण एवं त्रिशक्तियुक्त, त्रिबिन्दु तथा सर्वदेवमय, आत्मादितत्त्वों से युक्त।

'स'—परात्पर-शक्ति-बीज, कोटिविद्युत्-सदृश, कुण्डलीत्रय-युक्त, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणमय, त्रिगुण, त्रिबिन्दु तथा त्रिशक्तियुक्त, आत्मादितत्त्वों से पूर्ण।

'ह'—चतुर्वर्ग-प्रदाता, कुण्डलीत्रययुक्त, रक्तविद्युत्-सदृश कान्तिशाली, त्रिगुण तथा वायु आदि पञ्चदेव-युक्त, पञ्चप्राण, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु-सहित।

पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
त्रिशक्तिसहितं वर्णं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
आत्मादितत्त्वसंयुक्तं हृदि भावय पार्वति।
षकारं शृणु चार्वङ्गि अष्टकोणमयं सदा।
रक्तचन्द्रप्रतीकाशं स्वयं परमकुण्डली।
चतुर्वर्गप्रदं वर्णं सुधानिर्मितविग्रहम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
रजःसत्त्वतमोयुक्तं त्रिशक्तिसहितं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम्।
सर्वदेवमयं वर्णं हृदि भावय पार्वति।
सकारं शृणु चार्वङ्गि शक्तिबीजं परात्परम्।
कोटिविद्युल्लताकारं कुण्डलीत्रयसंयुतम्।
पञ्चदेवमयं वर्णं पञ्चप्राणमयं सदा।
रजःसत्त्वतमोयुक्तं त्रिबिन्दुसहितं सदा।
प्रणम्य सततं देवि हृदि भावय पार्वति।
हकारं शृणु चार्वङ्गि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
कुण्डलीत्रयसंयुक्तं रक्तविद्युल्लतोपमम्।
रजःसत्त्वतमोवायु पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणमयं वर्णं हृदि भावय पार्वति।
क्षकारं शृणु चार्वङ्गि कुण्डलीत्रयसंयुतम्।
चतुर्वर्गमयं वर्णं पञ्चदेवमयं सदा।
पञ्चप्राणात्मकं वर्णं त्रिशक्तिसहितं सदा।
त्रिबिन्दुसहितं वर्णमात्मादितत्त्वसंयुतम्।
रक्तचन्द्रप्रतीकाशं हृदि भावय पार्वति।

कामधेनुतन्त्र, षष्ठ पटल।

'क्ष'—कुण्डलीत्रययुक्त, चतुर्वर्गमय, पञ्चदेव तथा पञ्चप्राणात्मक, त्रिशक्ति तथा त्रिबिन्दु-सहित, आत्मादितत्त्वों से युक्त, रक्तचन्द्रसदृश।

वर्णों की स्वरूप-सङ्घटना किन तत्त्वों से होती है, इसका विस्तृत वर्णन ऊपर किया गया है। कुसुमकलिका एवं उसके बीज के गर्भ में निहित, गन्ध, शुचिता, स्मिति, ज्योति आदि तत्त्वों के सदृश वर्णों के गर्भ में, इच्छा, ज्ञान, और क्रियात्मक तीन शक्तियाँ, आकाश, वायु आदि पञ्चदेव, प्राणादि पञ्च-प्राण आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व शिवतत्त्व आदि निहित रहते हैं।

कामधेनुतन्त्र के मतानुसार मातृकावर्ण ही पचास युवतियां हैं जो विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। युवतियों का यह गण ब्रह्मरूप ही है; इन से परे न तो कोई विद्या है और न मन्त्र।

मातृकात्मक युवतियों के अभिरूप का विवरण वर्णोद्धारतन्त्र में किया गया है। वहीं उनके लिपिमय सङ्केतों का भी समुचित उल्लेख हुआ है। ककार के कामिनी सदृश अभिरूप की विवृति ऊपर कामधेनुतन्त्र के अनुसार की गई है। वहाँ केवल ककार के ही अभिरूप की चर्चा है, अन्य वर्णों की नहीं। अन्य तन्त्रों में भी समस्त वर्णों के अभिरूप अथवा पूर्ण आकार तथा महिमा का वर्णन मिलता है।

शारदातिलकतन्त्र की पदार्थादर्शटीका में तन्त्रान्तर से उद्धृत वर्णों की मूर्ति और महिमा :—

अ—[1]स्वर्णवर्ण, आठ भुजाओं में शूल और गदा लिये हुए, चतुर्मुख, अतिकाय, कूर्मवाहन।

आ—श्वेतवर्ण, पाशाङ्कुशहस्त, कमलासन, हस्तिवाहन, मौक्तिक-भूषण, षष्ट्यूर्ध्वयोजनशरीर।

---

१. चामीकरनिभः शूलगदाराजद्भुजाष्टकः।
चतुरास्योऽतिकायः स्यादकारः कूर्मवाहनः।
पाशाङ्कुशकरा श्वेता पद्मसंस्थेभवाहना।
षष्ट्यूर्ध्वयोजनमिता स्यादा मौक्तिकभूषणा।
पीतं कराब्जकुलिशपरशुं वैरिनाशनम्।
द्व्येकयोजनमानं स्यादिकारं कच्छपस्थितम्।
दशयोजनदीर्घार्द्धनाहासौ हंसवाहना।
ईः स्यात्पुष्टिप्रदा श्वेता मौक्तिकाढ्या सितानना।
गदाङ्कुशकरं काकवाहनं कृष्णभूषणम्।
योजनद्विसहस्राणां मानमूद्वयमक्षरम्।

इ—पीतवर्ण, वज्र, परशु, कमलधारी, कच्छपवाहन, योजनत्रयमित-शरीर।

ई—श्वेत, पुष्टिप्रद, मौक्तिकभूषण, दशयोजनदीर्घ, हंसवाहन।

उ, ऊ—कृष्णभूषण, गदाङ्कुशधारी, काकवाहन, द्विसहस्र-योजन-दीर्घ।

ऋ, ॠ—[1]रक्तवर्ण, पाशशक्तिधारी, अग्निबिम्बस्थित—उष्ट्रवाहन, उक्त-प्रमाण, कालघ्न।

ऌ, ॡ—पुष्परागवर्ण, कमलासन, हंसवाहन, पाशवज्रधर, रौद्ररूप।

ए—श्यामवर्ण चक्रवाकवाहन, हारभूषण।

ऐ—नवकुन्दवर्ण, शूलवज्रधारिणी, द्विपवाहन, कविताकरी, कोटियोजनशरीर।

ओ—पीतवर्ण, चिन्मय, सर्वगत शान्त, द्विसहस्र-करोज्ज्वल, वृषवाहन।

औ—[2]तप्तकाञ्चनवर्ण, पाशचक्रधारिणी, विभूतिप्रद, योजनसहस्रदीर्घ।

---

१. पाशशक्तिभुजं रक्तं वह्निबिम्बस्थितोष्ट्रगम्।
उक्तप्रमाणं कालघ्नमृॠवर्णद्वयं भवेत्।
चतुरस्राब्जहंसस्थं पुष्परागसमप्रभम्।
पाशवज्रकरं रौद्रं ऌयुग्मं स्यान्निरोधनम्।
गदाफलारिपद्माढ्यकरं हारविभूषणम्।
चक्रवाकस्थितं श्याममेकारं तु महद्भवेत्।
नवकुन्दनिभा शूलवज्रबाहा द्विपस्थिता।
कोटियोजनमाना स्यादैमूर्तिः कविताकरी॥
चिन्मयं सर्वगं शान्तं द्विसहस्रकरोज्ज्वलम्।
पीतं गोवृषसंस्थं स्यादोरूपं श्रीकरात्मकम्।

शारदातिलकतन्त्र-टीका, पृ० ३५९

२. तप्तहेमनिभा पाशचक्रबाहुर्विभूतिदा।
योजनानां सहस्रेण स्यादौवर्णामितोजसा॥
नवकुङ्कुमसच्छायः पद्मस्थो रक्तभूषणः।
चतुर्भुजः स्यादंवर्णः श्रीकरो रिपुनाशकः।
वज्रशूलकरं क्षुद्र (युद्ध) फलदं खरवाहनम्।
सहस्रयोजनमितं स्वरान्तं द्विभुजं स्मरेत्।
भूबिम्बगजसंस्थः स्यान्नवकुङ्कुमसन्निभः।
शूलवज्रकरः कार्णः सहस्रद्वययोजनः।
पाशतोमरहस्तः खो मेषसंस्थो निरोधनः।
योजनानां सहस्रेण मितः कृष्णो विभीषणः।
पाशाङ्कुशकरः पद्मे फणिसंस्थोऽरुणप्रभः।
गकारः सर्पभूषः स्यात् शतयोजनसंस्थितः।

शारदातिलकतन्त्र-टीका, पृ० ३५९

अं—नवकुङ्कुमवर्ण, पद्मस्थ, रक्तभूषण, चतुर्भुज, रिपुनाशक, श्रीकर।

अः—वज्रशूलधारी, खरवाहन, द्विभुज, सहस्रयोजनमित।

क—नवकुङ्कुमवर्ण, भूबिम्बगत, गजवाहन, शूलवज्रकर, सहस्रद्वययोजनमित।

ख—कृष्णवर्ण, पाशतोमरहस्त, मेषवाहन, भीषण, सहस्रयोजनदीर्घ।

ग—अरुणवर्ण, पाशाङ्कुशधारी, सर्पवाहन, सर्पभूषण, शतयोजनशरीर।

घ—[1]कृष्णवर्ण, उष्ट्रवाहन, गदावज्रधारी, द्विमुख, सहस्रयोजनशरीर।

ङ—कृष्णवर्ण, कोटियोजनदीर्घ, द्विभुज, काकवाहन, क्षुद्रफलप्रद।

च—श्वेतवर्ण, युगाग्रपद्मसंस्थित, चतुर्बाहु, कौड़ियों से भूषित, सुगन्धाढ्य, कोटियोजनविस्तीर्ण।

छ—श्वेतवर्ण, कोटियोजनविस्तीर्ण, पद्मस्थित, चतुर्बाहु।

ज, झ—श्वेतवर्ण, चतुर्बाहु, कोटियोजनमित।

ञ—कृष्णवर्ण, द्विभुज, विद्वेषकरण, काकवाहन, योजनसहस्रशरीर।

ट—द्विभुज, क्रौञ्चवाहन, महाध्वनि।

ठ—धरापद्मगजेन्द्रस्थित, द्विभुज, उज्ज्वल, विषनाशक, लक्षयोजनशरीर।

ड—[2]अष्टबाहु, चतुर्मुख, अलङ्कृत, श्वेतकमलासन, सहस्रयोजनविस्तीर्ण।

---

१. उष्ट्रोलूखलसंस्थः स्याद् गदावज्रकरोमितः।
योजनानां सहस्रेण द्विमुखो घः सितेतरः।
कोटियोजनदीर्घार्द्धनाहं कृष्णं ज्वलत्प्रभम्॥
द्विभुजं काकवाहं स्यात् ङार्णं क्षुद्रफलप्रदम्।
युगाग्रपद्मसंस्थः स्यात् चतुर्बाहुः सितप्रभः॥
चः कपर्दी सुगन्धाढ्यः कोटियोजनसंस्थितः।
सितस्तावस्थितः पद्मे चतुर्बाहुश्छवर्णकः॥
जझौ च कोटिमानौस्तः चतुर्बाहूसितप्रभौ।
योजनानां सहस्रैः स्यात् सम्मितं काकवाहनम्॥
विद्वेषकरणं ञार्णं कृष्णवर्णं भुजद्वयम्।
क्रौञ्चस्थौ द्विभुजष्टः स्यान्नागनद्धो महाध्वनिः।
धरापद्मगजेन्द्रस्थष्ठवर्णो द्विकरोज्ज्वलः।
लक्षयोजनमानः स्याद् गरनाशकरो विभुः॥

शारदातिलकतन्त्र-टीका, पृ० ३६०

२. डवर्णोऽप्यष्टबाहुः स्याच्चतुर्वक्त्रः स्वलङ्कृतः।
योजनानां सहस्रेण मितः कुवलये स्थितः॥
अग्निबिम्बाजगो ढार्णो दशबाहुर्ज्वलत्प्रभः।
सहस्रमानं व्याघ्रस्थं योजनानां हि णं भवेत्॥

ढ—अग्निबिम्बस्थ, अजवाहन, दशबाहु, ज्वलत्कान्ति ।

ण—व्याघ्रवाहन, सहस्रयोजनविस्तीर्ण ।

त—कुङ्कुमवर्ण, गन्धाढ्य, सहस्रयोजन-विस्तीर्ण, चतुर्बाहु, स्वलङ्कृत ।

थ—कोटियोजनमान, अष्टबाहु, चतुर्मुख, पीतवर्ण, वृषारूढ, भयङ्कर ।

द—द्विमुख षड्भुज, कोटियोजन-शरीर, महिषवाहन ।

ध—सिंहवाहन, चतुर्बाहु, चतुर्लक्षयोजन-शरीर ।

न—द्विभुज, काकवाहन, सहस्रयोजनविस्तीर्ण ।

प—विंशभुज, दशमुख, कोटिमान, वकवाहन ।

फ—[1]दशकोटिमान, भुजद्वयवान्, चञ्चल, श्वेत, सिंहस्थ, श्वेतकमल-स्थित ।

षष्टिहायनसंस्थः स्याच्चतुर्बाहुः स्वलङ्कृतः ।
सहस्रमानो गन्धाढ्यः कुङ्कुमाभश्च ताक्षरः ।
कोटियोजनमानः स्यादष्टबाहुश्चतुर्मुखः ।
पीतवर्णो वृषारूढः थवर्णोऽपि भयङ्करः ।
द्विमुखं षड्भुजं कोटिमानं दं महिषस्थितम् ।
सिंहवाहश्चतुर्बाहुर्धश्चतुर्लक्षसम्मितः ।
द्विभुजं काकवाहं नं तत्सहस्रैर्मितं भवेत् ।
विंशभुजो दशास्यः पः कोटिमानो वकस्थितः ।

शारदातिलक० टीका, पृ० ३६०

१. दशकोटिमितः फार्णो योजनानां भुजद्वयः ।
कण्ठीरवसिताम्भोजे निषण्णश्चञ्चलः सितः ॥
षडास्यो द्विभुजो बः स्याद्दशकोटिमितोऽरुणः ।
नीलोत्पललसद्धंसवाहनः पुष्टिदायकः ।
त्रिहस्तं त्रिमुखं व्याघ्रवाहनं भीषणाकृतिम् ॥
दशलक्षमितं भार्णं धूम्राभं स्यान्महाबलम् ।
चतुर्भुजो मकारः स्यात् सविषोरगसन्निभः ।
मण्डितो मुण्डमालाभिः शशिखण्डविराजितः ।
व्याघ्रश्चतुर्मुखो (र्भुजो) धूम्रो यार्णः स्यान्मृगसंस्थितः ।
त्रिकोणाम्बुजमेषस्थो रार्णो बाहुचतुष्टयः ।
चतुरस्राब्जदन्तीन्द्रपृष्ठेनोपरि राजिता ।
चतुर्भुजा लकारस्य मूर्तिः स्यात् घुसृणप्रभा ।
अब्धिस्थपद्मनक्रस्थो द्विभुजो वः सितः स्मृतः ।
करद्वयाब्जगा हेमवर्णा शार्णाकृतिस्तथा ।

शारदातिलक० टीका, पृ० ३६१

ब—षण्मुख, द्विभुज, दशकोटिमान, अरुणवर्ण, नीलोत्पलस्थ,हंसवाहन, पुष्टिप्रद।
भ—त्रिहस्त, त्रिमुख, व्याघ्रवाहन, भीषणाकृति, धूम्रवर्ण, महाबली, दशलक्ष-विस्तीर्ण ।
म—चतुर्भुज, विषयुक्तसर्पसदृश, मुण्डमाला-भूषित, शशिकला-युक्त ।
य—चतुर्मुख, धूम्रवर्ण, मृगवाहन, व्यापक ।
र—त्रिकोणाम्बुजयुक्तमेषवाहन, चतुर्बाहु ।
ल—चतुष्कोणकमलयुक्तगजेन्द्रवाहन, चतुर्भुज, केशरवर्ण ।
व—समुद्रस्थकमल के बीच स्थित नक्रवाहन, द्विभुज, श्वेतवर्ण ।
श—द्विभुज, कमलासन, हेमवर्ण ।
ष—[1]सहस्रमान, कृष्णवर्ण, द्विभुज ।
स—कोटिमान, श्वेतवर्ण, द्विभुज, हंसवाहन ।
ह—श्वेत, त्रिबाहु, चन्द्रशेखर ।
ळ—श्वेत, गजस्थित, पाश और अभयमुद्राधारी ।
क्ष—भूबिम्बशैलासन, दशबाहु, मणिप्रभ ।

मन्त्र-साधना में वर्णों की उपर्युक्त मूर्तियों एवं महिमामण्डलों का ध्यान किया जाता है। वर्णों की उपर्युक्त महिमा सम्बन्धी विवृति और सनत्कुमार-संहिता में वर्णित महिमामण्डलों के वर्णन में कुछ अन्तर है, जो निम्नांकित हैं :—

[2]अकार का महिमामण्डल अस्सी लाख योजन तथा आकार का उससे द्विगुण है। इकार—नब्बे लाख योजन। ईकार—द्विगुण। उकार—कोटि योजन। ऊ—द्विगुण। ऋ—पचास लाख योजन। ॠ—द्विगुण। ऌ, ॡ—द्विगुण। ए—डेढ़ करोड़। ऐ, और औ—एकार के समान। बिन्दु और विसर्ग—अकार से द्विगुण। व्यञ्जन शक्तियों की महिमा अकार के मण्डल से आधी समझना चाहिये।

स्वर-वर्ण सौम्य तथा व्यञ्जन सौर एवं आग्नेय हैं, अतः शशि, सूर्य और

---

१. सहस्रमानः कृष्णाभो द्विभुजः कार्मणेऽथ षः ।
कोटिमानः सितः सः स्यात् हंसगो (ह्याङ्गो) द्विभुजान्वितः ।
हार्णः श्वेतस्त्रिबाहुः स्यात् व्यात्तशीतांशुशेखरः ।
पाशाभयकरा लार्णमूर्तिः श्वेता गजस्थिता ।
भूबिम्बशैलसंस्थः क्षो दशबाहुर्मणिप्रभः ।
मूर्तिभेदा यथार्णानां मयात्रप्रतिपादिताः ॥

शारदातिलक० टीका, पृ० ३६१

२. द्रष्टव्य :—सौन्दर्यलहरी के १७ वें श्लोक की लक्ष्मीधरकृत टीका ।

अग्नि की कलारूप तिथि, मास और अग्नि की शक्तियाँ भी वर्णों से क्रमशः उत्पन्न होती हैं। शशि के मूर्तिभाव की प्रधानता से जिन्हें अमृत, मानद आदि कहते हैं, शक्तिभाव की प्रधानता से उन्हें ही अमृता, मानदा अथवा प्रतिपदा आदि कहा जाता है। मासों के मूर्तिभाव की प्रधानता से जो मधु, माधव अथवा तपन, तापन आदि नामों से व्यवहृत होती हैं, वे ही शक्तिभाव की प्रधानता से तपिनी, तापिनी आदि अभिधाओं द्वारा ख्यात होती हैं। इसी प्रकार भ्राजक आदि अग्नि-मूर्तियाँ धूम्रार्चि आदि संज्ञाओं द्वारा कही जाती हैं[1]।

[2]सोलह स्वरों से उतनी ही चान्द्रकलायें, और दो-दो स्पर्श वर्णों से बारह सौर कलायें, और व्यापक वर्णों से दश आग्नेय कलायें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार निम्नांकित अड़तीस कलायें हुईं :—

अ —	अमृता	ॡ —	चन्द्रिका
आ —	मानदा	ॡ —	कान्ति
इ —	पूषा	ए —	ज्योत्स्ना
ई —	तुष्टि	ऐ —	श्री
उ —	पुष्टि	ओ —	प्रीति
ऊ —	रति	औ —	अङ्गदा
ऋ —	धृति	अं —	पूर्णा
ऋ —	शशिनी	अः —	पूर्णामृता

स्पर्श युग्मों से निम्नलिखित वसुदातृ सौर कलायें उत्पन्न होती हैं :—

[3]युग्म वर्ण, मास के दो पक्षों के परिचायक हैं। अन्त्य 'मकार' रविरूप ही है। अतः स्वावयवरूप समस्त वर्णों में वह अनुगत है।

---

१. द्रष्टव्य :—प्रयोगक्रमदीपिका, पृ० ४५१

२. शशीनाग्न्युत्थिता यस्मात् स्वरस्पृग्व्यापकाक्षराः ॥ १० ॥
तत्त्रिभेदसमुद्भूता अष्टात्रिंशत्कला मता ॥
स्वरैः सौम्याः स्पर्शयुग्मैः सौरा याद्याश्च वह्निजाः ॥ ११ ॥
अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टी रतिर्धृतिः ॥ १५ ॥
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ।
पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः ॥ १६ ॥
श्रीप्रपञ्चसारतन्त्र, तृ० पटल

३. अत्र तपनतापनादयो भासमूर्तयः तेन कभादिद्विद्विवर्णवाच्याः ।
......तेषां पक्षद्वयलक्षणत्वात्तदुपपत्तिरिति ॥
प्र० क्र० दी०, पृ० ४५०

क भ	—	तपनी	छ द	—	सुषुम्णा
ख ब	—	तापिनी	ज थ	—	भोगदा
ग फ	—	धूम्रा	झ त	—	विश्वा
घ प	—	मरीचि	ञ ण	—	बोधिनी
ङ न	—	ज्वालिनी	ट ढ	—	धारिणी
च ध	—	रुचि	ठ ड	—	क्षमा

दश धर्मप्रदा आग्नेय कलायें :—

य	—	धूम्रार्चि	ष	—	सुश्री
र	—	ऊष्मा	स	—	सुरूपा
ल	—	ज्वलिनी	ह	—	कपिला
व	—	ज्वालिनी	ळ	—	हव्यवहा
श	—	विस्फुलिङ्गिनी	क्ष	—	कव्यवहा

प्रणव की अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद इन पांच कलाओं से ही पचास वर्णों की उत्पत्ति होती है। उन वर्णों या कलाओं के नाम निम्नांकित हैं :—

[1]नाद से उत्पन्न सोलह कलायें :—

अ	—	१. निवृत्ति
आ	—	२. प्रतिष्ठा

तप(पि)नी तापि(प)नी धूम्रा मरीचिर्ज्वालिनी रुचि: ।
सुषुम्णा भोगदा विश्वा बोधिनी धारिणी क्षमा ॥ १७ ॥
कभाद्या वसुदा: सौराष्ठडान्ता द्वादशेरिता: ।
धूम्रार्चिरूष्मा ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गनी ॥ १८ ॥
सुश्री: सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहे अपि ।
याद्यार्णयुक्ता वह्न्युत्था दश धर्मप्रदा: कला: ॥ १९ ॥

प्र० सा०, तृ० पटल ।

१. वर्णेभ्य एव तारस्य पञ्चभेदैस्तु भूतगैः ॥ १२ ॥
सर्वगाश्च समुत्पन्ना: पञ्चाशत्संख्यका: कला: ॥ १३ ॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा ॥ २५ ॥
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृता चाप्यायिनी तथा ।
व्यापिनी व्योमरूपा स्यादनन्ता नादसम्भवा ॥ २६ ॥
नादजा: षोड़श प्रोक्ता भुक्तिमुक्तिप्रदायिका: ।

इ	—	३.	विद्या
ई	—	४.	शान्ति
उ	—	५.	इन्धिका
ऊ	—	६.	दीपिका
ऋ	—	७.	रेचिका
ॠ	—	८.	मोचिका
ऌ	—	९.	परा
ॡ	—	१०.	सूक्ष्मा
ए	—	११.	सूक्ष्मामृता
ऐ	—	१२.	ज्ञानामृता
ओ	—	१३.	आप्यायिनी
औ	—	१४.	व्यापिनी
अं	—	१५.	व्योमरूपा
अः	—	१६.	अनन्ता

[1]अकार से उत्पन्न कलायें :—

क	—	१७.	सृष्टि
ख	—	१८.	ऋद्धि
ग	—	१९.	स्मृति
घ	—	२०.	मेधा
ङ	—	२१.	कान्ति
च	—	२२.	लक्ष्मी
छ	—	२३.	धृति
ज	—	२४.	स्थिरा
झ	—	२५.	स्थिति
ञ	—	२६.	सिद्धि

---

१. सृष्टिरृद्धिः स्मृतिर्मेधाकान्तिर्लक्ष्मीर्धृतिः स्थिरा।
स्थितिः सिद्धिरकारोत्थाः कला दश समीरिताः ॥ २० ॥
अकारप्रभवा ब्रह्मजाताः स्युः सृष्टये कलाः।
जरा च पालिनी शान्तिरैश्वरी रतिकामिके ॥ २१ ॥
वरदा ह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घाश्चोकारजाः कलाः।
उकारप्रभवा विष्णुजाताः स्युः स्थितये कलाः ॥ २२ ॥
प्रपञ्चसा०, तृ० पटल।

उकार से उत्पन्न कलायें :—

ट	—	२७.	जरा
ठ	—	२८.	पालिनी
ड	—	२९.	शान्ति
ढ	—	३०.	ऐश्वरी
ण	—	३१.	रति
त	—	३२.	कामिका
थ	—	३३.	वरदा
द	—	३४.	ह्लादिनी
ध	—	३५.	प्रीति
न	—	३६.	दीर्घा

मकार से उत्पन्न कलायें :—

प	—	३७.	तीष्णा
[1]फ	—	३८.	रौद्री
ब	—	३९.	भया
भ	—	४०.	निद्रा
म	—	४१.	तन्द्रा
य	—	४२.	क्षुत्
र	—	४३.	क्रोधिनी
ल	—	४४.	क्रिया
व	—	४५.	उत्कारी
श	—	४६,	मृत्यु

बिन्दु से उत्पन्न कलायें :—

ष	—	४७.	पीता
स	—	४८.	श्वेता
ह	—	४९.	अरुणा

---

१. तीक्ष्णारौद्री भया निद्रा तन्द्रा क्षुत् क्रोधिनी क्रिया ।
उत्कारी चैव मृत्युश्च मकाराक्षरजाः कलाः ॥ २३ ॥
मकारप्रभवा रुद्रजाताः संहृतये कला ।
बिन्दोरपि चतस्रः स्युः पीता श्वेताऽरुणाऽसिता ॥ २४ ॥
प्र० सा०, तृतीय पटल ।

ळ — ५०. असिता

क्ष[1] — ५१. अनन्ता

प्रपञ्चसारतन्त्र में अनन्ता (क्ष) का उल्लेख नहीं है; यहाँ शारदातिलक के अनुसार ही अनन्ता का सन्निवेश किया गया है। असिता (ळ) और (क्ष)

---

१. ईश्वरेणोदिता विन्दोः पीता श्वेतारुणासिता।
अनन्ता च षवर्गस्था जपाकुसुमसन्निभाः ॥ २४ ॥
शारदातिलकतन्त्र०, द्वितीय पटल।

शारदातिलकतन्त्रानुसार पचास कलायें :—
तारस्य पञ्चभेदेभ्यः पञ्चाशद्वर्णगाः कलाः।
सृष्टिर्वृद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मी धृतिः स्थिरा।
स्थितिः सिद्धिरिति प्रोक्ताः कचवर्गकलाः क्रमात् ॥ १८ ॥
अकाराद्ब्रह्मणोत्पन्नास्तप्तचामीकरप्रभाः।
एताः करधृताक्षस्रक्पङ्कजद्वयकुण्डिकाः ॥ १९ ॥
जरा च पालिनी शान्तिरीश्वरी रतिकामु(मि)के।
वरदाह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घा स्युष्टतवर्गजाः ॥ २० ॥
उकाराद्विष्णुनोत्पन्नास्तमालदलसन्निभाः।
अभीतिवरचक्रेष्टबाहवः परिकीर्तिताः ॥ २१ ॥
तीक्ष्णा रौद्री भया निद्रा तन्द्री क्षुत्क्रोधिनी क्रिया।
उत्कारी मृत्युरेताः स्युः कथिताः पयवर्गजाः ॥ २२ ॥
रुद्रेण मार्णादुत्पन्नाः शरच्चन्द्रनिभप्रभाः।
उद्वहन्त्योऽभयं शूलं कपालं बाहुभिर्वरम् ॥ २३ ॥
ईश्वरेणोदिता विन्दोः पीता श्वेतारुणासिता।
अनन्ता च षवर्गस्था जपाकुसुमसन्निभाः ॥ २४ ॥
अभयं हरिणं टङ्कं दधाना बाहुभिर्वरम्।
निवृत्तिः सप्रतिष्ठा स्यात् विद्या शान्तिरनन्तरम् ॥ २५ ॥
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा।
सूक्ष्मा सूक्ष्मामृता ज्ञानामृता चाप्यायिनी तथा ॥ २६ ॥
व्यापिनी व्योमरूपा स्युरनन्ता स्वरसंयुताः।
सदाशिवेन सञ्जाता नादादेताः सितत्विषः ॥ २७ ॥
अक्षस्रक्पुस्तकगुणकपालाढ्यकराम्बुजाः।
न्यासे तु पञ्चाशदाख्याताः कलाः सर्वसमृद्धिदाः ॥ २८ ॥
शारदातिलक० टीका, द्वितीय पटल

अनन्ता को मिलाकर वस्तुत: एक्यावन कलायें होती हैं। किन्तु 'क्ष' को अक्षमाला का सुमेरु मानकर पचास की संख्या का समाधान किया जा सकता है।

[1]वर्णों के देवता और शक्तियां

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
अ	श्रीकण्ठ	पूर्णोदरी	केशव	कीर्ति
आ	अनन्त	विरजा	नारायण	कान्ति
इ	सूक्ष्म	शाल्मली	माधव	तुष्टि
ई	त्रिमूर्ति	लोलाक्षी	गोविन्द	पुष्टि
उ	अमरेश्वर	वर्तुलाक्षी	विष्णु	धृति
ऊ	अर्धीश	दीर्घघोणा	मधुसूदन	क्षान्ति (शान्ति, शा० ति०)
ऋ (भारभूतीश	भावभूति शा० ति०)	सुदीर्घमुखी	त्रिविक्रम	क्रिया
ॠ (तिथीश)	तिथि	गोमुखी	वामन	दया
ऌ	स्थाणु	दीर्घजिह्वा	श्रीधर	मेधा
ॡ	हर	कुण्डोदरी	हृषीकेश	हर्षा
ए (झिण्डीश)	झिण्टीशा	ऊर्ध्वकेशी	पद्मनाभ	श्रद्धा
ऐ	भौतिक	विकृतमुखी	दामोदर	लज्जा
ओ	सद्योजात	ज्वालामुखी	वासुदेव	लक्ष्मी
औ	अनुग्रहेश्वर	उल्कामुखी	सङ्कर्षण	सरस्वती
अं	अक्रूर	श्रीमुखी	प्रद्युम्न	प्रीति
अ:	महासेन	विद्यामुखी	अनिरुद्ध	रति
क	क्रोधीश	महाकाली	चक्री	जया
ख	चण्डेश	सरस्वती	गदी	दुर्गा
ग	पञ्चान्तक	गौरी	शार्ङ्गी	प्रभा
घ	शिवोत्तम	त्रैलोक्यविद्या	खड्गी	सत्या
ङ	एकरुद्र	मन्त्रशक्ति	शङ्खी	चण्डा
च	कूर्म	आत्मशक्ति	हली	वाणी
छ	एकनेत्र	भूतमाता	मुषली	विलासिनी
ज	चतुरानन	लम्बोदरी	शूली	विरजा
झ	अजेश	द्राविणी	पाशी	विजया

१. द्रष्टव्य:—प्रपञ्चसार०, तृ० पटल।

वर्ण	रुद्र	शक्ति	विष्णु	शक्ति
ञ	शर्व	नागरी	अंकुशी	विश्वा
ट	सोमेश्वर	वैखरी	मुकुन्द	वित्तदा
		(खेचरीशा० ति०)		
ठ	लाङ्गलि	मञ्जरी	नन्दज	सुतदा
				(सुनदा शा० ति०)
ड	दारुक	रूपिणी	नन्दी	स्मृति
ढ	अर्द्धनारीश्वर	वारिणी	नर	ऋद्धि
ण	उमाकान्त	कोटरी	नरकजित्	समृद्धि
		(काकोदरी शा० ति०)		
त	आषाढ़ी	पूतना	हरि	शुद्धि
थ	दण्डी	भद्रकाली	कृष्ण	भुक्ति
द	अद्रि	योगिनी	सत्य	मुक्ति
ध	मीन	शङ्खिनी	सात्वत	मति
न	मेष	गर्जिनी	शौरि	क्षमा
प	लोहित	कालरात्रि	शूर	रमा
फ	शिखी	कुब्जिनी	जनार्दन	उमा
ब	छगलण्ड	कपर्दिनी	भूधर	क्लेदिनी
भ	द्विरण्ड	महावज्रा	विश्वमूर्ति	क्लिन्ना
म	महाकाल	जया	वैकुण्ठ	वसुदा
य	कपाली	सुमुखेश्वरी	पुरुषोत्तम	वसुधा
र	भुजङ्गेश	रेवती	बली	परा
ल	पिनाकी	माधवी	बलानुज	परायणा
व	खड्गीश	वारुणी	बाल	सूक्ष्मा
श	वक	वायवी	वृषघ्न	सन्ध्या
ष	श्वेत	रक्षोविदारिणी	वृष	प्रज्ञा
स	भृगु	सहजा	सिंह	प्रभा
ह	नकुली	लक्ष्मी	वराह	निशा
ळ	शिव	व्यापिनी	विमल	अमोघा
क्ष	संवर्तक	माया	नृसिंह	विद्युता ।

सत्य तो यह है कि प्रत्येक वर्ण मन्त्र है । अतः उसका ऋषि, छन्द, देवता, शक्ति, बीज और स्वरूप होना चाहिए । स्वरूपादिकों की चर्चा तो पीछे की जा चुकी है, ऋषि और छन्द का उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

वर्णों के ऋषि और छन्द :—

वर्ण	ऋषि	छन्द
अ, आ	अर्जुन्यायन	मध्या
इ, ई	भार्गव	प्रतिष्ठा
उ, ऊ, ऋ	अग्निवेश्य	सुप्रतिष्ठा
ॠ, ऌ, ॡ, ए	गौतम	गायत्री
ऐ, ओ	लौहित्यायन	अनुष्टुप्
औ, अं	वशिष्ठ	बृहती
अः	माण्डव्य	दण्डक
क	मौद्गायन	पङ्क्ति
ख, ग, घ, ङ	अज	त्रिष्टुप्
च	योग्यायन	जगती
छ	गोपाल्यायन	अतिजगती
ज	नषक	शक्वरी
झ	अज	शक्वरी
ञ	काश्यप	अतिशक्वरी
ट	शुनक	अष्टि
ठ	सौमनस्य	अत्यष्टि
ड	कारण	धृति
ढ, ण	माण्डव्य	अतिधृति
त, थ, द, ध	साङ्कृत्यायन	कृति
न, प, फ	कात्यायन	प्रकृति
ब	दाक्षायण	आकृति
भ	व्याघ्रायण	विकृति
म	शाण्डिल्य	सङ्कृति
य, र	काण्डल्य	अतिकृति[1]
ल	दाण्ड्यायन	उत्कृति
व	जातायन	दण्डक
श	लाट्यायन	दण्डक

१. पिङ्गलसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य तथा भरत के नाट्यशास्त्र में 'अभिकृति' पाठ है किन्तु वृत्तरत्नाकर में 'अतिकृति'।

वर्ण	ऋषि	छन्द
ष, स, ह	जय	दण्डक
[1]ळ, क्ष	माण्डव्य	दण्डक

---

१. अर्जुन्यायनमध्ये द्वौ भार्गवस्तौ प्रतिष्ठिका ।
अग्निवेश्यः सुप्रतिष्ठा त्रिषु चाब्धिषु गौतमः ॥
गायत्री च भरद्वाज उष्णिगेकारके परे ।
लोहित्यायनकोऽनुष्टुप् वशिष्ठो वृहती द्वयोः ॥
माण्डव्यो दण्डकश्चापि स्वराणां मुनिछन्दसी ।
मौद्गायनश्च पङ्क्तिः केऽजस्त्रिष्टुप् द्वितये घङोः ॥
योग्यायनश्चजगती गोपाल्यायनको मुनिः ।
छन्दोऽतिजगती चे छेन्नषकः शक्वरी ह्यजः ।
शक्वरी काश्यपश्चातिशक्वरी झञयोष्टठोः ।
शुनकोऽष्टिः सौमनस्योऽत्यष्टिडे कारणो धृतिः ॥
ढणोर्माण्डव्यातिधृति साङ्कृत्यायनकः कृतिः ।
त्रिषु कात्यायनस्तु स्यात् प्रकृतिर्नपफेषु बे ।
दाक्षायणाकृति व्याघ्रायणो भे विकृतिर्मता ।
शाण्डिल्यसङ्कृती मेऽथ काण्डल्यातिकृती यरोः ॥
दाण्ड्यायनोत्कृती लेऽथ वे जात्यायनदण्डकौ ।
लाट्यायनो दण्डकः शे षसहे जयदण्डकौ ।
माण्डव्यदण्डकौ ळक्षे कादीनामृषिछन्दसी ॥

शारदातिलकतन्त्र, पदार्थादर्श टीका,
षष्ठ पटल, पृ० ३८१

षष्ठ अध्याय

मातृकावर्ण-विकास

शब्द के स्थूल-सूक्ष्मादि रूपों एवं स्वरूप की चर्चा करने के अनन्तर यह आवश्यक ही नहीं अवसर-प्राप्त भी है कि शब्द-वाचक वर्ण और वाच्य—सृष्टि के सम्बन्ध में प्रचलित, उन अनेक विसंवादी सिद्धान्तों की आलोचना कर ली जाय, जिससे तत्त्वबोध के लिए एक अभिजात भूमिका की स्थापना हो सके।

दर्शनों की परम्परा में सामान्य रूप से निम्नांकित वादों का आश्रय लिया जाता रहा है :—

१. परिणामवाद।

२. विवर्तवाद।

३. प्रतिबिम्बवाद अथवा आभासवाद।

प्राचीन ग्रन्थों के सम्यक् आलोचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वादों के प्रति विचारकों का उतना आग्रह नहीं था जैसा परवर्ती काल में दृष्टिगोचर होता है। मूलभूत दार्शनिक सूत्रों के भाष्यों में तत्तत् मतों की स्थापना में ये वाद आधार ही बन गये हैं। यही नहीं इनमें परस्पर एकान्त भेद का भी अन्वेषण कर लिया गया। प्राक्तन विचारक इनका उपयोग दृष्टान्त रूप में सामान्यतया ही करते थे। विवर्त और परिणाम उनके लिए पर्यायरूप में स्वीकृत थे और आभास अथवा प्रतिबिम्ब भी एक प्रकार की परिणति ही रही है, यह सब अग्रिम समीक्षा से अनुपद ही स्पष्ट होगा।

एक[१] रूप का तिरोभाव और रूपान्तर का आविर्भाव ही परिणाम है। दधि, दूध का परिणाम या विक्रिया है ऐसी दार्शनिकों की मान्यता है। असत्य रूप में निर्भास ही विवर्त है।[२] शुक्ति में रजत का अवभास इसका उदाहरण है। परिणाम, जहाँ उपादान के समान सत्ता वाला होता है वहीं विवर्त अधिष्ठान से विषम सत्ता रखता है। परिणाम और विवर्त में यह भेदप्रथा परवर्ती दार्शनिकों की विलक्षण उपलब्धि है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने दोनों

---

१. परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति, रूपान्तरं च प्रादुर्भवतीत्युक्तम्।

ई० प्रत्यभिज्ञाविवृति वि०, पृ० ८, अ १, वि० १

२. विवर्तो हि असत्यरूपनिर्भासात्मेत्युक्तम्।

अभिनवगुप्त ई० प्र० वि० वि०, पृ० ८

शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है[1] । वे कहते हैं—"यह विश्व शब्द का ही परिणाम है, ऐसा आम्नायवेत्ताओं का कथन है, सर्वप्रथम यह जगत् छन्दों से ही विवृत्त अथवा परिणत हुआ[2] ।" इससे स्पष्ट ज्ञात होता है ग्रन्थकार को विवर्त और परिणाम में भेद अभिप्रेत नहीं है । तत्त्वसंग्रह के रचयिता शान्त-रक्षित ने भी आगम काण्ड की 'विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:' इस प्रथम कारिका के विवर्त शब्द का परिणाम शब्द के द्वारा ही अनुवाद किया है[3] । विवर्त का परिणाम से कोई भिन्न अर्थ हो सकता है ऐसा भवभूति[4] को भी पता नहीं था अन्यथा वे विवर्त पद का प्रयोग तरङ्गादि जलविकार के रूप में न करते ।

महायोगी भास्करराय को विश्वसृष्टि के सम्बन्ध में परिणामवाद ही अभीष्ट है । किन्तु वह परिणाम प्रकृत परिणाम से भिन्न है । मिट्टी और उसके परिणाम रूप घट में जैसे कोई भेद नहीं वैसे ही ब्रह्म और जगत् में अत्यन्त अभेद है । ब्रह्म सत्य है तो जगत् भी सत्य है । वस्तुत: भेदमात्र ही मिथ्या है, इसे स्वीकार कर लेने पर सम्पूर्ण अद्वैत श्रुतियों का निर्वाह हो जाता है ।

"वस्तुतस्तु जगतो ब्रह्मपरिणामकत्वं स्वीकुर्वतां तान्त्रिकाणां मते जगत: सत्यत्वमेव मृद्घटयोरिव ब्रह्मजगतोरत्यन्ताभेदेन ब्रह्मण: सत्यत्वेन जगतोपि सत्यत्वावश्यम्भावात् भेदमात्रस्य मिथ्यात्वस्वीकारेणाद्वैतश्रुतीनामखिलानां निर्वाह: । भेदस्य मिथ्यात्वादेव भेदघटिताधाराधेयभावसम्बन्धोऽपि मिथ्यैव ।।"

सौभाग्यभास्कर, पृ० १५१

---

१. इनके मत में विवर्त की परिभाषा—

'एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्त: । स्वप्नप्रतिभासवत् ।'

—स्वोपज्ञ वृत्ति, कारिका १ ब्र० का०

२. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदु: ।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ।।१२०।।

वा० प०, प्र० का०

३. नाशोत्पादासमालीढं ब्रह्म शब्दमयं च तत् ।
यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्राम: प्रतीयते ।।

तत्वसंग्रह

४. एको रस: करुण एव निमित्तभेदाद्-
भिन्न: पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ।।४७।।

उत्तररामचरित, तृ० अंक

वरिवस्यारहस्य[१] में **'वाचारम्भणं विकारः'** (छा० उ० ६, १.४) 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्रह्मसू०१,४,२६) आदि श्रुति तथा सूत्र को उद्धृत करते हुए श्रुति तथा व्यास के मत में भी परिणाम ही अभीष्ट है ऐसा उन्होंने प्रतिपादित किया है। यही नहीं उक्त सूत्र को विवर्तवाद के अनुसार व्याख्या करने वाले आचार्य शङ्कर ने भी **"मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि, त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्। त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन निभृषे।"** ३५। सौन्दर्यलहरी के इस श्लोक द्वारा स्वाभिमत परिणामवाद ही स्फुटित किया गया है।

श्री रामानुज,[२] निम्बार्क, वल्लभ, भास्कर, श्रीपति, श्रीकण्ठ आदि आचार्यों

---

१. सर्वप्रमाणमूर्द्धन्यया श्रुत्या तदनुसारितन्त्रैश्चाद्वैते कथिते तद्विरुद्धत्वेन भासमानः कार्यकारणयोर्भेदांश एव कल्पित आस्तां न पुनः सर्वोऽपि प्रपञ्चः।

वरिवस्यारहस्य, पृ० ५–६

भगवता व्यासेनापि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्र० सू० १.४.१३) इत्यस्मिन्नधिकरणे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञां मृद्घटनखनिकृन्तनादिदृष्टान्तम् 'बहु स्यां प्रजायेय'(तै० उ० २. ७) इत्यभिध्योपदेशादिकं चानुसन्दधानेन परिणामवाद एवाभिप्रेतः कण्ठरेवेणोक्तश्च 'आत्मकृतेः परिणामात्' इति सूत्रे।

परिणामस्वाभाव्यात्, नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य परस्मिन् ब्रह्मणि दोषावहत्वं स्वभावः प्रत्युत निरङ्कुशैश्वर्यावहत्वमेवेत्यभिप्रायः। —श्रीभाष्य

२. परिणमते कार्याकारेणेति। अविकृतमेव परिणमते सुवर्णम्। सर्वाणि च तैजसानि। वृद्धेश्चालौकिकत्वात् ब्रह्मकारणत्व एव घटते। पूर्वावस्थान्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधादङ्गीकर्तव्यः।१।४।२६

—वल्लभाचार्य : अणुभाष्य

सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म स्वशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणमय्य अव्याकृतेन स्वरूपेण शक्तिमता कृतिमता परिणतमेव भवति।१।४।१७

—निम्बार्काचार्य : वेदान्तपारिजात

परमात्मा स्वयमात्मानं कार्यत्वेन परिणमयामासेत्यर्थः। शक्तिविक्षेपं कृतवान्। अनन्ता हि तस्य शक्तयोऽचिन्त्याश्च। भास्कराचार्य १।४।२६

चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चाकारेण परिणामात्। ननु दधिक्षीरन्यायवत् स्वस्वरूपपरित्यागपूर्वकरूपान्तरप्राप्तिरेव परिणामः। नित्यशुद्धस्य महेश्वरस्य परिणामित्वेन स्वस्वरूपनाशित्वं विकारगुणप्रसङ्गश्च स्यादिति चेन्न, निमित्तभूतस्योपादानत्वेऽपि न विकारादिस्पर्शः।१।४।२७

—श्रीपतिपण्डित : श्रीकरभाष्य

को भी परिणामवाद ही अभिप्रेत है। किन्तु यह परिणाम अविकृत अथवा अपूर्व कहा जाता है। अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म में, विश्व रूप में परिणत होने पर भी विक्रिया नहीं आती।

वामकेश्वर[1] तन्त्र में शक्ति के परिणाम का उल्लेख है। यद्यपि राजानक जयरथ ने 'परिणतायां' का अर्थ 'विद्यमानायां' किया है किन्तु यह समुचित नहीं कहा जा सकता। तान्त्रिक प्रवर भास्करराय ने वहाँ परिणामात्मक अर्थ ही ग्रहण किया है।[2] तन्त्रों में 'परिणाम' का प्रयोग किसी निश्चित वाद के रूप में किया नहीं जान पड़ता। भास्करराय के मत में तान्त्रिक परिणामवादी ही ठहरते हैं।

तीसरा वाद है आभास अथवा प्रतिबिम्बवाद। यद्यपि अन्य दर्शनों[3] में इसका उपयोग किया गया है, किन्तु तन्त्रों तथा तदनुयायी अद्वैत परम्परा में यह विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। आभास की चर्चा काश्मीरिक शिवाद्वयवाद में बहुधा उपलब्ध होती है।[4] विश्व के सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ आभास रूप हैं।[5] निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित जैसे भूमि जल आदि परस्पर भिन्न-भिन्न रूप आकार विशेष, दर्पण से अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्त के सदृश भासित होते हैं वैसे ही अद्वितीय चित् तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व-वृत्तियां प्रति-

---

हन्त कारणविकाररूपो हि परिणामः पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः परिणाम इति कथं परमेश्वरोऽनर्थधर्मात् परिभूयत इति चेत् सत्यम्, यथा निमित्तस्य प्रकृतित्वेपि यथा न विकारादिस्पर्शः तथा परिणामः सम्भवति १।४।२७। —श्रीकण्ठभाष्य

१. तस्यां परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते ॥ ५ ॥
वामकेश्वरीमतम्, ४ पटल।

२. तच्च दृश्यं तत्परिणाम एव, 'तस्यां परिणतायां......'
इति वामकेश्वरतन्त्रात्।
वरिवस्यारहस्य, पृ० ५

३. तस्मिश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः।'
सांख्यप्रचवनभाष्य

४. आभासरूपा एव जडचेतनपदार्थाः।
ई० प्र० वि० ३।२।१

५. निर्मले मकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ॥ ४ ॥ आ० ३ तं० आ०

बिम्बित होती हैं।[1] स्वच्छ दर्पणादि का ही यह प्रभाव है जिससे वस्तु, अवस्तु से विलक्षण आभासमात्रसार-प्रतिबिम्ब के नाम से प्रतिभासित होती है। जैसे भगवान् के द्वारा दर्पणादि में आभास मात्र जिनका सार है ऐसे पदार्थ, अवभासित किए जाते हैं वैसे ही संवित्तत्व रूप भित्ति में विश्व भासित होता है।[2] संवित् से परे उसका कोई बाह्य रूप नहीं है इसी बोध को संवर्द्धित करने के लिए प्रतिबिम्ब विधि का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार भासनसारता ही प्रतिबिम्बता है, प्रतिबिम्ब से परे आभास और कुछ नहीं है।

'भासनसारतैव हि प्रतिबिम्बता······।'

'इह अवभासनसारमेवप्रतिबिम्बतत्त्वम्।'

यथोक्तं श्रीतन्त्रालोके:—

न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा।
न चान्योन्यासङ्गो न च तदपहानिर्न घनता।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति।
ध्रुवं मोहः शाम्येदिति निरदिशद्दर्पणविधिः॥

ई० प्र० वि० वि०, पृ० १६८

दर्पण से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की स्वतन्त्र सत्ता नहीं अतः दर्पण से पृथक् इसका कोई देश भी नहीं है। प्रतिबिम्ब काठिन्यात्मक मूर्ति नहीं कहा जा सकता अन्यथा इसका दर्पण से पृथक् देश होता। क्योंकि एक ही नभोदेश के मूर्त दर्पण द्वारा आक्रान्त होने पर, वही देश मूर्तान्तर से नहीं आक्रान्त हो सकता। दो मूर्तियां समान नभोदेश में अवस्थित हों यह विरोधी बात है। अतः प्रतिबिम्ब में 'घनता' न होने से इसका कोई रूप भी नहीं है। रूप किसी

---

१. स्वच्छस्य दर्पणादेरेवैष प्रभावो यद्वस्तु अवस्तुविलक्षणमाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बं नामेदं प्रतिभासते इति, तेन भगवता यथा दर्पणादौ आभासमात्रसारा एव भावा अवभास्यन्ते तथा संवित्तावपीति न बहीरूपत्वेनैषां सत्वमस्तीति बोधं वर्धयितुं बाह्यार्थाभिनिवेशिनामेतदुपदिष्टम्। अतः सर्वमेवेदमाभासमात्र-सारमेवेति न बाह्येऽर्थेभिनिवेष्टव्यम् येन द्वैतमोहः शाम्येत्।

राजानक जयरथ—तन्त्रा० विवेक, पृ० २९–३०

२. देवस्य द्योतनात्मनश्चित्तत्वस्य, तादृशे विश्वप्रतिबिम्बने, ज्ञानक्रियाद्याः शक्तयो निमित्तं भवन्तु। शक्तयश्च—स्वातन्त्र्यशक्तिमात्रपरमार्था एव इति निजैश्वर्यमात्रादेव अस्य स्वात्मनि विश्वाकारधारित्वम्—इति पिण्डार्थः। यदुक्तं श्री प्रत्यभिज्ञाकृता—'तत्र त्वर्पकादुपाधेस्तदाकारत्वं, चित्तत्वस्य तु निजैश्वर्यात्।' तन्त्रालोक विवेक, ३ आ०, पृ० ७२

मूर्त वस्तु में ही सम्भव है। काल से भी इसका सम्बन्ध नहीं, क्योंकि कालयोग किसी पूर्वापरभावी की अपेक्षा से पृथक् सत्ता वाले पदार्थ में ही देखा जाता है। प्रतिबिम्ब की तो दर्पण से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है। यही कारण है कि इसमें परिमाण भी उपलब्ध नहीं। परिमाण धन पदार्थ में होता है। यदि कथञ्चित् परिमाण स्वीकार भी किया जाय तो महाकार पर्वतादिकों की सीमित दर्पण में प्रतिसङ्क्रान्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

दर्पण के अन्तर्गत अनेक पदार्थों के, साथ ही प्रतिभासित होने पर भी परस्पर निविड़ रूप से वास्तविक संश्लेष नहीं होता। और संपूर्ण पदार्थों के परस्पर विविक्त रूप से भासित होने के कारण अन्योन्यासङ्ग की सर्वथा हानि कहना भी उचित नहीं।

जो वस्तु भासित हो रही है, उसे सर्वथा अवस्तु घोषित करना बुद्धिमानी नहीं। किन्तु आभास या प्रतिबिम्बमात्रसार होने के कारण उसमें वस्तुत्व के साधक स्वल्पमात्र निजी तथ्यात्मक रूप का सम्भव कहाँ ?

एवभासाभासमात्रसारं प्रतिबिम्बसतत्त्वं बाह्यार्थवादिनो निश्चितमेव द्वैत-प्रथात्मकं सङ्कुचितं ज्ञानं शाम्यतामित्येतदर्थं दर्पणविधिः——कुड्यादिवैलक्षण्येन प्रतिबिम्बसहिष्णुवस्तुप्रकारो निरदिशत् निर्दिष्टवान्। एवं च सत्ययमर्थः प्रदर्शितो भवति—यद्विश्वमिदं संविदि दपर्णप्रतिबिम्बन्यायेन अवस्थितं न तु तदतिरिक्ततया बहीरूपत्वं न वस्तु सदिति न तत्राभिनिवेष्टव्यमिति।

तन्त्रालोक-विवेक, आ० ३, पृ० ३२

इस प्रकार परिणाम, विवर्त एवं आभासवाद की चर्चा हुई। सत्य तो यह है कि इन तीनों वादों में एक न एक अरुचि विद्यमान है। यही दृष्टि में रखकर आचार्य अभिनवगुप्त ने सर्ववादमूर्द्धन्यभूत स्वातन्त्र्यवाद की उद्भावना की। परिणाम में रूपान्तर का तिरोधान और रूपान्तर का आविर्भाव निश्चय ही विकार की दिशा की ओर इङ्गित करता है। विवर्त में निर्भासित होना और असत्य भी होना, वादसम्बन्धी न्यूनता का परिचायक है।

"आभासनमा ईषत् सङ्कोचेन भासनं प्रकाशना।"

ई० प्र० वि० वि०, पृ० १४१, २ अ० २ वि०

किञ्चित् सङ्कुचित रूप से प्रकाशन ही आभास है। आभास अथवा प्रतिबिम्ब में स्वच्छतामात्र का संवेदन होता है। यहां वैसे संवेदन को समर्पित करने वाले तत्त्वान्तर की आवश्यकता का अन्वेषण अपरिहार्य है। जो अधिक न होकर भी अधिक रूप में भासित हो वही स्वच्छता[1] है। इस प्रकार आभास या

---

१. अनधिकस्यापि अधिकस्य इव भासनं स्वच्छभाव उच्यते दर्पणस्य इव।

प्रतिबिम्बवाद में भी त्रुटि पाई जाती है। इसी को लक्ष्य में रखकर आचार्य अभिनवगुप्त ने चौथे स्वातन्त्र्यवाद का अन्वेषण किया[1]।

स्वातन्त्र्यवाद में उपर्युक्त कोई भी दोष सम्भव नहीं। स्वातन्त्र्य परमात्मा की परा शक्ति है।

यह शक्ति परमशिव से सर्वथा अभिन्न है। आनन्द[2] इसका दूसरा नाम है। अतिदुर्घटकारित्व ही परमात्मा का ऐश्वर्य है—यह स्वातन्त्र्य से भिन्न नहीं। अपने स्वातन्त्र्य या ऐश्वर्य से परमेश्वर अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी स्वरूपतः अखण्ड ही रहता है। परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उसका स्वातन्त्र्य है। सृष्टि के सम्बन्ध में सर्वथा निर्दुष्ट एवं रमणीय वाद यदि कोई हो सकता है तो स्वातन्त्र्यवाद ही। परमेश्वर के अतर्क्य परमैश्वर्य के विषय में किसी प्रकार की अरुचि सम्भव नहीं—

एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम्।

ई० प्र० वि० वि०, १।१, पृ० १०७

स हि प्राकारगृहहस्त्यश्वपुरुषघटकुम्भकारभेदैतद्गतावयवावयविभावाधाराधेयभावकार्यकारणभावप्रभृतिभिश्च व्यवहारनिवहैः मनाङ्मात्रमपि स्वरूपानधिकैरपि अतिरिक्तैरिव च यत् निर्भासते तदेवं स्वच्छ इति उच्यते।

ई० प्र० वि० वि०, अ० १ वि०, पृ० ६१

१. विवर्तो हि असत्यरूपनिर्भासात्मेत्युक्तम्। निर्भासते च असत्यं चेति कथमिति तु न चिन्तितम्। परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति, रूपान्तरं च प्रादुर्भवतीत्युक्तम्। प्रकाशस्य तु रूपान्तराभावात् तत्तिरोधाने स्यादान्ध्यम्। अप्रकाशश्च प्रादुर्भवन् नैव प्रकाशेत इति उभयथापि सुप्तं जगत् स्यादिति न पर्यालोचितम्। प्रतिबिम्बवादे च स्वच्छतामात्रं संवेदनस्य, न स्वातन्त्र्यमिति तत्समर्पकवस्त्वन्तरपर्येषणा कर्तव्या। अविद्या च अनिर्वाच्या वैचित्र्यं च आधत्ते इति व्याहतम्। पारमेश्वरी शक्तिरेव इयमिति तु हृदयावर्जकः क्रमः। तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः।

ई० प्र० वि० वि०, १ अ० १ वि०, पृ० ८९

२. आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्। स्वातन्त्र्यं आनन्दशक्तिः— तन्त्रसार १ आ०, पृ० ६

ऐश्वर्यमेव आनन्दः पूर्णता।

ई० प्र० वि० वि० १ अ० ५ वि०, पृ० १९८

स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्र इच्छाप्रसरस्य अविघातः ।

वही, पृ० ८२

जिसे परमात्मा का ऐश्वर्य अथवा स्वातन्त्र्य कहा जाता है वही नित्य उदित परा वाक् है । तत्त्वज्ञ इसी को विमर्शात्मा चिति के नाम से जानते हैं । यह शब्दतत्त्व सृष्टि के प्रसार की आदि कोटि है और सृष्टि-सङ्कोच दशा में चरम कोटि । इससे परे शब्दातीत अवस्था है जिसे परमशिव कहते हैं । इस अवस्था में स्वातन्त्र्य अथवा विमर्श अविभक्त या अन्तर्लीन रहता है—

"चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ।"

शिवदृष्टि ४, प्र० आ०

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।। १।४५

ई० प्र० विमर्शिनी ।

यहाँ इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि स्वातन्त्र्यवाद और आभासवाद एक ही नहीं है जैसा कि कुछ लोगों[1] ने समझ लिया है । आभास-वस्तुवाद, आभाससारवस्तुवाद अथवा दर्पणविधि[2] शिवाद्वयशासन में

---

१. कश्मीर शैविज्म :—

दि डाक्ट्रिन ऑफ रेगार्डिंग आभास ऐज दि प्रासेस ऑफ मैनिफेस्टेशन इज़ काल्ड आभासवाद आर आभासपरमार्थवाद एण्ड आलसो स्वातन्त्र्यवाद; फार इन्स्टैन्स इन स्पन्दसन्दोह ।

पाद टिप्पणी, पृ० ५४

निम्नोद्धृत स्पन्दसन्दोह तथा ऊपर वर्णित अभिनवगुप्त के आभास सम्बन्धी वचनों की तुलना कीजिए—

"यदि आभासपरमार्थानुसारेण तथाभासपरमार्थस्य शङ्करस्वभावाभिन्नस्य जगतः तथाभासनमयावेव विनाशोदयौ इष्येते,······आभासयितरि भगवति भेदशङ्कास्पदम्—स्पन्दसन्दोह, पृ० ४ ।

२. वेदान्त में, पञ्चपादिका-विवरणकार प्रकाशात्मयति तथा अप्पय्य दीक्षित प्रतिबिम्ब और आभास को एक मानते हैं तथा वार्तिककार सुरेश्वराचार्य के मत में दोनों भिन्न हैं । प्रतिबिम्बवादसम्बन्धी भेद और अभेदात्मक दो पक्षों का उल्लेख करते हुए आचार्यों ने कहा है—

न बिम्बादन्यत्वेन प्रतिबिम्बं नाम दर्पणगतमवभासते; किन्तु बिम्बमेव दर्पणादविविक्तं प्रतिभासते ।

पञ्चपादिका-विवरण, पृ० २८९

बाह्यवाद[1] का प्रतिरोधी बनकर आया है। सिद्धान्ततः स्वीकृत स्वातन्त्र्यवाद ही है। उद्धृत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की उपर्युक्त कारिका से स्पष्ट है कि प्रस्तुत वर्ण-विकास से स्वातन्त्र्य का कितना सम्बन्ध है। अतः प्रकृत प्रसङ्ग में भी स्वातन्त्र्यवाद को ही अङ्गीकार करके चलना समुचित होगा।

अन्तर्लीनविमर्श, अतएव निष्कल, तत्त्वातीत, परमशिव ही विश्व के मूल में उत्तीर्ण रूप से वर्तमान रहते हैं। विश्व-विकास के प्रति उन्मुखता या स्फुरत्ता ही, प्रकाशैकस्वभाव परमशिव के स्वकीय रश्मिपुञ्ज से निर्मित, निर्मल विमर्शात्मक दर्पण है। इस विमर्शमय आदर्श में प्रतिफलित परमशिव को सर्वप्रथम 'अहं' बोध होता है। यह 'अहं' वाचकों—अकारादि वर्णों और वाच्यों—तत्तत्पदार्थों से पूर्ण विश्व—के विकासरूप सोपान का प्रथम पर्व है। छत्तीस तत्त्वमय समस्त भुवनमण्डल को मयूराण्डरसन्याय से कवलित किये हुए इस 'अहं'—पूर्णाहन्ता को शिवशक्तिरूप दिव्य दम्पति के सामरस्य के

नन्वेवं प्रतिबिम्बभ्रमस्थलेऽपि ग्रीवास्थमुखातिरेकेण दर्पणे मुखाभासोत्पत्ति-रुपेया स्यात्।

सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० ३०८–३०९

(क) तथा च बिम्बप्रतिबिम्बयोरभेदपक्षे……।

(ख) शुक्तिरजतादिवत् साक्षिभास्यप्रतिबिम्बाध्यासोत्पत्तिपक्षे तु…।

सिद्धान्तलेश० की कृष्णानन्दतीर्थ-व्याख्या, पृ० ३११

जीव और ईश्वरसम्बन्धी मतों की चर्चा करते हुए अद्वैतसिद्धि की व्याख्या लघुचन्द्रिका में ब्रह्मानन्द ने कहा है—

क—तथा च बिम्बप्रतिबिम्बचितोः ईशजीवत्वपक्षे शुद्धचिदेव तदुभयानुगता साक्षिणी जगदुपादानम्।

ख—अविद्याप्रतिबिम्बमनःप्रतिबिम्बयोः ईशजीवत्वे तु अविद्याबिम्बत्वो-पहिता चित् तथा।

ग—अविद्यामनोगतचिदाभासयोरीशजीवत्वे त्वीश एव तथा।

तत्र आद्यः पक्षो विवरणकृतः। द्वितीयः संक्षेपशारीरककृतः। तृतीयः वार्तिककृतः। वाचस्पतिमते तु जीव एव तथा, तस्यैवाविद्याविषयत्वोपहिते ईशे तादात्म्येनानुगतत्वात्।

गौडब्रह्मानन्दी, पृ० ४८३

१. तदवश्यसमर्थनीयेऽस्मिन् आभासवस्तुवाद एव शरणम्, न बाह्यवादः।

ई० प्र० वि० वि०, पृ० १८,२ अ० १ धि०

नाम से कहा जाता है। यह अहन्ता[1] अपने गर्भ में, पचास वर्णों को प्रत्याहार-न्याय से समेटे रहती है। 'अहं' में 'अकार' अनुत्तर नामक शिव का बोधक है और 'हकार' विसर्ग शक्ति का वाचक है। इन दोनों का समुदित रूप ही एकपदागमा विद्या[2] (प्रणव) है। इसे ही श्रुति में एकाक्षरा वाक् अथवा 'एक वर्ण' कहा गया है।

"एकाक्षरा वै वाक्"

ताण्ड्य० ब्रा० ४।४।३

"एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।"

कामकलाविलास, टी० पृ० ८

तान्त्रिकों ने इस 'अहन्ता' रूप महाबिन्दु में अवस्थित सित, शोण और मिश्र इन त्रिबिन्दुओं[3] का निर्देश किया है। विमर्श रक्तबिन्दु है और प्रकाश

---

१. सकलभुवनोदयस्थितिलयमयलीलाविनोदनोद्युक्तः ।
अन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥ १ ॥

कामकला०

परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे ।
प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः ॥ ४ ॥

काम०

लोकेऽपि सूर्याभिमुखस्थितदर्पणतले सूर्यकिरणप्रतिफलनानन्तरं निकटगत-कुड्ये सूर्यकिरणप्रतिहततेजोबिन्दुः प्रत्यक्षं प्रपद्यते, तद्वत् प्रकाशरूपपरमेश्वरस्य दर्पणवत् स्वरूपविमर्शसम्बन्धे जाते तदानीं तत्र महाबिन्दुः 'पूर्णोऽहं' इत्येवंरूपः परमेश्वरोऽवभासते इत्यर्थः।

कामकला०, टी०, पृ० ७

चित्तमयोऽहङ्कारः सुव्यक्ताहार्णसमरसाकारः ।
शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति ॥ ५ ॥

प्रत्याहारन्यायेन अन्तर्गर्भितसमस्तवर्णकदम्बकाहङ्काररूपप्रकाशविमर्श-सम्पुटादेव शब्दार्थात्मकसर्वप्रपञ्चविकासो भवति।

का०, पृ० ८

२. सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥ ९ ॥

वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड

३. सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसङ्कुचत्प्रसरम् ।
वागर्थसृष्टिहेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम् ॥ ६ ॥

शुक्लबिन्दु। इन दोनों बिन्दुओं का समरस भाव ही मिश्रबिन्दु या सूर्य है। इस सूर्य का परमात्मा या काम के नाम से निर्देश किया गया है। इस प्रकार "**अग्नीषोमात्मक** विमर्श (कला) शक्ति और तदुभयात्मक काम से अविनाभूत" बिन्दुसमष्टि को त्रिपुरसुन्दरी अथवा कामकला कहते हैं। यह पूर्णाहन्ता रूपिणी कामकला ही पर-मातृका-शक्ति है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया यहाँ समुदित रूप में विद्यमान रहती है। इसी से इच्छात्मक पश्यन्ती मातृका, ज्ञानात्मक मध्यमा मातृका, और क्रियात्मक वैखरी मातृका[१] का प्रादुर्भाव होता है।

ब्रह्माण्ड में जो त्रिपुरसुन्दरी अथवा परमातृका है वही पिण्डाण्ड में कुण्डलिनी है। यह पूर्वोक्त 'आहोपुरुषिका' अथवा अहन्ता से भिन्न नहीं है। इस 'अहं' में भावी सम्पूर्ण शब्द और अर्थ सृष्टि युगपत् सूक्ष्म रूप में घनीभूत होकर आ ठहरती है। यहाँ यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि वर्णात्मक शब्दों और उनके वाच्यात्मक सदाशिव से लेकर प्रकृति-पुरुष तथा पृथ्वीपर्यन्त अर्थों का एक साथ ही प्रादुर्भाव होता है।

बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः।
कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू॥ ७॥

बिन्दुः सितरक्तस्वरूपः अहङ्कारात्मा अन्तर्गर्भितसमस्तवर्णराशिः अनुत्तरस्फाररूपाहङ्कारः आत्मा तादात्म्यस्वरूपं यस्य सः। अतएव एतन्मिथुनसमरसाकार एतयो अकारहकारवाच्ययोः प्रकाशविमर्शयोः मिथुनं द्वन्द्वं, तस्य दिव्यदम्पतिरूपस्य मिथुनस्य समरसः परस्परानुप्रवेशरूपं आनुकूल्यं तदेव आकारः स्वरूपं यस्य सः। एवं भूतो रविः सितशोणबिन्दुसमरसीभूतो मिश्रबिन्दुरित्यर्थः।

अग्नीषोमरूपिणी विमर्शशक्तिः तदुभयभूतकामेश्वराविनाभूता महात्रिपुरसुन्दरी बिन्दुसमष्टिरूपा कामकला इति उच्यते। अयमत्र निष्कर्षः—स्वान्तर्गतानन्ताक्षरराशिमहामन्त्रवीर्यपूर्णाहन्तारूपिणी प्रकाशानन्दसारा बिन्दुत्रयसमष्टिरूपलिप्यक्षररूपिणी कामकला नाम महात्रिपुरसुन्दरी मातृका परमयोगिभिः महामाहेश्वरैरनिशं अनुस्मर्तव्या इति। कामकला०, टी० पृ० ११

१. बेहरियाणाम किया णाणमयी होल मलमा वाआ।
इच्छा उण पंखती सक्षमं समरशा वत्ती॥ ४९॥
महार्थमञ्जरी

[वैखरी नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक्।
इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा समरसा वृत्तिः॥] (छाया)

पर[1] परामर्शशाली, शुभ्रप्रकाशात्मा, अनाहत और आहत शब्द से उत्तीर्ण अकुल, अनुत्तर, शिव ही 'अकार' है। इसे चित् शक्ति कहते हैं।

अनुत्तर अकुल शिव अपनी कौलिकी परा शक्ति के साथ अवियुक्त रूप से विद्यमान रहते हैं। इनका परस्पर उन्मुखीभाव ही यामल अथवा संघट्ट है जिससे आनन्द का उद्भव होता है। यह आनन्द ही 'आकार' है।

पूर्वोक्त[2] संघट्ट में चित् शक्ति की प्रधानता रहती है। उस समय पर-प्रमाता का जो विश्व-विसर्गात्मक परामर्श है, वही इच्छा शक्ति है। यही 'इकार' है। इसका स्वरूप आद्यस्पन्दात्मक, बहिरौन्मुखतामय, स्रष्टव्य तत्त्वों से अनारूषित इच्छामात्र है।

---

१. अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥ ६७ ॥

तन्त्रालोक, तृ० आ०

इह खलु पूर्णः शिवशक्त्यादिप्रतिनियतव्यपदेशासहिष्णुः अनाख्यः परपरा-मर्शात्मा अनुत्तरः प्रकाश एव परं तत्त्वं, स एव च स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमविभास-यिषुः प्रथमं शिवशक्तिरूपतां स्वात्मन्यवभासयति।—सोपि हि देवः—'नास्यो-च्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते। स्वयमुच्चरते देवि प्रणिनामुरसि स्थितः।' इत्याद्युक्तस्वरूपादनाहतात् स्थानकरणाभिघातोत्थाच्च हतात् शुद्धात् उत्तीर्णत्वेन परपरामर्शशालिसिततप्रकाशात्मतया सर्वदैव द्योतमानः।

तन्त्रा० विवेक, पृ० ७६

तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ॥ तन्त्रा० ६८।

अकुलकौलिकीशब्दव्यपदेश्ययोः शिवशक्त्योः, सङ्घट्ट इति-सम्यक् घट्टनं चलनं स्पन्दरूपता स्वात्मोच्छलत्ता इत्यर्थः, अतश्च प्रकाशविमर्शात्मनोः अनुत्तरयोरेव सङ्घट्टादानन्दशक्त्यात्मनो द्वितीयवर्णस्य उदयः।

त० वि०, पृ० ८१

२. सङ्घट्टेऽस्मिंश्चिदात्मत्वाद्यत्तत्प्रत्यवमर्शनम् ॥ ७१ ॥
इच्छाशक्तिरघोराणां शक्तीनां सा परा प्रभुः ॥

"आनन्दो ब्रह्मणो रूपम् इत्याद्युक्त्या चितःप्राधान्यात् योऽयं परस्य प्रमातुः सिसृक्षात्मा परामर्श उदेति सेयमिच्छाख्या शक्तिः। प्रकृतेऽपि अनेन तृतीयवर्णोदय उक्तः। सा च इच्छाशक्तिः—आद्यस्पन्दात्मिका बहिरौन्मुख्यमा-त्ररूपिणी स्रष्टव्यानारूषितेच्छामात्ररूपा वा स्यात् तत्तदीषणीयविषयारूषणया प्रक्षोभात्मप्रयत्नरूपतां श्रयन्ती बहीरूपतया ऐश्वर्यं भजमाना वा इत्यस्या द्वैधम्।

त० वि०, पृ० ८४

यही[1] शक्ति स्रष्टव्य विषयों से संनिकृष्ट होकर प्रक्षुब्धात्मक बनती हुई बाह्यरूप को धारण करके ईशितृ कहलाती है। अघोरादि नाना शक्तियों के रूप में जो बाह्य अवभासन है वही इसका ऐश्वर्य है। यही 'ईकार' है।

अपने अन्तर्गत विजिज्ञास्य रूप से इष्ट विश्व का उन्मेष ही ज्ञान शक्ति है। यह उन्मेष 'उकार' है। परापररूप घोरात्मक शक्तियों की यह जननी है।

इच्छा शक्ति के सदृश ज्ञान शक्ति भी ज्ञेय[2] के आधिक्य और अनाधिक्य को लेकर दो प्रकार की है। ज्ञेय के अनाधिक्य से सम्बद्ध स्वरूप का निर्णय ऊपर किया जा चुका है। ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय रूप अंश अधिक उद्रिक्त होता है अर्थात् नील, सुख आदि रूपों में क्षुब्ध होकर ज्ञेय जब बलवत्तर हो जाता है उस समय ज्ञान, ज्ञानमात्र रूप में न्यून या अपूर्णतया आभासित होता है। यह ऊनता या सङ्कोचाधिगम ही 'ऊकार' है।

संविन्मात्र की ऊनता का आभासन जब रूढ़ होता—प्ररोहयुक्त होता है तो उसी को नील, सुखाद्यात्मक ज्ञेय वर्ग की स्थिति का प्रारम्भ कहा जाता है। किन्तु यह उसकी साक्षात् स्थिति नहीं है। साक्षात् स्थिति तो क्रिया शक्ति में जाकर होती है। विबोध या ज्ञानरूपी समुद्र का नाना आकार धारण करना ही रूढ़ि है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान से अतिरिक्त कोई ज्ञेय नहीं है किन्तु वही उन रूपों में स्फुरित होता है। यही भेद-सन्दर्भ का बीज

---

१. सैव प्रक्षुब्धरूपा चेदीशितृ सम्प्रजायते ॥ ७२ ॥
तदा घोराः परा देव्यो जाताः शैवाध्वदैशिकाः ॥
स्वात्मप्रत्यवमर्शो यः प्रागभूदेकवीरकः ॥ ७३ ॥
ज्ञातव्यविश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्तितया स्थितः ।
इयं परापरादेवी घोरां या मातृमण्डलीम् ॥ ७४ ॥
सृजत्यविरतं शुद्धाशुद्धमार्गैकदीपिकाम् ॥

२. ज्ञेयांशः प्रोन्मिषन्क्षोभे यदैति बलवत्त्वतः ॥ ७५ ॥
ऊनताभासनं संविन्मात्रत्वे जायते तदा ।
रूढं तज्ज्ञेयवर्गस्य स्थितिप्रारम्भ उच्यते ॥ ७६ ॥
रूढिरेषा विबोधाब्धेश्चित्राकारपरिग्रहः ।
इदं तद्भेदसन्दर्भबीजं चिन्वन्ति योगिनः ॥ ७७ ॥

इह खलु एतदेव परविमर्शात्ममुख्यं परामर्शषट्कं यतः परस्परं प्रमेयेण वा सङ्घट्टे सति निखिलपरामर्शोदयः । विवेक, पृ० ८८

है जिसे योगी लोग जानते हैं। ये छः वर्ण (परामर्श-षट्क) ही निखिल परामर्शों (वर्णों) के जनक है।

स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसन्ततौ ॥

तन्त्रा० १८४ श्लोक

अक्षुभित[1] और क्षुभित रूप दो प्रकार की इच्छाशक्ति इष्यमाण से समापन्न होकर ही 'इ' और 'ई' रूप में व्यक्त हुई थी। वह समापत्ति और क्षोभ स्फुट रूप में नहीं हुआ था। प्रकाश और स्तम्भस्वभाव ज्वलन और धरात्मक—'र' और 'ल' श्रुतियाँ जब इष्यमाण होकर द्विविध इच्छाशक्ति से स्थिरता के साथ स्फुट रूप से समापन्न होती है तो चार नपुंसक वर्णों का जन्म होता है। यहाँ 'र' और 'ल' श्रुतिमात्र प्रतीत होते हैं; इनकी स्थिति व्यञ्जनवद् नहीं होती। जैसे विद्युत् क्षणिक होने के कारण अचिर काल तक ही भासित होती है वैसे ही यहाँ इष्यमाण भी छाया रूप में भासित होता है। इसीलिए यहाँ वर्ण की श्रुति मात्र होती है साक्षात् वर्ण की उत्पत्ति नहीं। वर्ण की श्रुति, वर्ण नहीं है। इसीलिए नरसिंह के समान ऋ–ॠ, और ऌ ॡ ये चारो वर्ण उभय छाया ग्रहण करने के कारण षण्ढ वर्ण कहे जाते हैं :—

ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, चतुष्कं च नपुंसकगणस्तथा।

तन्त्रालो० विवे०, पृ० ९०, तृ० आ०

इस[2] प्रकार ज्वलनशक्ति से विभिन्न अक्षुब्ध इच्छाशक्ति ही 'ऋ' और क्षुब्ध इच्छाशक्ति 'ॠ' है। धराशक्ति से उपरक्त अक्षुब्ध इच्छाशक्ति 'ऌ' और क्षुब्ध इच्छाशक्ति 'ॡ' है।

जिस[3] प्रकार इच्छाशक्ति का इष्यमाण के साथ तादात्म्य घटित होने से परामर्शान्तर अथवा अन्य वर्ण का उदय होता है वैसे ही ज्ञान की ज्ञेय समापत्ति

---

१. इच्छाशक्तिर्द्विरूपोक्ता क्षुभिताक्षुभिता च या।
इष्यमाणं हि सा वस्तु द्वैरूप्येणात्मनि श्रयेत् ॥ ७८ ॥
अचिरद्युतिभासिन्या शक्त्या ज्वलनरूपया।
इष्यमाणसमापत्तिः स्थैर्येणाथ धरात्मना ॥ ७९ ॥

तन्त्रालोक, तृ० आ०

२. तेन अक्षुब्धा ज्वलनशक्त्या च्छुरिता इच्छा 'ऋ' क्षुब्धा तु 'ॠ'; एवं धराशक्त्या च्छुरिता 'ऌ ॡ इति। विवेक, पृ० ९०

३. उन्मेषशक्तावस्त्येतज्ज्ञेयं यद्यपि भूयसा।
तथापि विभवस्थानं सा न तु प्राच्यजन्मभूः ॥ ८० ॥

तन्त्रा० तृ० आ०

से वर्णान्तर की उत्पत्ति होनी चाहिए। किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं होता। यद्यपि ज्ञानशक्ति में ज्वलनादि नाना ज्ञेय विद्यमान रहते हैं तथापि ज्ञानशक्ति को इच्छाशक्ति के सदृश उत्पत्तिभूमि नहीं माना जाता किन्तु वह विभव (अभिव्यक्ति) स्थान है। इच्छाशक्ति में इष्यमाण रूप से उत्पन्न भाव समूह, ज्ञानशक्ति में अभिव्यक्त होता है और क्रियाशक्ति में उसका बाह्य-रूप से परिस्फुरण होता है। इसलिए ज्ञानशक्ति में ज्ञेय की अपूर्वतया उत्पत्ति नहीं होती। और इसी कारण उसके साथ समापन्न होने से परामर्श (वर्ण) की उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः इच्छाशक्ति में इष्यमाण की अपूर्व उत्पति होने के कारण ही ऐसा कहा गया है। यद्यपि परासंवित् सम्पूर्ण भावों की जन्म भूमि है किन्तु वहाँ वह भाव संविन्मात्र रूप में अवस्थित रहता है।

इच्छा[1] शक्ति जन्य चारों षण्ढवर्ण स्वात्ममात्र में विश्रान्त होने के कारण अमृतात्मक कहे गये हैं। स्वरों के बीच में आ जाने के कारण उन्हें बीज कहा जाता है वस्तुतः वे बीज नहीं है। क्योंकि उनमें प्रक्षोभकता नहीं हैं। अपने में ही विश्रान्त होने से ये क्षोभान्तर को उल्लसित नहीं कर सकते। योनि वर्ग में भी ये नहीं आ सकते क्योंकि क्षोभ का आधार योनि है और क्षोभकता ही बीज।

वस्तुतः संवित् शक्ति का रूप क्षोभक है। वह क्षुब्ध होती है—बहिर्भा-वोन्मुख ज्ञेय समूह को धारण करती है और क्षुब्ध करती भी है—ज्ञेय समूह

यद्यपि ज्ञानशक्तावेतज्ज्वलनाद्यात्म ज्ञेयं भूयसा विद्यते तथापि सा ज्ञान-शक्तिः ज्ञेयस्य विभवस्थानं, न तु प्राच्येच्छाशक्तिलक्षणा जन्मभूः—इच्छाशक्ति-वन्नेयमुत्पत्तिस्थानमित्यर्थः, इच्छाशक्तौ खलु इष्यमाणात्मतया उत्पन्नस्य सतौ भावजातस्य ज्ञानशक्तावभिव्यक्तिः, यस्य क्रियाशक्तौ बहीरूपतया परि-स्फुरणम्। अतो ज्ञानशक्तौ ज्ञेयस्य नापूर्वतया उत्पाद; इति न तत्र तत्समापत्त्या परामर्शान्तरोदयः। तेनेच्छाशक्ताविष्यमाणस्यापूर्वतयोत्पादादेवमभिधानम्। यद्यपि सर्वभावनिर्भरत्वात्परस्यामपि संविदि सर्वे भावाः सम्भवन्ति तथापि तत्र तेषां संविन्मात्रतयावस्थानम्। त० वि०, पृ० ९१

१. इच्छाशक्तेरतः प्राहुश्चातूरूप्यं परामृतम्।
क्षोभान्तरस्यासद्भावान्नेदं बीजं च कस्यचित्॥ ८१॥
प्रक्षोभकत्वं बीजत्वं क्षोभाधारश्च योनिता।
क्षोभकं संविदो रूपं क्षुभ्यति क्षोभयत्यपि॥ ८२॥ तन्त्रा०
प्रकृतं ब्रूमहे नेदं बीजं वर्णचतुष्टयम्।
नापि योनिर्यतो नैतत्क्षोभाधारत्वमृच्छति॥ ९१॥

को बाह्य रूप से अवभासित भी करती है।[1] क्षोम ज्ञेय का धर्म है; और क्षोभणा—उसका बाह्य अवभासन। ईषणीय समस्त भाव-समूह-रूप विश्व जिसमें एकात्म रूप से वर्तमान है, वह सर्वभाव निर्भर, अद्वितीय संवित्, बीजांश या कारणविशेष है। ग्राह्य-ग्राहकात्मक विश्व की भेद रूप से अवभासन की इच्छा से उसका सम्बन्ध ही क्षोभ है। बहिर्भाव की ओर अनुन्मुख अतएव उदासीन देह-नीलादि भाव वर्ग का, औदासीन्य दूर करके जो बहिर्भावात्मक उन्मुखता का अवभासन है वही क्षोभणा है। चर्याक्रम में, बीज के विसर्ग के लिए उद्यत पुरुष स्वयं क्षुब्ध होता है, प्रमदा को भी क्षुब्ध करता है, ऐसा कहा है। जिससे एकात्मता प्राप्त करके परप्रमाता की इच्छा कृतार्थ होती है वही क्षोभाधार है। वहाँ कादि वर्ण और इदन्ता द्वारा विमृष्यमाण—देह नीलादि भाव वर्ग ही क्षोभाधार या योनि कहे गये हैं।

[2]ईषणादि संवेदनों का जो अविभक्त पारमार्थिक संवित् रूप—पारमेश्वर स्वरूप है वही अन्तःस्थ विश्व को स्वेच्छा से बाह्य रूप में प्रकट करता है। इसीलिए उसे बीज कहते हैं। उसी के योग में स्वरों में बीजता मानी जाती है। उपर्युक्त वर्णचतुष्टय न तो बीज है और न क्षोभाधार या योनि।

[3]अनुत्तर, इच्छा, ईशन, उन्मेष और ऊनता ये वर्ण-पञ्चक परस्पर मिश्रित होकर भी नाना वर्ण रूप धारण करते हैं।

---

१. क्षोभः स्याज्ज्ञेयधर्मत्वं क्षोभणा तद्बहिष्कृतिः।
अन्तःस्थविश्वाभिन्नैकबीजांशविसिसृक्षुता ॥ ८३ ॥
क्षोभोऽतदिच्छे तत्त्वेच्छाभासनं क्षोभणां विदुः॥ तन्त्रा०

चर्याक्रमे हि बीजं सिसृक्षुः पुमान् स्वयं क्षुभ्यति प्रमदां तु क्षोभयति इति। इह चैतदतिरहस्यत्वाद् अप्रस्तुतत्वाच्च न प्रपञ्चितम्, यथोपयोगमूह्यत एव केवलम्॥ विवेक, पृ० ९४

२. संविदामीषणादीनामनुद्भिन्नविशेषकम्॥ ८५ ॥
यज्ज्ञेयमात्रं तद्बीजं यद्योगाद्बीजता स्वरे।

३. इत्थं प्रागुदितं यत्तत् पञ्चकं तत्परस्परम्॥ ९२ ॥
उच्छलद्विविधाकारमन्योऽन्यव्यतिमिश्रणात्।
योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन्॥ ९३ ॥
ताविच्छोन्मेषसङ्घट्टाद् गच्छतोऽतिविचित्रताम्।
अनुत्तरानन्दचिती इच्छाशक्तौ नियोजिते॥ ९४ ॥
त्रिकोणमिति तत्प्राहुर्विसर्गामोदसुन्दरम्॥ तन्त्रालोक
त्रिकोणमेकादशमं वह्निगेहं च योनिकम्।
शृङ्गाटं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम्॥ विवेक, पृ० १०२

अनुत्तर—'अ', आनन्द—'आ' इच्छा—'इ' और उन्मेष—'उ' से मिलकर 'ए' और 'ओ' बन जाते हैं। चित् और आनन्द को विकल्प से इच्छा से नियुक्त करने पर जो 'ए' रूप बनता है उसको त्रिकोण, वह्निगृह, योनि और शृङ्गाट के नाम से कहा जाता है।

[1]अनुत्तर—अकार और आनन्द—आकार का संयुक्त—दीर्घ रूप आकार है; यह रौद्री आदि शक्तित्रितयमय होने के कारण त्रिकोण रूप है। इस त्रिकोणात्मक आकार के साथ त्रिकोणात्मक ऐकार के योग से षडर 'ऐकार' की निष्पत्ति होती है।

इसी प्रकार 'अ' अथवा 'आ' के साथ उन्मेष—उ का योग होने से 'ओ' और 'अ', 'आ' और 'ओ' के योग से 'औकार' का रूप अभिव्यक्त होता है।

उपर्युक्त चारो सन्ध्यक्षर क्रमशः क्रियाशक्ति के अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम रूप है।

अनुत्तर और आनन्द के साथ इच्छा और उन्मेष के संयोग से जन्य रूपों के सदृश ईशन और ऊनता द्वारा वर्णान्तर की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वैसा क्षोभ घटित होने पर भी 'एकार' और 'ओकार' रूप वर्ण ही होंगे। उनकी अन्यथा स्थिति नहीं होगी।

[2]'औ' कार रूप चौदहवें परामर्श (वर्ण) में इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीनों शक्तियाँ स्फुट रूप से वर्तमान रहती हैं अतः श्रीपूर्वशास्त्र में इसे त्रिशूल वर्ण के नाम से कहा गया है।

---

१. अनुत्तरानन्दशक्ती तत्र रूढिमुपागते ॥ ९५ ॥
त्रिकोणद्वित्वयोगेन व्रजतः षडरस्थितम्।

तत्र त्रिकोणेऽपि यदा अनुत्तरानन्दो रूढिं 'वृद्धिरेचि' इति सन्धिक्रमेण प्ररोहं प्राप्तौ, तदा अनुत्तरस्य पूर्वोक्तनीत्या रौद्र्यादिशक्तित्रयमयत्वेन आनन्दस्यापि तत्स्फारमात्रसारत्वेन त्रिकोणरूपत्वाद् आकारैकारलक्षणत्रिकोणद्वययोगेन षडरां षट्कोणां स्थितिं व्रजत, ऐकाररूपतामवभासयते इति।

जयरथ-व्याख्या, पृ० १०५

त एवोन्मेषयोगेऽपि पुनस्तन्मयतां गते ॥ ९६ ॥
क्रियाशक्तेः स्फुटं रूपमभिव्यङ्क्तः परस्परम् ॥
इच्छोन्मेषगतः क्षोभो यः प्रोक्तस्तद्गतेरपि ॥ ९७ ॥
ते एव शक्ती ताद्रूप्यभागिन्यौ नान्यथा स्थिते।

२. अस्मिश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुरीभूतत्रिशक्तिके ॥ १०४ ॥
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने ॥

तन्त्रालोक, तृ० आ०

अनुत्तर शक्ति अपने स्वातन्त्र्य से ग्राह्य-ग्राहक-रूप भावसमूहात्मक ज्ञेय का आकलन करती हैं—इयत्तया परिच्छिन्न करती है । इस परिच्छेद द्वारा स्वरूप गोपनात्मक कालुष्य अथवा सङ्कोच का अवलम्बन करके अपने प्रकाशात्मक शरीर को सर्वसंवेद्य बनाती हुई भी बिन्दु रूप में—परप्रकाशात्मक स्वरूप से अप्रच्युत रूप में—विद्यमान रहती है ।

अत्रानुत्तरशक्तिः सा स्वं वपुः प्रकटस्थितम् ।
कुर्वन्त्यपि ज्ञेयकलाकालुष्याद्बिन्दुरूपिणी ॥ ११० ॥

तन्त्र०

तात्पर्य यह है कि परसंवित् अथवा अनुत्तरशक्ति के क्रियाशक्ति पर्यन्त विचित्र रूप में स्फुरित होने पर भी उसके स्वरूप का लोप नहीं होता । इच्छा और ज्ञानरूप तथाविध उपाधियों का त्याग करके अभेद सत्ता में आरूढ होकर चिन्मय पुरुषरूप वेदनात्मक बिन्दुरूप में अवशिष्ट अनुत्तर शक्ति, 'अं' का रूप ग्रहण करती है ।

'एवमिच्छाज्ञाने अनुत्तरस्वरूपानुप्रवेशेन प्राप्तोपचये पश्चात् परित्यज्य तथाविधोपाधिपरिस्पन्दसत्तामभेदसत्तारोहणचिन्मयपुरुषतत्त्वस तत्त्ववेदनारूपबिन्दुमात्रावशेषेण वपुषा तथानुत्तरपदलीने अमिति ।

परात्रिंशिका, पृ० १७६

ह्लाद, तीक्ष्णता, और दाहकता से अवच्छिन्न, प्रमाण प्रमेय और परिमित-प्रमातृ रूप सोम, सूर्य और अग्नि की आश्रयभूत क्रियाशक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों में परिस्फुरित होने पर भी उपाधिशून्य, पूर्ण, परप्रकाश, विदिक्रिया में स्वतन्त्र, परप्रमातृ रूप परमेश्वर शिव ही बिन्दु के नाम से कहे जाते हैं—

उदितायां क्रियाशक्तौ सोमसूर्याग्निधामनि ।
अविभागः प्रकाशो यः स बिन्दुः परमो हि नः ॥ १११ ॥
अत्र प्रकाशमात्रं यत्स्थितं धामत्रये सति ॥ १३३ ॥
उक्तं बिन्दुतया शास्त्रे शिवबिन्दुरसौ मतः ॥

यह केवल आचार्य अभिनव की स्वोपज्ञतामात्र है ऐसी बात नहीं । 'तत्वरक्षाविधान' नामक ग्रन्थ में स्वयं परमेश्वर ने—हृदय, भ्रूमध्य, द्वादशान्त-स्थानों में विश्रान्तिभेद से नर, शक्ति शिवात्मक, इच्छाद्यात्मक तथा शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व के रूप में वेदयिता परप्रकाशरूप बिन्दु ही विश्व के अवभासन की इच्छा से प्रस्फुरित होता है—ऐसा कहा है । इतना होने पर भी यह स्वरूप-च्युत नहीं होता । इसीलिए इस बिन्दु को, संसाराब्धि से पार उतारने और नाना वैचित्र्य के रूप में उल्लसित होने पर भी संविन्मात्र रूप शुद्ध होने के कारण विमलतारक के नाम से कहा गया है—

तत्त्वरक्षाविधाने च तदुक्तं परमेशिना ।
हृत्पद्ममण्डलान्तःस्थो नरशक्तिशिवात्मकः ॥ ११२ ।
बोद्धव्यो लयभेदेन बिन्दुर्विमलतारकः ॥ तन्त्रा०

यह शिवबिन्दु, सम्पूर्ण प्राणियों में नादात्मक शब्द के रूप में विद्यमान रहता है। अपने से अभिन्न विश्व का परामर्श करने वाला परावाग्रूप विमर्श ही शब्द है। सब भूतों में 'जीवकला' के रूप में स्फुरित होने के कारण उसे 'नाद' कहते हैं। यह 'ह' कार की अर्द्धार्धरूप अमाकला के नाम से विख्यात है। इसे 'अस्वर' कहा जाता है। यही 'अकार' है जो सम्पूर्ण वर्णों में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित रहता है—'**अकारः सर्ववर्णानामन्तर्यामितया स्थितः।**'

विवेक, पृ० १२०

वह बिन्दु अधः और ऊर्ध्व विभागों में—अनुत्तर से शूलबीज पर्यन्त अथवा हकार पर्यन्त प्राणन रूप से स्थित रहता है; या सूर्यचन्द्रात्मक प्राणापान के प्रवाह रूप से अवस्थान करता है। वही 'परा जीवकला' है।

योऽसौ नादात्मकः शब्दः सर्वप्राणिष्ववस्थितः ॥ ११३ ॥
अध ऊर्ध्वविभागेन निष्क्रियेणावतिष्ठते ॥

तन्त्रालोक, तृ० आ०

ऊपर विश्व-वैचित्र्य के रूप में तथा वर्णों के रूप में स्फुरित, बिन्दु को स्वरूप का निर्देश किया गया है। दोनों दशाओं में उसके स्वरूप की अक्षुण्णता की बात कही गई है। यहाँ वर्णमाला में उसे शक्तिमत्परामर्श (वर्ण) समझना चाहिए। क्योंकि आगे विसर्ग की चर्चा करते हुए उसको—विसर्ग को शक्तिप्रधान परामर्श कहा जायगा।

एक बात और विचारणीय है। बिन्दु और मकार में क्या अन्तर है; वे दोनों एक हैं या पृथक् ? वस्तुतः जैसे षण्ढ वर्ण और विसर्ग के आश्रित रेफ, लकार और हकार, वैसी श्रुतिमात्र धारण करने पर भी रेफादि से भिन्न हैं वैसे ही बिन्दु भी मकार से भिन्न है। जैसे इकार, रेफांश की छाया से प्रतिच्छायित होकर स्वरान्तर का रूप ग्रहण करता है वैसे ही अस्वर, अनुत्तर, प्रकाशात्मा (अकार) चित् शक्त्यात्मक आदि वर्ण, 'मकार' और 'हकार' के लेशस्वरूप उपाधि का अवलम्बन करके वैसी ही श्रुतिमात्र से बिन्दु और विसर्ग इन दो रूपों में विभक्त होकर परामर्शान्तर (वर्णान्तर) का स्वरूप ग्रहण करता है, अनुत्तररूप प्रकाश अपने स्वातन्त्र्य से स्वरूप को छिपाकर शक्तिदशा को आभासित करके संकुचित प्रभातृरूपता को प्रकाशित करता है। अतएव इस अकार का—'अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ' इस उक्ति से तथा—'हकाररूप शक्ति के साथ मकाररूप नर, हृदय में स्थित है'—'हकाररूपया शक्त्या मकारो ना हृदि स्थितः'—इस

उक्ति द्वारा संकुचित प्रमातात्मक मकार के साथ तादात्म्य घटित होता है—

मकारादन्य एवायं तच्छायामात्रधृद्यथा ॥ १३६ ॥
रलहा षण्ढवैसर्गवर्णरूपत्वसंस्थिता: ।
इकार एव रेफांशच्छाययान्यो यथा स्वरः ॥ १३५ ॥
तथैव महलेशादः सोऽन्यो द्वेधास्वरोऽपि सन् ॥

तन्त्रा०, तृ० आ०

अनुत्तर प्रकाशात्मक आदि वर्ण के अन्तर्गत कौलिकी या परा नामक शक्ति विद्यमान रहती है। यही परप्रमाता के साथ ऐक्य रूप से वर्तमान विमर्शात्मा विसिसृक्षा है । यह निश्चित रूप से बाह्य उन्मुखतात्मक क्षोभ के कारण विसर्ग का रूप ग्रहण करती है; इसी के द्वारा आनन्द के उदय से लेकर क्रियाशक्ति पर्यन्त वर्णों का विकास होता है—

अस्यान्तर्विसिसृक्षासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा ॥ १३६ ॥
सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम् ॥

त्रिशिरोभैरवशास्त्र में अमा नामक कला के स्वरूप और उसके विकास सम्बन्धी विचार के अवसर पर स्वयं परमेश्वर ने भगवती से कहा है कि प्रमातृ और प्रमेयात्मक विश्व के सृष्टि-संहार-विभ्रम, विसर्गमात्र स्वरूप ही है।" और वहीं पर विसर्ग के तीन रूपों की चर्चा की गई है—१. पर २. अपर और ३. परापर । हकार अपर विसर्ग है; स्वरूपस्थ विसर्जनीय शब्द वाच्य जो दो बिन्दु है—वह परापर विसर्ग है । परविसर्ग को ही सप्तदशी कला के नाम से कहा गया है । [1]षोडशकल पुरुष में, अन्तःकरण प्रभृति सोलह कलाओं को आप्लावित करती हुई यह नित्योदित, अनस्तमित, चिन्मात्रस्वभाव अमृता कला के नाम से कही जाती है । हकार का अर्धार्धरूप यह अमाख्य सप्तदशी कला, कौलिकी और परा शब्दों द्वारा बोध्य है । यही आनन्दात्मक परविसर्ग, बहिर्भावरूप औन्मुख्य से विरहित अतः विसर्गहीन प्रसुप्तभुजगाकार स्वात्म-मात्र-विश्रान्त, परासंविद्रूप शक्तिकुण्डलिनी शब्द द्वारा व्यपदिष्ट होती है । और विसर्ग के बहिर्भावरूप उन्मुखतात्मक आदि कोटि या प्रान्तदेश में प्राण-कुण्डलिका कही जाती है, जैसा कि कहा है—"प्राक् संवित् प्राणे परिणता।" पुनः प्रत्यावृत्ति के क्रम में अन्तर्भावोन्मुखतात्मक अन्तकोटिरूप प्रान्त में स्वात्म-विश्रान्त, परसंवित्‌रूप ग्रहण करके 'परा कुण्डलिनी' कही जाती है । इस प्रकार यही संविन्मात्ररूप सप्तदशी कला शिवव्योम, परब्रह्म, शुद्धात्म-स्थान आदि नामों द्वारा निर्दिष्ट की जाती है—

---

१. पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ।

विवेक, पृ० १४१

उक्तं च त्रिशिरःशास्त्रे कलाव्याप्त्यन्तचर्चने ॥ १३७ ॥
कला सप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी ।
परापरस्वस्वरूपबिन्दुगत्या विसर्पिता ॥ १३८ ॥
प्रकाश्यं सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा ।
शक्तिकुण्डलिका चैव प्राणकुण्डलिका तथा ॥ १३९ ॥
विसर्गप्रान्तदेशे तु पराकुण्डलिनीति च ।
शिवव्योमेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते ॥ १४० ॥
विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः ॥

अखण्ड परा संवित् स्वयं, स्वात्मा में जो स्वात्मक्षेप करती है यही सृष्टि स्थिति और संहाररूप वैसर्गिकी स्थिति है। अनन्यापेक्ष, पूर्ण, परा संवित् रूप विसर्ग ही कादि-हान्त वर्णों के रूप में परिस्फुरित होती है।

यह विसर्ग स्थूल होकर 'हकार' वर्ण का रूप ग्रहण करती है जिसका हंस, प्राण, व्यञ्जन, स्पर्श आदि नामों से उल्लेख किया जाता है—

'स्वात्मनः स्वात्मनि स्वात्मक्षेपो वैसर्गिकी स्थितिः' ॥ १४१ ॥
विसर्ग एवमुत्सृष्ट आश्यानत्वमुपागतः ।
हंसः प्राणो व्यञ्जनं च स्पर्शश्च परिभाष्यते ॥ १४२ ॥

सम्पूर्ण विश्व, शक्तियों से व्याप्त है और महेश्वर ही शक्तिमान् हैं। 'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः' इस उक्ति द्वारा यह स्पष्ट है। पर, अनुत्तरप्रकाश का स्वशक्तिस्फार ही विश्व है फिर 'विसर्गमात्रं नाथस्य सृष्टिसंहारविभ्रमाः' की अन्यथोक्ति कैसी? वस्तुतः अनुत्तर परधाम, अकुल शब्द द्वारा बोध्य है। और अनुत्तरनाथ की जो कौलिकी शक्ति है वही विसर्ग है अतः कोई विरोध नहीं।

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ १४३ ॥

इस कौलिकी शक्ति की विसर्गता—विसृष्टिरूप क्रिया की कर्तृता इसी बात में है कि वह आनन्द, इच्छा आदि के क्रम से, भिन्नावभासरूप क्रिया-शक्ति पर्यन्त उन उन परामर्शों (वर्णों) के वैचित्र्य के रूप में स्फुरित होती है इसीलिए जिसमें वर्णों का विभाग स्पष्ट नहीं है अर्थात् नादमात्रात्मक विसर्ग को कुलगुह्वरशास्त्र में कामतत्त्व (अप्रतिहत इच्छा) के नाम से कहा गया है—

विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।
स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ॥ १४४ ॥

अत एव विसर्गोयमव्यक्तहकलात्मकः ।

कामतत्त्वमितिश्रीमत्कुलगुह्वर उच्यते ॥ १४६ ॥

इस कामतत्त्वात्मक विसर्ग में चित्त को समाहित करके जगत को एक साथ ही वश में किया जा सकता है। यह विसर्ग अक्षर है—नित्य उदित रहने के कारण इसके प्राच्यस्वरूप की प्रच्युति नहीं होती।[1] इसका न तो कोई उच्चारण करने वाला है और न प्रतिहन्ता; यह विसर्गरूप देव प्राणियों के हृदयदेश में स्वतः उच्चरित होता रहता है, इसीलिए इसे अनिच्छ और अव्यक्त कहा जाता है। यह ध्वनि[2] रूप, सतत उदित, नादमात्र-स्वभाव है। इतना होने पर भी उपभोग के अवसर पर रतिसुख की समापत्ति से सम्बद्ध विवशता के कारण कान्ता के कण्ठ से 'हा हा' के रूप में स्वभावतः अभिव्यक्त हो उठता है—

यत्तदक्षरमव्यक्तकान्ताकण्ठे व्यवस्थितम् ।

ध्वनिरूपमनिच्छं तु ध्यानधारणवर्जितम् ॥

तत्र चित्तं समाधाय वशयेद्युगपज्जगत् ।

जिस प्रकार विसर्ग का ही स्थूल रूप 'ह' है वैसे ही अनुत्तर (अ) इच्छा (इ) आदि स्वर ही 'क' से लेकर 'स' पर्यन्त व्यञ्जनों के रूप में अवभासित होते हैं।

अतएव विसर्गस्य हंसे यद्वत् स्फुटा स्थितिः ॥ १४८ ॥

तद्वत्सानुत्तरादीनां कादिसान्ततया स्थितिः ॥ तं० तृ० आ०

[3]अनुत्तर से पञ्चवर्णात्मक कवर्ग की उत्पत्ति होती है। अनुत्तर यद्यपि

---

१. नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥

विवेक, पृ० १४९

२. नादाख्यं तत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ वही, पृ० १४९
यत्तदक्षरमक्षोभ्यं प्रियाकण्ठोदितं परम् ।
सहजं नाद इत्युक्तं तत्त्वं नित्योदितो जपः ॥
नित्यानन्दरसास्वादाद्धाहेति गलकोदरे ।
स्वयम्भूः सुखदोच्चारः कामतत्त्वस्य वेदकः ।
अतिसौख्यसमावेशविवशीकृतचेतसः ।
अविच्छिन्नं जपन्त्येनमङ्गनासङ्गमोत्सवे ।

३. अनुत्तरात्कवर्गस्य सूतिः पञ्चात्मनः स्फुटम् ॥ १४९ ॥
पञ्चशक्त्यात्मतावेश एकैकत्र यथा स्फुटः ॥

तन्त्रा० तृ० आ०

चित् शक्ति प्रधान है तथापि उसमें आनन्द, ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। अतः उससे जनित कवर्ग भी पञ्चात्मक है।

स्वरूपस्थ अर्थात् इष्यमाण से अनारूषित अक्षुब्ध इच्छाशक्ति से पञ्च-शक्त्यात्मक चवर्ग की उत्पत्ति होती है। वर्ग के पांचों वर्णों में क्रमशः चिदादि शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं।

अक्षुब्ध और क्षुब्धात्मक अर्थात् ऋकार और ऌकारात्मक विविध इच्छा शक्ति से टवर्ग और तवर्ग की उत्पत्ति होती है।

उन्मेष से पवर्ग उदित होता है। यहीं तक विश्व की स्थिति है[1]।

इच्छाशक्तेः स्वस्वरूपसंस्थाया एकरूपतः॥ १५०॥
चवर्गः पञ्चशक्त्यात्मा क्रमप्रस्फुटतात्मकः।
या तूक्ता ज्ञेयकालुष्यभाविक्षप्रचरयोगतः॥ १५१॥
द्विरूपायास्ततो जातं टताद्यं वर्गयुग्मकम्।
उन्मेषात् पादिवर्गस्तु यतो विश्वं समाप्यते॥

तन्त्रा० तृ० आ०

क से लेकर म पर्यन्त २५ वर्ण स्पर्श कहे जाते हैं। ये वर्ण पृथ्वी से लेकर पुरुष पर्यन्त २५ तत्त्वों के प्राकृतिक वाचक हैं। स्फुटरूप से ज्ञेय होने के कारण इतने में ही विश्व के समाप्ति की सूचकता की बात ऊपर कही गई है। यद्यपि इनसे परे अन्य तत्त्व भी विद्यमान हैं किन्तु उनको ज्ञाता के अन्तरङ्ग मान कर स्थूल ज्ञेयात्मक विश्व के अन्तर्गत नहीं लिया गया। ये इन्द्रियों से स्पृश्य हैं अतः इन्हें स्पर्श कहा जाता है। 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः।' यह वाचक वर्णों के अभिप्राय से कहा गया है। वाच्य पृथिव्यादि से श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :—

'मात्रास्पर्शास्तुकौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्ताँस्तितिक्षस्व भारत॥ १५।२।

[2]मात्रा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जिनका स्पर्श किया जाता है वे भौतिक पदार्थ आगम और अपाययुक्त हैं।

---

१. अकुलात् पञ्चशक्त्यात्मा द्वितीयो वर्ग उत्थितः।
अनारूषितरूपाया इच्छायाश्च ततः परः।
वह्निक्षमाजुषस्तस्याष्टताद्यं च द्वयं ततः।
पादिरुन्मेषतो जात इति स्पर्शाः प्रकीर्तिताः॥

विवेक, पृ० १५४

२. मात्राभिरिन्द्रियैरेषां स्पर्शो न तु साक्षात्परमात्मनः।

गीतार्थसंग्रह।

ऊपर इन्द्रिय और पुरुष को भी ज्ञेय कहा गया है। वस्तुतः पुरुष तो प्रमाता है और इन्द्रियाँ हैं करण अतः ये दोनों ज्ञेय कोटि में कैसे आ सकते हैं? उपर्युक्त कथन शून्यप्रमाता (प्रलयदशा में मायावस्थित जीव) आदि के अभिप्राय से है अतः इसमें कोई दोष नहीं—

ज्ञेयरूपमिदं पञ्चविंशत्यन्तं यतः स्फुटम्।
ज्ञेयत्वात्स्फुटतः प्रोक्तमेतावत्स्पर्शरूपकम्॥ १५३॥

तन्त्रा०

अत्र च पुंसः प्रमातृत्वेऽपि करणानां च करणत्वादेव प्रमाणत्वेऽपि यज्ज्ञेयत्वमुक्तं तच्छून्यादिप्रमात्रन्तराभिप्रायेण॥

तन्त्रालोकविवेक, पृ० १५६

क्षुभित और अक्षुभित इच्छाशक्ति, जब विजातीय, चिद्रूप शक्त्यंश अनुत्तर की ओर उन्मुख होती है तभी यकार के रूप में उसका स्फुरण होता है।

द्विविध इच्छाशक्ति का तेज और धरा के साथ जो ऋ, ऌ रूप तादात्म्य है वह जब अनुत्तरात्मक विजातीय के प्रति उन्मुख होता है तो 'र' और 'ल' की उत्पत्ति होती है।

इसी प्रकार दो रूपों वाली उन्मेषशक्ति जब वैजात्यशक्ति अथवा अनुत्तर के साथ संहित होती है तो 'वकार' का प्रादुर्भाव होता है। यह 'व' सृष्टिसारात्मक जल का वर्षण करने वाला है—

इच्छाशक्तिश्च या द्वेधा क्षुभिताक्षुभितत्वतः।
सा विजातीयशक्त्यंशप्रोन्मुखी याति यात्मताम्॥ १५४॥
सैव शीघ्रतरोपात्तज्ञेयकालुष्यरूषिता।
विजातीयोन्मुखत्वेन रत्वं लत्वं च गच्छति॥ १५५॥
तद्वदुन्मेषशक्तिर्द्विरूपा वैजात्यशक्तिगा।
वकारत्वं प्रपद्येत सृष्टिसारप्रवर्षकम्॥ १५६॥

कारण-भेद से कार्य-भेद देखा जाता है। यकारादि के प्रादुर्भाव में इच्छा और अनुत्तर का संघट्ट कारण है। ऐसा ही संघट्ट पिछले 'ए' आदि की उत्पत्ति में भी कारण बन चुका है। ऐसी स्थिति में यकारादि-भेद कैसे सिद्ध होगा यह शंका संगत है। किन्तु वास्तव में उपाधि-भेद से कार्य-भेद बनता है। अनुत्तर और आनन्द के साथ इच्छा की सन्धिदशा में संस्कारात्मक वेग ही उपाधि का कार्य करता है इसलिए यहाँ यकारात्मक वायुबीज का उद्भव सम्भव हो जाता है।

इसी प्रकार भास्वरता-लक्षण धर्म और स्थिरतात्मक धर्म को उपरञ्जक के रूप में अवलम्बन करके इच्छाशक्ति वह्निबीजरूप रेफात्मकता और धराबीज लकारात्मकता को आभासित करती है।

इच्छा और उन्मेष के अन्तः—अभेद से अवस्थित होने के कारण तथा स्व अर्थात् प्रमाता-रूप आत्मा के साथ ऐक्य रूप में वर्तमान होने से 'य, र, ल, व' को अन्तःस्थ कहते हैं—

इच्छैवानुत्तरानन्दयाता शीघ्रत्वयोगतः ।
वायुरित्युच्यते वह्निर्भासनात्स्थैर्यतो धरा ॥ १५७ ॥
इदं चतुष्कमन्तःस्थमत एव निगद्यते ।
इच्छाद्यन्तर्गतत्वेन स्वसमाप्तौ च संस्थिते ॥ १५८ ॥

इच्छाशक्ति के तीन रूप हैं—१. अनुन्मिषित, २. उन्मीलत् और ३. प्रोन्मीलित। स्रष्टव्य[1] से विप्रकृष्ट अथवा अनारूषित, इच्छामात्र, शुद्ध इच्छाशक्ति 'इकार' को अनुन्मिषित कहते हैं। शीघ्ररूप स्रष्टव्य से आरूषित (तादात्म्यापन्न) इच्छाशक्ति ही 'ऋकार' है, यह उन्मीलत् रूप होती है। स्थैर्यात्मक स्रष्टव्य से अभिन्न इच्छाशक्ति ऌकार है, इसे प्रोन्मीलित कहते हैं। यह त्रिविध इच्छाशक्ति अर्थात् 'इ' 'ऋ' और 'ऌ' स्वातन्त्र्यरूप ऊष्मा अथवा स्वात्म तेज द्वारा बाह्यरूप में उल्लासित होने पर 'श', 'ष' और 'स' इन तीन रूपों में स्फुरित होती है। 'ह' कार विसर्ग का ही स्थूल रूप है, यह पहले कहा जा चुका है—

इच्छा या कर्मणा हीना या चेष्टव्येन रूषिता ॥ १६२ ॥
शीघ्रस्थैर्यप्रभिन्नेन त्रिधाभावमुपागता ।
अनुन्मिषितमुन्मीलत्प्रोन्मीलितमिति स्थितम् ॥ १६३ ॥
इष्यमाणं त्रिधैतस्यां ताद्रूप्यस्यापरिच्युतेः ।
तदेव स्वोष्मणा स्वात्मस्वातन्त्र्यप्रेरणात्मना ॥ १६४ ॥
बहिर्भाव्य स्फुटं क्षिप्तं शषसत्रितयं स्थितम् ॥
एतद्वर्णचतुष्कस्य स्वोष्मणाभासनावशात् ।
ऊष्मेति कथितं नाम भैरवेणामलात्मना ॥

[2]'स' वर्ण में सम्पूर्ण विश्व स्फुट रूप से प्रकाशित होता है। योगी लोग

---

१. 'तत्सा केवलमिच्छामात्ररूपा स्रष्टव्यस्य विप्रकृष्टा।'
पृ० १६३ विवेक में उद्धृत-प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

२. सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तम्।—वही

इसे अमृत अथवा परधाम कहते हैं ।[1] सोम, अमृतनाथ, सुधासार, सुधानिधि षड्रसाधार आदि नामों से 'स' कार का बोध होता है । क्षोभ के आदि, अन्त और विरामदशा में सीत्कार, सुख, सद्भावात्मक, समावेशरूप समाधि आदि आनन्द स्थानों में उसी परामृतरूप सकार की अभिव्यक्ति होती है ।

करणवर्ग या इन्द्रियों की क्षोभ-दशा में जो आनन्द होता है वह सीत्कार से अभिव्यक्त होता है । क्षोभ का अन्त होने पर जब करणवर्ग स्वात्ममात्र में विश्रान्त होता है तो परसामरस्यात्मक सौख्य-समावेश घटित होता है । इसके पश्चात् वहीं दृढ़ता के साथ समाविष्ट होने पर 'सद्' ब्रह्म सम्बन्धी समाधि का प्रादुर्भाव होता है । यही अविभक्त परब्रह्म है । गीता[2] में ॐ, तत्, सत् द्वारा त्रिविध ब्रह्म की चर्चा की गई है । यह तृतीय[3] ब्रह्म ही 'सकार' है ।

तत एव सकारेऽस्मिन् स्फुटं विश्वं प्रकाशते ॥ १६५ ॥
अमृतं च परं धाम योगिनस्तत्प्रचक्षते ।
क्षोभाद्यन्तविरामेषु तदेव च परामृतम् ॥ १६६ ॥
सीत्कारसुखसद्भावसमावेशसमाधिषु ।
तदेव ब्रह्म परममविभक्तं प्रचक्षते ॥ १६७ ॥

यहाँ यह शंका अवश्य होती है कि पहले 'ऋ ऌ' को षण्ढ वर्ण कहा गया है और उनके द्वारा टवर्गादि के जन्म की भी बात कही गई । यह कैसे सम्भव है ?

वस्तुत: षण्ढ वर्णगत इच्छाशक्ति ही अन्त:स्थित—अभिन्न रूप से वर्तमान टवर्गादि को बाह्य रूप में उल्लसित करती है । षण्ढ वर्णगत चिर और क्षिप्र-स्वभाव रूषणा (तादात्म्य) का हेतु जो एषितव्य है, वह वर्णान्तरों का जनक नहीं है । उस ज्ञेय या एषितव्य से कालुष्य मात्र उत्पन्न होता है यही इसकी चरितार्थता है । यह कार्यान्तर के उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है ।

कालुष्य अथवा उसका निमित्त एषितव्य, इस इच्छाशक्ति का शरीर रूप है । प्रकाशैकस्वभाव इच्छाशक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं, यही अभिप्राय है । इष्यमाण का इच्छा से मेल ही षण्ढता है इसी लिये इन्हें समुदायात्मक कहा जाता है । इसमें न क्षोभकता होती है और न क्षोभाधारता । 'नन्वत्र षण्ढ-वर्णभ्यो जन्मोक्तं तेन षण्ढता ।'

---

१. सोमं चामृतनाथं च सुधासारं सुधानिधिम् ।
सकारं षड्रसाधारं नामभि: परिकीर्तितम् ।
विवेक, पृ० १६४

२. ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत: । श्रीमद्भगवद्गीता

३. तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि । १० । परात्रिंशिका ।

कथं स्यादितिचेद्ब्रूमो नात्र षण्ढस्य सोतृता ॥ १७५ ॥
तथाहि तत्रगा यासाविच्छाशक्तिरुदीरिता ।
सैव सूते स्वकर्तव्यमन्तःस्थं स्वेष्टरूपकम् ॥ १७६ ॥
यत्त्वत्र रूषणाहेतुरेषितव्यं स्थितं ततः ।
भागान्न प्रसवस्तज्जं कालुष्यं तद्वपुश्च तत् ॥ १७७ ॥
ज्ञेयारूषणया युक्तं समुदायात्मकं विदुः ।
षण्ढं क्षोभकताक्षोभधामत्वाभावयोगतः ॥ १७८ ॥

उपर्युक्त 'क' से लेकर 'ह' पर्यन्त समस्त वर्ण क्षोभाधार अथवा योनि कहे जाते हैं। योनि का योनि से भी योग होने पर क्षोभान्तर की उत्पत्ति होती है। अनुत्तर और विसर्ग के सारभूत ककार और सकार के संघट्ट से 'क्ष' कार का जन्म होता है। यह निखिल वर्णों का समाहारक कूट[1] बीज है। मातृका का तत्त्व युगपत् इसी वर्ण में प्रदर्शित हुआ है। इस वर्ण को लेकर ही वर्णों की पचास संख्या पूर्ण होती है—

कादिहान्तमिदं प्राहुः क्षोभाधारतया बुधाः ।
योनिरूपेण तस्यापि योगे क्षोभान्तरं व्रजेत् ॥ १८० ॥
तन्निदर्शनयोगेन पञ्चाशत्तमवर्णता ॥

तन्त्रालोक, तृ० आ

[2]पूर्वोक्त वर्णसमूह पहले स्वरमय ही था; उदय के पूर्व स्वरों में ही

---

१. तदियत्पर्यन्तं यन्मातृकायास्तत्त्वं तदेव ककारसकारप्रत्याहारेण अनुत्तर-विसर्गसङ्घट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते, इत्यलं रहस्यप्रकटनेन ।

शिवसूत्रविमर्शिनी, द्वि० उन्मेष, पृ० ६३

२. इत्थं यद्वर्णजातं त्वत् सर्वं स्वरमयं पुरा ॥ १८३ ।
व्यक्तियोगाद्व्यञ्जनं तत्स्वरप्राणं यतः किल ॥
स्वराणां षट्कमेवेह मूलं स्याद्वर्णसन्ततौ ॥ १८४ ॥
षड्देवतास्तु ता एव ये मुख्याः सूर्यरश्मयः ।
सौराणामेव रश्मीनामन्तश्चान्द्रकला यतः ॥ १८५ ॥
अतोऽत्र दीर्घत्रितयं स्फुटं चान्द्रमसं वपुः ।
चन्द्रश्च नाम नैवान्यो भोग्यं भोक्तुश्च नापरम् ॥ १८६ ॥
भोक्तैव भोग्यभावेन द्वैविध्यात् संव्यवस्थितः ।
घटस्य नहि भोग्यत्वं स्वं वपुर्मातृगं हि तत् ॥ १८७ ॥
अतो मातरि या रूढिः सास्य भोग्यत्वमुच्यते ॥

तं० तृ० आ०

शक्ति रूप से अवस्थित था। पश्चात् बाह्य रूप में अभिव्यक्त होकर व्यञ्जन के रूप में ख्यात हुआ। व्यञ्जनदशा में भी स्वर से अनुप्राणित रहता है। इस प्रकार व्यञ्जन-वर्णों का मूल कारण स्वर ही है। स्वरों में भी आदिम छह (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ) ही सम्पूर्ण वर्ण-सन्तान के जनक हैं। वे ही छह देवता हैं जिन्हें सूर्य की दहनी, पचनी, धूम्रा, कर्षिणी, वर्षिणी और रसाख्य रश्मियों के नाम से लोग जानते हैं।

सौररश्मियों के अन्तर्गत चान्द्रकलायें भी विद्यमान रहती हैं। अतः आ, ई, और ऊ इन तीन दीर्घ स्वरों को चान्द्रवपु ही समझना चाहिये। चन्द्र, सूर्य से अतिरिक्त नहीं है। चन्द्र भोग्य है और सूर्य भोक्ता। भोक्ता और भोग्य में वास्तविक अन्तर नहीं। भोक्ता ही भोग्यरूप में स्फुरित होता है। घटादि की ज्ञेयता उसका आत्मीय धर्म नहीं है किन्तु वह ज्ञाता का ही धर्म है। अतः घटादि की जो ज्ञाता में विश्रान्ति है वही ज्ञेय है।

[1]अनुत्तर—अकारात्मक पररूप ही अपनी आत्मा में भोक्तृ—भोग्य-भाव को आभासित करके परस्पर उन्मुख होकर संघट्टरूप प्राप्त करके भोग्य कहा जाता है। अतः दो अकारों का संघट्ट ही आकाररूप भोग्य है। इसी प्रकार इच्छादिक में भी समझना चाहिए।

वस्तुतः अनुत्तर-अकार ही पारमार्थिक भोक्ता है। इच्छादिकों में स्वापेक्षया भोक्तृत्व है अनुत्तर की अपेक्षा से तो वे भोग्य ही हैं। भोक्ता रूप अनुत्तर की प्रधानता से सन्ध्यक्षरों का उदय होता है। अन्तःस्थों में अनुत्तर गुणीभूत होता है और इच्छादि प्रधान।

---

१. अनुत्तरं परामृश्यपरामर्शकभावतः ॥ १८८ ॥
सङ्घट्टरूपतां प्राप्तं भोग्यमिच्छादिकं तथा।
अनुत्तरानन्दभुवामिच्छाद्ये भोग्यतां गते ॥ १८९ ॥
सन्ध्यक्षराणामुदयो भोक्तृरूपं च कथ्यते।
अनुत्तरानन्दमयो देवो भोक्तैव कथ्यते ॥ १९० ॥
इच्छादिकं भोग्यमेव तत एवास्य शक्तिता।
भोग्यं भोक्तरि लीनं चेद् भोक्ता तद्वस्तुतः स्फुटः ॥ १९१ ॥
अतः षण्णां त्रिकं सारं चिदित्युन्मेषणात्मकम्।
तदेव त्रितयं प्राहुर्भैरवस्य परं महः ॥ १९२ ॥
तत्त्रिकं परमेशस्य पूर्णा शक्तिः प्रगीयते ॥

तन्त्रालोक, तृ० आ०

आनन्द यद्यपि भोग्य है तथापि अनुत्तर से अभिन्न होने पर वह भी भोक्ता कहा जाता है। इच्छादिक तो भोग्य ही हैं। उनमें पारमार्थिक भोक्तृता नहीं है और इसीलिए उन्हें शक्ति कहा जाता है। भोग्य के भोक्ता में लीन होने पर भोक्ता ही शेष रहता है। भोक्ता का प्रसार ही भोग्य है। आ, ई और ऊ ये दीर्घात्मक भोग्य-त्रितय अ, इ और उ में जब विश्रान्त हो जाते हैं तो चित्, इच्छा और उन्मेष ये तीन ही सारभूत वर्ण शेष रहते हैं। अतः छः स्वरों में अकार, इकार और उकार का त्रिक ही प्रधान है। यह त्रिक भैरव का शाक्त तेज है, इसी पूर्ण संघटित त्रिक को परमेश की पूर्णा [1]स्वातन्त्र्य नामक शक्ति कहा गया है। इस त्रिक द्वारा ही समस्त विश्व प्रसृत होता है। इसे स्वच्छन्द-शास्त्र में शैवी मुख कहा गया है। स्वातन्त्र्य शक्तिरूप इस त्रिक के सहारे ही अनवच्छिन्नस्वभाव, पूर्ण, शक्तिमद्रूप परमात्मा का लाभ होता है।

[2]निरंश प्रकाशात्मा पर भैरव ही विभाग के आभासन की इच्छा से तीन मुख्य शक्तियों के रूप में प्रतीत होता है। अकार ही अनुत्तरा पराशक्ति है। इ-इच्छा परापरा और उ-उन्मेषात्मक ज्ञानशक्ति अपरा कही जाती है। इन्हीं के क्षोभ से छः संवित् (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ) शक्तियों का उदय होता है। इन छः शक्तियों के साथ क्रियाशक्ति का योग होने पर बारह संवित्तियां प्रकट होती हैं जिनमें सारा विश्व समाप्ति लाभ करता है। षण्ढ वर्णों को छोड़कर शेष बारह स्वरों को ही यहां द्वादश संवित्ति समझना चाहिए। देवदेव परभैरव का यही मुख्य शक्ति-चक्र है। कलना, परामर्श, क्षेप, विसर्ग, संहार और गणना, ज्ञान इन अर्थों के वाचक होने के कारण इन द्वादश स्वरों को कालिका भी कहा जाता है। त्रिकसारशास्त्र में कहा गया है कि द्वादश योगिनीगणों से आवृत भैरवात्मक परा एकाक्षरा की अर्चना करनी चाहिए।

---

१. तेनाक्षिप्तं यतो विश्वमतोऽस्मिन् समुपासते ॥ १९३ ॥
विश्वशक्तावच्छेदवन्ध्ये जातमुपासनम् ॥

× × ×

२. विभागाभासनायां च मुख्यास्तिस्त्रोऽत्रशक्तयः ॥ २४८ ॥
अनुत्तरा परेच्छा च परापरतया स्थिता ।
उन्मेषशक्तिर्ज्ञानाख्या त्वपरेति निगद्यते ॥ २४९ ॥
क्षोभरूपात् पुनस्तासामुक्ताः षट्संविदोऽमलाः ।
आसामेव समावेशात् क्रियाशक्तितयोदितात् ॥ २५० ॥
संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्वं समाप्यते ।
एतावद्देवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिचक्रकम् ॥ २५१ ॥
एतावता देवदेवः पूर्णशक्तिः स भैरवः ।

इन्हीं द्वादश योगिनी-कालिकाओं अथवा स्वरों द्वारा चौसठ वर्णों से युक्त शक्ति-चक्र का निर्माण होता है—

परामर्शात्मकत्वेन विसर्गाक्षेपयोगतः ॥ २५२ ॥
इयत्ताकलनाज्ज्ञानात्ताः प्रोक्ताः कालिकाः क्वचित् ॥
श्रीसारशास्त्रे चाप्युक्तं मध्य एकाक्षरां पराम् ॥ २५३ ॥
पूजयेद् भैरवात्माख्यां योगिनीद्वादशावृताम् ।
ताभ्य एव चतुःषष्टिपर्यन्तं शक्तिचक्रकम् ॥ २५४ ॥

तन्त्रसम्मत 'अ' से लेकर 'क्ष' पर्यन्त पचास वर्ण या आमर्शों से पूर्ण शक्तिमान्, विमर्शात्मा महेश्वर एक ही है। पचास से अतिरिक्त इन्हीं वर्णों के संयोग-वियोग से जन्य अन्य शक्तियाँ इसी में अवस्थित हैं।

आमृश्य से शून्य, एक आमर्श स्वभावशाली, पचास वर्णों को एक अखण्ड रूप से सङ्कलित करके जिसे शब्दराशि कहा जाता है वही भैरव है। आमृश्य की छाया के योग से वही शक्ति अथवा मातृका कही जाती है। [1]नववर्गों में विभक्त, शब्दराशि के पारस्परिक मेल से भिन्न-योनिस्वरूप, उसी को मालिनी कहा जाता है। एक-एक आमर्श— वर्ण की रूढ़ि से वही पचास रूपों में देखी जाती है।

---

१. या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथितासमवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥
सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥ ६ ॥
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
एवं भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ॥ ७ ॥
जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ।
एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम् ॥ ८ ॥
अथोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।
तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ॥ ९ ॥
द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ।
बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधाबीजं स्वरा मता ॥ १० ॥
कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः ।
प्रतिवर्णविभेदेन शतार्द्धकिरणोज्ज्वला ॥ ११ ॥
बीजमत्रशिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ।
वाचकत्वेन सर्वापि शम्भोः शक्तिश्च शस्यते ॥ १२ ॥
मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, तृ० अधिकार

एवं पञ्चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः ॥ १९६ ॥
विमर्शात्मैक एवान्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिता ॥
एकामर्शस्वभावत्वे शब्दराशिः स भैरवः ।
आमृश्यच्छायया योगात् सैव शक्तिश्च मातृका ॥ १९८ ॥
सा शब्दराशिसङ्घट्टाद्भिन्नयोनिस्तु मालिनी ।
प्राग्वन्नवतयामर्शात्पृथग्वर्गस्वरूपिणी ॥ १९९ ॥
एकैकामर्शरूढौ तु सैव पञ्चाशदात्मिका ॥

तन्त्रालोक

पूर्वोक्त रीति से नादात्मक हकाररूप शक्ति से अनुविद्ध-तादात्म्यापन्न[1], अकार-हकारात्म परामर्शस्वभाव, परमेश्वर, अनुत्तर शिव ही, पचास वर्णों में अनुत्तर-विसर्गात्मक माता-पिता के रूप में स्फुरित हो रहे हैं[2] ।

हकारपर्यन्त स्थूल रूप से प्रस्फुरित अनुत्तर, परमेश्वर की यह विसर्गशक्ति लौट कर निखिल वाच्य-वाचक जगत् को अंक में लेकर शिवबिन्दु के रूप में निर्विभाग, परप्रकाशस्वभाव, अनुत्तरात्मता का आश्रय लेती है—'अहं' के रूप में अवस्थित होती है ।

अनुत्तर-विसर्गात्मक शिवशक्ति का अद्वय सामरस्य ही 'अहं' है। वहां शिव और शक्ति का पृथक् पृथक् परामर्श नहीं होता। यह अहन्ता स्वात्ममात्र-स्फुरत्ता रूप होती है। 'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः (अजड़-प्रमातृसिद्धि, २२ श्लोक) ।

अनुत्तर अर्थात् अकार से लेकर—'ह' पर्यन्त शक्तिरूप जो वर्णों का प्रसार

---

१. अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ।
विभक्तिर्नानयोरस्ति मरुताम्बरयोरिव । विवेक, पृ० १०३

२. इत्थं नादानुवेधेन परामर्शस्वभावकः ॥ २०० ॥
शिवो मातापितृत्वेन कर्ता विश्वत्र संस्थितः ।
विसर्ग एव शाक्तोऽयं शिवबिन्दुतया पुनः ॥ २०१ ॥
गर्भीकृतानन्तविश्वः श्रयतेऽनुत्तरात्मताम् ।
अनुत्तरविसर्गात्मशिवशक्त्यद्वयात्मनि ॥ २०३ ॥
परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः ।
अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता शक्तिस्वरूपिणी ॥ २०४ ॥
प्रत्याहृताशेषविश्वाऽनुत्तरे सा निलीयते ।
तदिदं विश्वमन्तःस्थं शक्तौ साऽनुत्तरे परे ॥ २०५ ॥

तन्त्रालोक

है—आनन्द से लेकर अमृत बीज पर्यन्त अशेष विश्व को गर्भ में लेकर वह स्फुरत्ता, प्रकाशात्मा अनुत्तर में विलीन हो जाती है।

विश्व शक्ति में अवस्थित है और शक्ति पर-अनुत्तरतत्त्व में। सम्पूर्ण विश्व शक्तिमय है अतः शक्त्येकात्मक है और शक्ति का उदय तथा विश्राम शिव में ही होता है। इसलिए अनुत्तर विभु के साथ शक्ति का, आद्यन्तयोग द्वारा 'अहन्ता' के रूप में सम्पुटीकरण उचित है।

अनुत्तरात्मक परसंवित् द्वारा ही 'ह' कलात्मक विश्व भासित हो रहा है। यह त्रितय ही संघटित होकर भैरव का एक—अखण्ड अहमात्मक पर रूप है। अ, ह, और बिन्दु यही त्रितय है—

तत्तस्यामिति यत्सत्यं विभुना सम्पुटीकृतिः।
तेन श्रीत्रीशिकाशास्त्रे शक्तेः सम्पुटिताकृतिः॥ २०६॥
संवित्तौ भाति यद्विश्वं तत्रापि खलु संविदा।
तदेतत्त्रितयं द्वन्द्वयोगात्सङ्घाततां गतम्॥ २०७॥
एकमेव परं रूपं भैरवस्याहमात्मकम्॥

तन्त्रालोक, तृ० आह्निक

इस प्रकार सम्पूर्ण वर्णों का विकास अहन्ता द्वारा होता है और 'अहं' ही उनके विश्राम का स्थान है।

महाशक्ति महाकाली के कण्ठ में मुण्डों की माला का वर्णन मिलता है। 'निरूत्तरतन्त्र' तथा 'कामधेनुतन्त्र' में कहा गया है कि यह मुण्डमाला पचास वर्णों की माला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

पञ्चाशद्वर्णमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम्।

निरुत्तरतन्त्र।

ममकण्ठे स्थितं बीजं पञ्चाशद्वर्णमद्भुतम्।

कामधेनुतन्त्र

कर्पूरादिस्तोत्र की टिप्पणी में उद्धृत, पृ० १२

सप्तम अध्याय

मातृकावर्णरूप वाचक और उनके वाच्य अर्थ

पिछले अध्याय में वर्णों की विकास दशा का वर्णन करते हुए यत्र-तत्र इस बात का संकेत किया गया है कि विश्व की रचना एक साथ ही वाचक और वाच्य इन दोनों रूपों में होती है। पहले सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों एवं नाना भुवनों का विकास हो जाता है, पश्चात् वर्णों, पदों आदि का स्वभावतः अथवा ईश्वरेच्छा से प्रादुर्भाव होता है ऐसी बात नहीं है[1]। चिदात्मा परशिव, चरम अविभक्त तत्त्व है। उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। अनन्यापेक्षिता ही उसका स्वातन्त्र्य है जिसे प्रतिभा कहते हैं। यही उस प्रभु की शक्ति है—ऐसी विज्ञों की मान्यता है[2]। वस्तुतः प्रभु—उत्तीर्ण चित्तत्व, पृथक्-पृथक् रूप से शिव अथवा शक्ति इन नियत, परिच्छिन्न अभिधेयों को सहन नहीं कर सकता। इसीलिए उसे अनाख्य, परपरामर्शात्मा, अनुत्तर, प्रकाश अथवा परतत्त्व के नाम से उल्लेख करते हैं। बिना किसी अन्य की अपेक्षा किये हुए अपने स्वातन्त्र्य द्वारा जब वे विश्व को अवभासित करना चाहते हैं तब स्वात्मा में शिव-शक्ति मिथुन को सर्वप्रथम प्रकट करते हैं। वाच्य विश्व में शिव की प्रधानता रहती है और वाचक विश्व में शक्ति की। इसीलिए शब्द को शक्ति और अर्थ को शिव के नाम से कहा जाता है[3]। ये ही षडध्व (वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व, भुवन) विश्व के माता-पिता हैं।

---

१. अनन्यापेक्षिता याऽस्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः।
तां परां प्रतिभां देवीं सङ्गिरन्ते ह्यनुत्तराम् ॥ ६६ ॥
तन्त्र० तृ० आ०

२. इह खलु पूर्णः शिवशक्त्यादिप्रतिनियतव्यपदेशासहिष्णुः अनाख्यः परपरामर्शात्मा अनुत्तरः प्रकाश एव परं तत्त्वं, स एव च स्वस्वातन्त्र्याद्विश्वमवविभासयिषुः प्रथमं शिवशक्तिरूपतां स्वात्मन्यवभासयति।
तन्त्रालोकविवेक, पृ० ७५

३. याहमित्युदितवाक् परा च सा यः प्रकाशलुलितात्मविग्रहः।
यौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ ॥ ६ ॥
चिद्गगनचन्द्रिका, प्र० विमर्श

भिन्न-भिन्न शास्त्रों[1] में वाचकवर्णों और वाच्यतत्त्वों का पृथक् पृथक् रूप में उल्लेख मिलता है। दृष्टिभेद से उन भेदों में सङ्गति लगाना उचित है। परात्रिंशिका[2] में पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के—

वाचक	वाच्य
क से ङ तक	पृथिवी से आकाश—पञ्चभूत
च " ञ "	गन्ध से शब्द—तन्मात्रपञ्चक
ट " ण "	पाद से वाक्—पञ्चकर्मेन्द्रिय
त " न "	घ्राण से श्रोत्र—ज्ञानेन्द्रियपञ्चक
प " म तक	मन, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष,
य, र, ल, व	राग, विद्या, कला, माया
श, ष, स, ह,	महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव
क्ष	शक्ति
स्वरवर्ण	शिव

बिन्दुपर्यन्त समस्त स्वर तिथि अथवा कला कहे जाते हैं। '**अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानगाः।**' (परात्रिंशिका, पृ० ९७) विसर्ग ही षोडशी अमृता-कला या तिथि है जो नित्य उदित अनस्तमित रूप से सम्पूर्ण कलाओं को उत्पन्न करती रहती है। तिथियों अथवा स्वरों के उदय का तात्त्विक बोध 'प्राणचार' के ज्ञान के बिना सुकर नहीं है, अतः संक्षेप से यहाँ उसकी चर्चा की जाती है।

---

१. (क) नन्दिकेश्वरकाशिका में चौदह 'अइउण्' आदि माहेश्वरसूत्रों में पठित वर्णों के वाच्यों का विवरण मिलता है जो प्रकृत परम्परा से कुछ भिन्न है।

(ख) स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड–कुमारिकाखण्ड, अ० ३ में वाच्यों का वर्णन भिन्न है।

२. पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पुरुषान्तानि पञ्चसु।
क्रमात्कादिषु वर्गेषु मकारान्तेषु सुव्रते ॥ ६ ॥
वाय्वग्निसलिलेन्द्राणां धारणानां चतुष्टयम्।
तदूर्ध्वं शादि विख्यातं पुरस्ताद्ब्रह्मपञ्चकम् ॥ ७ ॥
अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ॥ ८ ॥
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा। परात्रिंशिका

[1]षाट्कौशिक शरीर के अन्तर्गत प्राण, प्रत्येक स्थान में आत्मशक्ति, मरुत्-शक्ति और प्रभुशक्ति के साथ सञ्चरित होता रहता है। किन्तु स्फुट रूप से यह हृदय और हृदय से ऊर्ध्व देश में भासित होता है। प्राण हृदयदेश से उद्भूत होकर कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट आदि स्थानों से होता हुआ द्वादशान्त (ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर) शाक्तप्रदेश में जाकर अस्त होता है[2]। हृदय व्योम से द्वादशान्त व्योमपर्यन्त जो प्राणचार है वह प्रत्येक जन्तु का अपने अंगुल से छत्तीस अंगुल का माना है। हृदय से द्वादशान्तपर्यन्त प्राण प्रवाह की संज्ञा दिन है और द्वादशान्त से अपान रूप में प्राण का अवरोह ही रात्रि है[3]। इस प्रकार मुख्य प्राण, प्राण और अपान-चार अथवा अहोरात्र के रूप में सञ्चरित होता रहता है। प्राण सूर्य है और अपान चन्द्र। वस्तुतः काल[4] दो प्रकार का हैं—प्रथम सौर और दूसरा आध्यात्मिक अथवा प्राणीय। यहाँ प्राणीय काल अभिप्रेत है। यहाँ भी दिवस में चार और रात्रि में चार प्रहर होते हैं। इस प्रकार प्राणीय अहोरात्र भी आठ प्रहरों का होता है। हृदय[5] से कण्ठ के निचले भाग पर्यन्त नौ अंगुल का प्राणचार दिन का प्रथम प्रहर है। उससे ऊपर तालु पर्यन्त द्वितीय प्रहर कहा जाता हैं[6]। तालु मध्य ही मध्याह्न है। कहते

---

१. षाट्कौशिकस्तु यो देहो भूततन्मात्रसंयुतः ॥ ५ ॥
तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वैनाडिभिश्चरन् ।
नाभ्यधोमेढ्रकन्दे च स्थिता वै नाभिमध्यतः ॥ ७ ॥
तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ।
स्वच्छन्दतन्त्र, ७ पटल

२. द्वादशान्तावधावस्मिन्देहे यद्यपि सर्वतः ॥ ४६ ॥
ओतप्रोतात्मकः प्राणस्तथापीत्थं न सुस्फुटः ।
षट्त्रिंशदङ्गुलो जन्तोः सर्वस्य स्वाङ्गुलक्रमात् ॥ ६१ ॥
तन्त्रालोक, ६ आ०

३. प्राणौ वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ।
स्वच्छन्द० २१ श्लोक, ७ पटल

४. कालो द्विधात्र विज्ञेयः सौरश्चाध्यात्मिकः प्रिये ।
स्वच्छन्द० २१ श्लोक, ६ पटल ।

५. हृदयोर्ध्वे तु कण्ठादो यावद्वै प्रवहेत् प्रिये ॥ ३२ ॥
अङ्गुलेन विहीने तु प्रथमः प्रहरः स्मृतः ।
स्वच्छन्द० ६ पटल

६. द्वितीय ऊर्ध्वे विज्ञेयो मध्याह्नस्तालुमध्यतः ॥ ३३ ॥

हैं इस स्थान पर किया गया होम, जप और ध्यान मोक्षप्रद होता है। भ्रूमध्य से ललाट पर्यन्त तृतीय प्रहर और द्वादशान्त पर्यन्त चतुर्थ प्रहर होता है। इतना ही दिन है। यहाँ आकर प्राण सूर्य अस्त होता है। सूर्यास्त और अपान रूप चन्द्रोदय के बीच आधी तुटि पर्यन्त सायं सन्ध्या मानी जाती है। यहाँ प्राण के निवृत्त होने की इच्छा और अपान के उल्लास की इच्छा का सामरस्य घटित होता है। शक्ति और शक्तिमान के संघट्ट के कारण ही इसे सन्ध्या कहा जाता है। यहाँ 'तुटचर्ध' काल तक विलम्बित होकर प्राण, अपान होकर हृदय पर्यन्त अवरोह करता है। अपान रूप रात्रि के भी वैसे ही चार प्रहर होते हैं जिस समय चन्द्र हृदयकमल में आता है तभी प्रभात होता है। यहाँ भी 'तुटचर्ध' काल की पूर्व सन्ध्या होती है।[1] मनुष्य अक्षिनिमेष का अष्टमांश क्षण है और दो क्षणों की तुटि होती है। लव दो तुटियों का होता है। [2]प्राण-चार के एक प्रहर में चार तुटियां होती हैं। इस प्रकार चारों प्रहरों को

अत्र होमो जपो ध्यानं कृतं वै मोक्षदो भवेत्।
नासाङ्ग्यङ्गुलोर्ध्वे तु यावत्प्राप्तस्तु सुव्रते ॥ ३४ ॥
प्रहरस्तु तृतीयोऽसौ भवेद्वै वरवर्णिनि।
शक्त्यन्ते च चतुर्थस्तु प्रहरोऽह्नः प्रकीर्तितम् ॥ ३५ ॥
चतुर्थान्ते तु देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः।
ततोस्तमयसन्ध्यात्र तुटचर्धं तु भवेत्प्रिये ॥ ३६ ॥
तत्कालं तु विलम्ब्यैवं पुनश्चाधः प्रवर्तते।
स च चन्द्रोदयो देवि रजनी च विधीयते ॥ ३७ ॥
हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा।
तुटचर्धं तु वरारोहे पूर्वसन्ध्या भवेत्ततः ॥ ३९ ॥

स्वच्छन्द०, ७ पटल

१. मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्वयं तु लवः स्मृतः ॥

वही, ११ पटल, श्लोक ११९

२. तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः ॥ २७ ॥
ताभिश्चतसृभिर्देवि प्राणे यामो विधीयते।
तैरेवप्रहरैर्देवि चतुर्भिस्तु दिनं भवेत् ॥ २८ ॥

स्वच्छन्द०, ७ पटल

प्राणापानस्थिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः।

विवेक, पृ० ५५, आ० ६

मिलाकर प्राणचार की सोलह तुटियाँ हुईं। प्राण और अपान तथा उनकी सन्ध्याओं के काल को मिलाकर कुल बत्तीस तुटियाँ होती हैं।

अहोरात्र[1] ही दो पक्षों वाला मास है। जो दिन और रात्रि की सन्ध्यायें हैं वही पक्ष की सन्धियाँ हैं। बीच की जो पन्द्रह तुटियाँ हैं उन्हीं को तिथि कहते हैं। यहाँ तुटि का अर्द्धभाग दिन है और अग्रिम अर्द्धभाग रात्रि। कृष्ण-पक्ष में ऊर्ध्वचार द्वारा प्रति तुटि, एक-एक कला का अमावस्या पर्यन्त क्षय होता है। प्राण[2] के शक्ति या ब्रह्मरन्ध्र स्थान में पहुँचने पर प्रक्षीण चन्द्रा पञ्चदशी तिथि 'अमा' नामक सोलहवीं अमृताकला में निवास करती है। अतः उसे अमावस्या कहा जाता है। शुक्लपक्ष में क्रमशः अपान चन्द्र की एक-एक कला का पोषण होता है।[3] यहाँ पञ्चदशी तुटि ही पौर्णमासी तिथि है, क्योंकि इस तुटि में 'माः' अर्थात् चन्द्र पूर्ण होता है।[4] इस प्रकार प्राणापान प्रवाह ही पन्द्रह तिथियों या स्वरों का जनक है। अन्य व्यञ्जन भी इन्हीं स्वरों के गर्भ में विद्यमान रहते हैं। विसर्ग ही अमृताषोडशीकला है जिससे प्रवाह व्यापार चलता है। इसी को लक्ष्य में रखकर 'परात्रिंशिका' में कहा गया है—

---

१. अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तः प्राणेऽस्मिन् सुरसुन्दरि।
स एव पक्षद्वितयं मासं च कथयामि ते॥ ६१॥
तुटचर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः।
मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिता॥ ६२॥
प्रथमोदये तु हृत्पद्मात्तुटचर्धं तु दिनं भवेत्।
द्वितीये चैव तुटचर्धे यदा चरति शर्वरी॥ ६३॥

२. 'शक्तिः' ब्रह्मरन्ध्रस्थानं 'तुटिः' इति प्रक्षीणचन्द्रा पञ्चदशी। अतएव अमाख्यायां षोडश्यां तुटौ वसनात् तद्भित्त्यवलम्बनादमावस्या सा ज्ञेया।

स्वच्छन्दोद्योत, पटल ८, पृ० २१४

३. माः चन्द्रः पूर्णोऽस्यामिति कृत्वा।

स्वच्छन्दोद्योत, पटल ७, पृ० २२०

४. वृत्तिसंज्ञाप्रभेदेन वर्णरूपाण्यनेकधा॥ २३॥

वही, पटल ७

वृत्तिः बहिर्वहनान्तर्वहनादिव्यापारः ततोः यः प्रणापानसमानादिसंज्ञाभेदः तेन द्वादशषोडशादिस्वरभेदभिन्नास्तद्गर्भीकृतव्यञ्जनात्मानश्च वर्णाः तत्तदनु-भवात्मकानि च रूपाणि अनेकधा भवन्ति। अत्र चागमान्तरोक्त्या गर्भीकृत-व्यञ्जनः स्वरोदयरूपः पञ्चाशद्वर्णोदयात्मा अष्टवर्गोदयस्वरूपो वा वर्णोदयोऽस्ति।

स्वच्छन्दोद्योत, पटल ७, पृ० १८३

"अथाद्यास्तिथयः सर्वे स्वरा बिन्द्ववसानगाः ।
तदन्तः कालयोगेन सोमसूर्यौ प्रकीर्तितौ ।। ५ ।।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी निम्नाङ्कित व्याख्या की है--**अमी चाकाराद्याः स्थितिमन्तः प्राणे त्रुटिषोडशकादिस्थित्या एकां त्रुटिं सन्धीकृत्यार्धार्धभागेन प्रलयोदययोर्बहिरपि पञ्चदशदिनात्मककालरूपतां तन्वते**—इति तिथयः कलाश्चोक्ताः ।" परा० वि० पृ० २०० । [1]हृदयदेश से द्वादशान्त तक पूर्वोक्त प्राणचार के बीच वर्णों का उदय होता है । यह प्रादुर्भाव अयत्नज अथवा स्वाभाविक रूप में ही होता है ।

केवल मन्त्रोदय यत्नज माना जाता है क्योंकि योगी को जो मन्त्र अभिप्रेत होगा उसीका उदय वह प्रयास द्वारा सिद्ध करेगा । वर्णोदय [2]पर, सूक्ष्म और स्थूल-भेद से तीन प्रकार का होता है । परवर्णोदय भी परतर और परतम इन दो भेदों में विभक्त है । सूक्ष्म के भी तीन भेद होते हैं—१. सूक्ष्म, २. सूक्ष्म-सूक्ष्म और ३. सूक्ष्मस्थूल ।

[3]परतम वर्ण—

हृदय देश में एक ही अखण्ड वर्ण, सब वर्णों का अविभागात्मक रूप, सतत उच्चरित होने के कारण 'अनाहत' शब्द द्वारा कहा जाता है । यह नादात्मक वर्ण सर्वदा उदित रहता है, कभी भी अस्त नहीं होता—

एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान् ।
सोऽनस्तमितरूपत्वाद् अनाहत इहोदितः ।। २१७ ।।

तं०, ६ आ०

---

१. प्राणचारेऽत्र यो वर्णपदमन्त्रोदयः स्थितः ।
यत्नजोऽयत्नजः सूक्ष्मः परः स्थूलः स कथ्यते ।। २१६ ।। तं०, आ० ६

२. इह पुनर्वर्णोदय एवायत्नजः परसूक्ष्मस्थूलात्मतया त्रिप्रकारोऽभिधीयते । तत्र परस्यापि वर्णोदयस्य तरतमभावेन द्वैविध्यम् ।

विवेक, पृ० १७७–७८, ६ आ०

सूक्ष्मं च त्रिधेति । वही, पृ० १८२, ६ आ०

३. तुलनीय—ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणिशब्दो
वाणी यस्मात्प्रभवति परा शब्दतन्मात्रगर्भा ।

सूतसंहिता व्याख्या; प० ३५१, यज्ञवै० अ० ४

ओमितिस्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ।।

विज्ञानभैरवोद्योत, पृ० ३७

इसे ही भैरवसद्भाव अथवा मातृसद्भाव के नाम से कहा जाता है। यही परा एकाक्षरा देवी है जिसमें सम्पूर्ण चराचर जगत् लीन रहता है।

स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्॥ २१८॥

तं० ६ आ०

परतर वर्णोदय—

प्राणवाह के सूर्यपथ पर बारह-बारह अंगुल के क्रम से अ, इ, उ इन ह्रस्व स्वरवर्णों का उदय होता है और चन्द्रपथ पर आ, ई, और ऊ स्वरों का। अट्ठारह अंगुलों पर ए, ओ और ऐ, औ इन सन्ध्यक्षरों का उदय होता है। द्वादशान्त में ऋ, ललाट, ग्रीवा और हृदय में क्रमशः, ॠ, ऌ और ॡ का जन्म होता है। प्राण के सम्पूर्ण प्रवाह में बिन्दु का और अपान के प्रवाह में विसर्ग का प्रभाव देखा जाता है। अकार का जो अभ्युदय स्थान है वही कवर्ग का एवं इकारादिकों के समानस्थानीय चवर्गादिक भी हैं। यद्यपि सस्थानीय होने के कारण सकार का उदय स्थान दन्त है और हकार का कण्ठ, किन्तु प्राणात्मक जीवन रूप होने के कारण सकार, हृदय में उदित होता है और हकार प्रकाशात्मा होने के कारण सर्वत्र।

ह्रस्वार्णत्रयमेकैकं रव्यङ्गुलमथेतरत्।
प्रवेश इति षड्वर्णाः सूर्येन्दुपथगाः क्रमात्॥ २१९॥
इकारोकारयोरादिसन्धौ सन्ध्यक्षरद्वयम्।
ए ओ इति प्रवेशे तु ऐ औ इति द्वयं विदुः॥ २२०॥
षण्ठार्णर्मूनि प्रवेशे तु द्वादशान्तललाटयोः।
गले हृदि च बिन्द्वर्णविसर्गौ परितः स्थितौ॥ २११॥
कादिपञ्चकमाद्यस्य वर्णस्यान्तः सदोदितम्।
एवं सस्थानवर्णानामन्तः सा सार्णसन्ततिः॥ २२२॥
हृद्येष प्राणरूपस्तु सकारो जीवनात्मकः।
बिन्दुः प्रकाशो हार्णश्च पूरणात्मतया स्थितः॥ २२३॥
उक्तः परोऽयमुदयो............... ।

तं० ६ आ०

सूक्ष्मसूक्ष्म—

अपानवाह के चन्द्रपथ पर सोलह स्वरों एवं समानस्थानीय वर्णों का उदय होता है तथा प्राणवाह के सूर्यपथ पर षण्ढ स्वरों से रहित स्वर वर्ण एवं सस्थानीय वर्ण उदित होते हैं। इस प्रकार अपान-मार्ग में सवा दो अंगुल पर और प्राण-मार्ग में तीन अंगुल पर वर्णों का उदय होता रहता है। यह सूक्ष्म वर्णोदय के भी अन्तर्गत सूक्ष्म उदय है।

सूक्ष्मस्थूल वर्णोदय—

इस विभाग में वर्णों की इक्यासी अर्धमात्राओं का परिगणन किया जाता है। मतंगतन्त्र में इन मात्राओं को समुदितरूप में एकाशीतिपदा देवी के नाम से कहा गया है। यह शिवात्मिका शक्ति है। क्षकार की गणना करने पर इसकी तीन मात्रायें और बढ़ जाती हैं इस प्रकार कुल चौरासी मात्रायें होती हैं। 'क' से लेकर 'ह' तक तैंतीस व्यंजन-वर्णों की तैंतीस अर्धमात्रायें, ह्रस्व स्वरों की दश, दीर्घस्वरों की बत्तीस और प्लुत वर्णों की छह। इस प्रकार इक्यासी अर्धमात्राएँ हुईं।

छत्तीस अंगुल के प्राणचार में प्रति चार अंगुल में नौ-नौ अर्धमात्राओं की कलना से इक्यासी अर्धमात्राओं का उदय होता है।

सूक्ष्म वर्णोदय—

हृदयदेश में अकार और द्वादशान्त में हकार का उदय होता है। यही प्रत्याहार क्रम से अशेष वर्णों को अपने गर्भ में लिए हुए 'अहं' स्वरूप अद्वैत-तत्त्व है, जिसे प्रकाश की आत्मविश्रान्ति कहा गया है—

हृद्यकारो द्वादशान्ते हकारस्तदिदं विदुः।
अहमात्मकमद्वैतं यः प्रकाशात्मविश्रमः॥ २३८॥

स्थूल वर्ग तथा स्थूल वर्णोदय—

आन्तर—प्राणीय दिन के आधे-आधे प्रहर में एक-एक वर्ण का उदय होता है। प्रत्येक वर्ण के पृथक्-पृथक् उदय के लिए दो सौ सोलह प्राणचार आवश्यक होते हैं। इस प्रकार संकलन करने पर पचास वर्णों के उदय में दश हजार आठ सौ प्राणचार हो जाते हैं।

प्राणचार के बीच इस प्रकार अयत्नज वर्णोदय होता रहता है।

[1]स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि बाहर का काष्ठात्मक काल ही

---

१. अध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते।
मासेनाध्यात्मिकेनैव बाह्ये चैव कला भवेत्॥ ५०॥
तत्र त्रिंशदहोरात्रा मासस्तु वरवर्णिनि।
मासैर्द्वादशभिश्चैव बाह्येऽथ घटिका भवेत्॥ ५१॥
शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिका।
वर्षमेतत्समाख्यातं बाह्ये वै घटिका च सा॥ ५२॥
घटिकाः षष्टिस्त्वहोरात्रे बाह्ये तु प्रवहन्ति वै।
ता एवान्तरचारेण षष्टिः संवत्सराः स्मृताः॥ ५३॥
प्राणसंख्यां पुनस्तेषु कथयाम्यधुना तव।
षट्शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः॥ ५४॥

आध्यात्मिक अहोरात्र है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा होती है जो कि कला का अवयवविशेष है। तीस काष्ठाओं की एक कला मानी जाती है और बाह्य कला ही आध्यात्मिक मास है जिसमें प्राणचार के तीस अहोरात्र होते हैं। बाहर की एक घड़ी आध्यात्मिक बारह मास अथवा एक वर्ष है। इतने काल में ही तीन सौ साठ प्राणापानचार घटित होते हैं। बाह्यघटिका में आध्यात्मिक साठ चषक और एक चषक में छह प्राणापानचार देखे जाते हैं। बाहर की साठ घड़ी अथवा अहोरात्र में प्राणचार सम्बन्धी साठ संवत्सर कहे गये हैं। साठ घड़ी वाले बाह्य अहोरात्र में इक्कीस हजार छः सौ प्राणचार होते हैं। प्राणसंख्या के अनुसार ही जपसंख्या भी होनी चाहिए तभी मन्त्रोदय सम्भव होता है।

[1]तन्त्रों में प्राणचार के बीच ही ग्रह, नक्षत्र और राशियों के उदय की चर्चा की गई है। वर्णों के साथ भी इनका व्यापक सम्बन्ध है। वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण का एक-एक ग्रह अधिष्ठाता है। निम्नांकित विवरण से इसका स्पष्टीकरण सम्भव हो सकेगा—

वर्ग	ग्रह
[2]स्वरवर्ग	सूर्य
कवर्ग	मङ्गल

अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे।
प्राणसंख्या समाख्याता ज्ञातव्या साधकेन तु ॥ ५५ ॥

स्वच्छन्द तं०, ७ पटल

× × ×

षट्शतानि दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः ॥

विज्ञानभै० तन्त्र (१५६)

१. राशयो ग्रहऋक्षाणि योगाश्च करणानि च ॥ ७८ ॥
पूर्ववत्क्रमयोगेन तान्युद्यन्ति त्वहर्निशम् ॥

स्वच्छन्द तं०, ७ पटल

२. तदा स्वरेशः सूर्योऽयं कवर्गेशस्तु लोहितः।
चवर्गप्रभवः काव्यष्टवर्गाद् बुधसम्भवः ॥ २५ ॥
तवर्गोत्थः सुरगुरुः पवर्गोत्थः शनैश्चरः।
यवर्गजोऽयं शीतांशुरिति सप्तगुणा त्वियम् ॥ २६ ॥
यथा स्वरेभ्यो नान्ये स्युर्वर्णाः षड्वर्गभेदिताः।
तथा सवित्रनुस्यूतं ग्रहषट्कं न संशयः ॥ २७ ॥

प्रपञ्चसारतन्त्र, ४ पटल।

वर्ग	ग्रह
चवर्ग	शुक्र
टवर्ग	बुध
तवर्ग	बृहस्पति
पवर्ग	शनैश्चर
यवर्ग	सोम

जिस प्रकार सूर्य से अन्य ग्रह उद्भूत होते हैं वैसे ही स्वरों से षड्वर्ग का भी उदय होता है।[1] राशिवर्णों का विवरण—

अ, आ, इ, ई	...	मेष
उ, ऊ, ऋ	...	वृष
ॠ, ऌ, ॡ	...	मिथुन
ए, ऐ	...	कर्क
ओ, औ	...	सिंह
अं[2], अः शवर्ग, ळ	...	कन्या
क, ख, ग, घ, ङ	...	तुला
च, छ, ज, झ, ञ	...	वृश्चिक
ट, ठ, ड, ढ, ण	...	धनु
त, थ, द, ध, न	...	मकर
प, फ, ब भ, म	...	कुम्भ
य, र, ल, व, क्ष	...	मीन

तन्त्रराजतन्त्र की टीका में प्रमाणमञ्जरी ने राशियों से सम्बद्ध वर्णों का क्रम भिन्न रूप में दिखाया है। यथा—

अ, आ, इ, ई	...	मेष
उ, ऊ, ऋ, ॠ	...	वृष
ऌ, ॡ, ए, ऐ	...	मिथुन
ओ, औ, क, ख	...	कर्क

---

१. आद्यैर्मेषाह्वयो राशिरीकारान्तैः प्रजायते।
ऋकारान्तैरुकाराद्यैर्वृषो युग्मं ततस्त्रिभिः ॥ ३४ ॥
एदैतोः कर्कटो राशिरोदौतोः सिंहसम्भवः। प्रपञ्चसार, ४ पटल

२. अमः शवर्गलेभ्यश्च सञ्जाता कन्यका मता ॥ ३५ ॥
षड्भ्यः कचटतेभ्यश्च पयाभ्यां च प्रजज्ञिरे।
वणिगाद्याश्च मीनान्ता राशयः शक्तिजृम्भणात् ॥ ३६ ॥
चतुर्भिर्मादिभिः सार्द्धं स्यात् क्षकारस्तु मीनगः। प्रपञ्चसार, ४ पटल

ग, घ, ङ, च	...	सिंह
छ, ज, झ, ञ	...	कन्या
ट, ठ, ड, ढ	...	तुला
ण, त, थ, द	...	वृश्चिक
ध, न, प, फ	...	धनु
ब, भ, म, य	...	मकर
र, ल, व, श	...	कुम्भ
ष, स, ह, ळ	...	मीन

वर्णात्मक राशियों[1] से ही नक्षत्रों का जन्म होता है। वर्ण (अक्षर) भेद से समस्त नक्षत्र सत्ताईस प्रकार के होते हैं। ये नक्षत्र भी वर्णज ही हैं। जिन वर्णों द्वारा जो नक्षत्र उत्पन्न होते हैं उनकी तालिका निम्नलिखित है—

अ, आ	...	अश्विनी
इ,	...	भरणी
ई, उ, ऊ	...	कृत्तिका
ऋ, ॠ, ऌ, ॡ	...	रोहिणी
ए	...	मृगशिरा
ऐ	...	आर्द्रा
ओ, औ	...	पुनर्वसु

---

१. एभ्य एव तु राशिभ्यो नक्षत्राणां च सम्भवः।
स चाप्यक्षरभेदेन सप्तविंशतिधा भवेत् ॥ ५१ ॥
आभ्यामश्वयुगेर्जाता भरणी कृत्तिका पुनः।
लिपित्रयाद्रोहिणी च तत्पुरस्ताच्चतुष्टगात् ॥ ५२ ॥
एदैतोर्मृगशीर्षार्द्रे तदन्त्याभ्यां पुनर्वसुः।
अमसोः केवलो योगो रेवत्यर्थं पृथङ्मतः ॥ ५३ ॥
कतस्तिष्यस्तथाश्लेषा खगयोर्घङ्योर्मघा।
चतः पूर्वाथ छजयोरुत्तरा झञयोस्तथा ॥ ५४ ॥
हस्तश्चित्रा च टठयोः स्वाती डादक्षरादभूत्।
विशाखा तु ढणोद्भूता तथदेभ्योऽनुराधिका ॥ ५५ ॥
ज्येष्ठा धकारान्मूलाख्या नपफेभ्यो बतस्तथा।
पूर्वाषाढा भतोन्या च सञ्जाता श्रवणा मतः।
श्रविष्ठाख्या च यरयोस्ततः शतभिषा लतः।
वशयोः प्रोष्ठपत्संज्ञा षसहेभ्यः परा स्मृतः।
प्रपञ्चसारतन्त्र, चतुर्थ पटल, पृ० ६२-६३

क	...	पुष्य
ख, ग	...	आश्लेषा
घ, ङ	...	मघा
च	...	पूर्वा
छ, ज	...	उत्तरा
झ	...	हस्त
ट, ठ	...	चित्रा
ड	...	स्वाती
ढ, ण	...	विशाखा
त, थ, द	...	अनुराधा
ध	...	ज्येष्ठा
न, प, फ	...	मूल
ब	...	पूर्वाषाढा
भ	...	उत्तराषाढा
म	...	श्रवणा
य, र	...	श्रविष्ठा
ल	...	शतभिषा
व, श	...	प्रोष्ठपदा
ष, स, ह, क्ष	...	उत्तराभाद्रपद
अं, अः, ळ	...	रेवती

वर्णों का विभाजन, आकाशादि पञ्चभूतात्मक वर्गों के रूप में भी तन्त्रों में पाया जाता है। इस प्रकार एक-एक वर्ण भिन्न-भिन्न तत्त्वों का वाचक न होकर वर्णों का विशेष समुदाय ही विशेष तत्त्व का सूचक बन जाता है। अथवा यह समझना अधिक उपयुक्त होगा कि जो वर्ण वायुवर्ग के अन्तर्गत आते हैं उनमें वायव्यांश अधिक मात्रा में रहता है। वर्णों का आकाशादि से सम्बद्ध विभाजन निम्नांकित है—

[1]वायु वर्ग—अ, आ, ए, क, च, ट, त, प, य, ष

अग्नि वर्ग—इ, ई, ऐ, ख, छ, ठ, थ, फ, र, क्ष

भूमि वर्ग—उ, ऊ, ओ, ग, ज, ड, द, ब, ल, ळ

---

१. ऊद्गदादिलला: कौर्णसौ चतुर्थार्णका वसौ वारः।
दृष्टयैव द्वितीयरक्षा वह्नेरद्वन्द्वयोनिकादियषाः ॥ ७१ ॥
मरुतः, कपोलबिन्दुकपञ्चमवर्णाः शहौ तथा व्योम्नः ॥ ७२ ॥

प्र० सा०, तृतीय पटल

जल वर्ग—ऋ, ॠ, औ, घ, झ, ढ, ध, भ, व, स
व्योम वर्ग—ऌ, ॡ, क्ष, ङ, ञ, ण, न, म, श, ह

प्रपञ्चसारतन्त्र तथा शारदातिलक दोनों ग्रन्थों में भूत समुदाय के अन्तर्गत विसर्ग की गणना नहीं की गई[1], कारण समस्त वर्ण विसर्गात्मक है। विसर्ग मायाशक्ति है—वह सर्वभूतात्मक है। इन पाञ्चभौतिक[2] वर्णों का स्तम्भन परिवर्षण आदि कार्यों में प्रयोग किया जाता है। एक अधुनातन गवेषणकर्ता ने वायु, अग्नि आदि वर्गों में आये हुए वर्णों से सम्बद्ध प्राचीन चित्रलिपि को वायु आदि तत्त्व तथा उनसे सम्बद्ध पदार्थों द्वारा उद्भावित माना है। तात्पर्य यह है कि आकाश वर्ग में जितने वर्ण गिने गये हैं उनकी सूचकलिपि में आकाश तथा तत्संबन्धी पदार्थों के चित्र मिलेंगे। इसी प्रकार अन्य वर्गों के वर्णों का भी बोध तत्तत् वर्गीय चित्रों द्वारा कराया गया है। गवेषक का दावा है कि जयपुरियन, इण्डस, ईजिप्शियन, चाइनीज़ और क्यूनिफार्म चित्र-लिपियों, गूढ़ाक्षरों एवं शर-शीर्ष लिपियों की कुञ्जी तन्त्रों के इस पाञ्च-भौतिक वर्गवाद में निहित है[3]।

---

१. मूलाधारात् सञ्जातविवक्षोत्पन्नप्रयत्नप्राणपवनप्रेरितः स्थानान्तरम-प्राप्य कण्ठादेव निःसरन् प्रकृत्यात्मकः सर्गोऽत्र भूतेषु न गणितः। अतएव आचार्यः 'कण्ठात्तु निःसरन् सर्गः इत्यादिना 'नश्वरः सर्ग एवं स्यात् इत्यन्तेन सर्गादेव ककारादीनामुत्पत्तिरुक्ता।

कादिमतेऽपि—

प्राणाग्नीलाम्बुखात्मानः षङ्क्तयः पञ्च कीर्तिताः।
मायाशक्त्यमिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुः।
तस्मात्तस्यात्र विन्यासो नैकदेशे शिवात्मनि॥

राघवभट्टीया, पदार्थादर्श टीका, पृ० ७०

२. ह्रस्वाः पञ्च परे च सन्धिविकृताः पञ्चाथ बिन्द्वन्तिकाः।
काद्याः प्राणहुताशभूकखमया याद्याश्च शार्णान्तिकाः।
हान्ताः षक्षलसाः क्रमेण कथिता भूतात्मकास्ते पृथक्।
तैस्तैः पञ्चभिरेव वर्णदशकैः स्युः स्तम्भनाद्याः क्रियाः॥ ७०॥

प्र० सा०, तृतीय पटल

३. The systematization of the script in the Arya Society was recorded in the Tantras. From this record we find that the systematization of the script was made in accordance with sounds relating to the five vedic dieties. Thus we find the five groups of scripts—the sun, earth, fire, water and sky groups. The alphabets of sun group are written by the

मन्त्रसाधकों के हित में वर्णों का भूतात्मक वर्गीकरण आवश्यक माना गया था। जिस प्रकार भूतों में पारस्परिक शत्रु-मित्रभाव है वैसे ही मन्त्र वर्णों[1] और साधक के नामगत वर्णों में भी सादृश्य और विपक्षता होती है। अतः मन्त्र-ग्रहण के अवसर पर यह आवश्यक होता है कि इस बात की पूर्ण परीक्षा हो जाय कि अमुक मन्त्र साधक से मैत्रीभावापन्न है या नहीं। मन्त्र और साधक का आदि वर्ण यदि पार्थिव है तो दोनों को समान कुल का समझना चाहिए। पृथ्वी और जल में मित्रता है और अग्नि तथा मरुत् में भी वैसे ही पार्थिव और वारुण वर्णों तथा आग्नेय और मारुतों में भी मैत्रीभाव है। इसी प्रकार अग्नि और वरुण में शत्रुता होने के कारण आग्नेय और वारुण वर्णों में पारस्परिक शत्रुता मानी जाती है।

उपयुक्त वर्णों के पञ्चभूतात्मक विभाजन के अतिरिक्त एक नववर्गात्मक पाञ्चभौतिक वर्गीकरण भी मिलता है। यथा—

वर्ग	भूत				
	व्योम	वायु	अग्नि	जल	पृथ्वी
१	अ	इ	उ	ऋ	ऌ
२	ए	ऐ	ओ	औ	०
३	ह	य	व	र	ल

sun or objects relating to the sun, those of the water group by reservoirs of water or objects relating to water etc. Each group comprises eight to nine letters.

The Rigvedic Culture of the pre-historic Indus. p.53

From the above discussions it is evident that the Tantras are the common source of all the various systems of pictographic alphabets of the world. Ibid. p.76

१. मन्त्रसाधकयोराद्यो वर्णः स्यात् पार्थिवो यदि।
तत्कुलं तस्य तत्प्रोक्तमेवमन्येषु लक्षयेत्॥
पार्थिवे वारुणं मित्रमाग्नेये मारुतं तथा।
ऐन्द्रवारुणयोः शत्रुर्मारुतः परिकीर्तितः।
आग्नेये वारुणं शत्रुर्वारुणे तैजसं तथा।
सर्वेषामेव तत्त्वानां सामान्यं व्योमसम्भवम्।
परस्परविरुद्धानां वर्णानां यत्र सङ्गतिः।
स मन्त्रः साधकं हन्ति किं वा नास्य प्रसीदति॥

शारदातिलक० टीका, द्वितीय पटल, पृ० ७१

वर्ग	भूत				
	व्योम	वायु	अग्नि	जल	पृथ्वी
४	ङ	क	ख	घ	ग
५	ञ	च	छ	झ	ज
६	ण	ट	ठ	ढ	ड
७	न	त	थ	ध	द
८	म	प	फ	भ	ब
[1] ९	श	ष	स	०	०

[2]इन वर्गों के देवता क्रमशः विरिञ्चि, विष्णु, रुद्र, अश्वि, प्रजापति तथा चार दिगीश्वर हैं। क्रिया, ज्ञान और इच्छा आदि उनकी शक्तियाँ हैं।

पिछले अध्यायों में मातृका-वर्णों का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि वर्ण केवल साङ्केतिक ध्वनियाँ ही नहीं हैं उनके मूल में विश्वसंस्था और शरीरसंस्था के सम्पूर्ण संघटक, स्थापक और संहारक तत्त्व विद्यमान हैं। एक ओर जहाँ उनके द्वारा काम, क्रोध, लोभादिक उद्भावित होकर मनुष्य की आत्मा को अत्यन्त स्वार्थी और संकुचित बना डालते हैं, वहीं वर्णसमुदाय ही व्यक्ति को आत्मिक दृष्टि से अत्यन्त उदार एवं मुक्त करने की क्षमता भी रखता है। सत्य तो यह है कि वर्ण ही ज्ञान-विज्ञान की कुञ्जी है। सम्पूर्ण वाच्यात्मक विश्व, वाचक वर्णों के ही अधीन है।

---

१. अथ भूतलिपिं वक्ष्ये सुगोप्यामतिदुर्लभाम्।
यां प्राप्य शम्भोर्मुनयः सर्वान् कामान् प्रपेदिरे ॥ १ ॥
पञ्चह्रस्वा, सन्धिवर्णा, व्योमेराग्निजलं धरा।
अन्त्यमाद्यं द्वितीयं च चतुर्थं मध्यमं क्रमात् ॥ २ ॥
पञ्चवर्गाक्षराणि स्युर्वान्तं श्वेतेन्दुभिः सह।
एषा भूतलिपिः प्रोक्ता द्विचत्वारिंशदक्षरैः ॥ ३ ॥
आयम्बराणां वर्गाणां पञ्चमाः शार्णसंयुताः।
वर्गाद्या इति विज्ञेया नव वर्गाः स्मृता अमी ॥ ४ ॥

२. व्योमेराग्निजलक्षोणीवर्गवर्णान् पृथग्विदुः।
द्वितीयवर्गे भूर्नस्यात् नवमे न जलं धरा ॥ ५ ॥
विरिञ्चिविष्णुरुद्राश्विप्रजापतिदिगीश्वराः।
क्रियादिशक्तिसहिताः क्रमात्स्युः वर्गदेवताः ॥ ६ ॥
ऋषिः स्याद्दक्षिणामूर्तिः गायत्रं छन्द ईरितम्।
देवता कथिता सद्भिः साक्षाद्वर्णेश्वरी परा ॥ ७ ॥

शारदातिलक, ७ वां पटल।

सृष्टि के आदिम क्षण से ही शब्द और अर्थ अविनाभूत है। सूक्ष्म को आत्मसात् कर लेने पर समस्त स्थूल भी गृहीत हो जाता है इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

समस्त मातृका-वर्ण मन्त्रों अथवा विद्याओं के जनक हैं। अतः उन मन्त्रों को अर्थबोध एवं अर्थलाभ के कारण रूप में स्वीकार करना अनुचित नहीं—

अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता।
सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि ॥ ८ ॥
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा।

परात्रिंशिका

अष्टम अध्याय

मन्त्र : स्वरूप-विचार तथा प्रकारभेद

उपायात्मक[1] मन्त्रों के रूप में परमेश्वर ही स्फुरित होता है—यह कथन सर्वथा संगत है। इस तथ्य को लक्ष्य में रखकर ही कहा गया है कि वस्तुतः उच्चारण किये जानेवाले मन्त्र[2], मन्त्र नहीं है। मन्त्रों की जीवभूत अव्यय-शक्ति ही मन्त्रपद वाच्य है। जिससे रहित मन्त्र शरदकाल के मेघ के सदृश निष्फल हो जाते हैं। यह अव्ययशक्ति स्वहृदयैकसंवेद्यविमर्शशक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कहते हैं मन्त्र वर्णात्मक नहीं, वे न तो पञ्चवदन और न दशभुज शरीरधारी ही हैं; विश्व विकल्प की पूर्वकोटि में जो नाद का उल्लास है वही मन्त्र है।

मनन[3] और त्राण—ये मन्त्र के दो धर्म हैं। परनाद अथवा परस्फुरणा का परामर्श ही मनन है। मनन, परशक्ति के महान् वैभव की अनुभूति है—

---

१. मन्त्रोऽपि अन्तर्गुप्तभाषणात्मकपरपरामर्शसतत्त्वेन मननत्राणधर्मा परतत्व-प्राप्त्युपायः परमेशात्मैव। परमेश्वर एव हि उपेयपदवदुपायरूपतया स्फुरितः।
स्वच्छन्दोद्योत, ११ पटल, पृ० १५

२. उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राँश्चापि तद्विदुः।
+ + +
मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया।
तया हीना वरारोहे निष्फला शरदभ्रवत्॥
शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० ४८

वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि।
सङ्कल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मत्रः॥ महार्थमञ्जरी, पृ० १०२

३. 'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' इति ह्याम्नायः तत्र मन्त्रानुसन्धातुः स्वेच्छा-मात्रेणोपाधिना 'विभवः' 'सङ्कोच' इति उपाधिद्वयमस्ति, तयोर्विभवो नाम विश्वतदुत्तरोभयसामरस्ययुक्त्या अहम्भावभावनात्मा विकासः—यत्पारमैश्वर्य-मुच्यते। सङ्कोचश्च तद्विपर्ययात् अपूर्णत्वाभिमननं तत्पाशवमित्याख्यायते। एवं स्थिते तादृगात्मनि विकासे समुल्लसति तस्य च यन्मननं—उपर्युपरि-यथापरामर्शानुस्यूतिस्वभावश्चमत्कारः, तत्प्रकृतं यस्याः; तदुक्तरूपे सङ्कोचे प्रस्तुते त्राणं—'सङ्कोचोऽपि विचार्यमाणश्चिदात्मैक्येन प्रथमानत्वात् चिन्मय एव अन्यथा तु न किञ्चित् इति, श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदयमर्यादया तस्यापि सङ्कोचस्य

उसके पारमैश्वर्य का उपभोग है। अपूर्णता अथवा सङ्कोचमय भेदात्मक संसार के प्रशमन को रक्षा अथवा त्राण कहते हैं। इस प्रकार शक्ति के वैभव या विकासदशा में मननयुक्त तथा सङ्कोच या सांसारिक अवस्था में त्राणमयी—विश्वरूप विकल्प को कवलित कर लेनेवाली अनुभूति ही मन्त्र है—

मननमयी निजविभवे निजसङ्कोचमये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः ॥ ४८ ॥

महार्थमञ्जरी (संस्कृतच्छाया)

पूर्णाहन्ता[1] अथवा परावागात्मक अनुभूति ही मन्त्र है। यह अनुभूति निरन्तर तथाविध मनन या अनुसन्धि से उत्पन्न होती है और तभी संसार को क्षीण करनेवाला त्राण भी बन पड़ता है अन्यथा नहीं। मन्त्र शब्द की यह व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक है।[2] पूर्णाहन्ता ही महामन्त्र है जिसका शास्त्रों में मन्त्रवीर्य अथवा मन्त्रोपनिषद् के नाम से उल्लेख किया गया है। यह मन्त्र, चित् शक्ति का स्वस्वभाव है। 'चिच्छक्तेः स्वस्वभावो यः स मन्त्रः परिगीयते ॥' शिवसूत्रवार्तिक, द्वितीय प्रकाश।

[3]सामान्यतया वर्णसमुदायविशेष ही मन्त्र है। वर्णों अथवा वर्णभट्टारकों की शक्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। विविध शक्तियों के पुञ्जरूप वर्णों से निर्मित होने के कारण मन्त्र अचिन्त्य शक्तिशाली है, इसमें सन्देह का अवसर नहीं। मायाशक्ति अतर्क्य और दुर्वार है और इसको भी

वैश्वात्म्यप्रथानुप्रविष्टतानुसन्धानोत्पादनद्वारा स्वस्वभावभङ्गप्रसङ्गरूपचाकित्य-व्यपोहनलक्षणं रक्षणं तन्मयी, हेतुद्वयेन वेद्यविक्षोभसर्वग्रासविशृङ्खलोल्लासायानुभूतिः स्वहृदयैकसंवेद्या विमर्शशक्तिः सैव मन्त्रः।

महार्थमञ्जरी, पृ १०२

१. पूर्णाहन्तानुसन्ध्यात्मा स्फूर्जन् मननधर्मतः।
संसारक्षयकृत्त्राणधर्मतो मन्त्र उच्यते ॥ सौभाग्यभास्कर, पृ० ५२
मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे ॥ ७५ ॥
मननत्राणधर्मित्वात्तेन मन्त्र इति स्मृताः ॥

नेत्रतन्त्र, ११ अधिकार

२. विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ॥ ३ ॥ शिवसूत्र, उन्मेष २।

विद्या पराद्वयप्रथा, शरीरं स्वरूपं, यस्य सः विद्याशरीरो भगवान् शब्दराशिः, तस्य या सत्ता अशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहंविमर्शनात्मा स्फुरत्ता सा मन्त्राणां रहस्यं उपनिषद्। विमर्शिनी, पृ० ५०

३. मननत्राणधर्माणां सर्वेषामेव वाच्यवाचकादिरूपवर्णभट्टारकात्मनां मन्त्राणाम्। परात्रिंशिका, पृ० २०९

दूर करने में समर्थ मन्त्र, माया से भी अधिक शक्ति-सम्पन्न है यह प्रतिपादित हो जाता है।[1]

ये[2] मन्त्र नित्य होते हैं; किन्तु इनकी नित्यता त्रिकालाबाधित नहीं है। क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ स्वस्वरूप से अतिरिक्त कोई देवता रह नहीं सकता और उस देवता का वाचकमन्त्र तब भी वर्तमान रहे यह सम्भव नहीं। देवता के सूक्ष्म शरीर ही मन्त्र हैं और ये देव शरीर अविद्या समकालिक है, अविद्या के निवृत्त होते ही ये भी निवृत्त हो जाते हैं।

[3]शिव-सूत्र-विमर्शिनी में चित्त को मन्त्र कहा गया है। वस्तुतः[4] चित् शक्ति, स्व पद से उतर कर सङ्कोच को अङ्गीकार कर के चित्त का रूप ग्रहण करती है। स्वातन्त्र्यात्मक स्वरूप की सङ्कोचदशा ही चित्त है और विकास अवस्था ही चिति।[5] चित्त जब बाह्य वेद्य समूह को उपसंहृत करके अन्तर्मुख

---

१. मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता ॥ ८ ॥　　　　परशुराम कल्पसूत्र
एतेन पूर्वोदितमाया अतर्क्या दुर्वारा, तथापि तन्निवारणे समर्थाः ततोऽयधिकशक्तिकाः, मन्त्रेषु लीलया ज्ञानावरकाविद्यानिवर्तकत्वशक्तिरस्ति इति प्रतिपादितम्।　　　　वही,

२. वर्णात्मकाः नित्याः शब्दाः ॥ ७ ॥　　　　वही,
वर्णात्मकाः वर्णसमुदायरूपाः शब्दा मन्त्राः नित्याःमूलाविद्यासमसत्ताकाः। न तु कालत्रयाबाध्यत्वं अज्ञाननिवृत्तौ स्वस्वरूपातिरिक्तदेवतायाः तद्वाचकमन्त्राणां च असत्वात्। न च आनुपूर्वीविशेषविशिष्टवेदादीनां नित्यत्वस्य एककल्पस्थायित्वस्य वर्तितत्वेन अस्यापि तादृशत्वेन कथं ततोऽपि चिरस्थायित्वरूपं नित्यत्वमिति वाच्यम्, मन्त्राणां देवतासूक्ष्मशरीरत्वेन देवताशरीरस्य अविद्यासमकालत्वात्।

सौभाग्यसुधोदय, प्रथम खण्ड

३. चित्तं मन्त्रः ॥ १ ॥　　　　तृतीय उन्मेष

४. चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम् ॥ ५ ॥
प्रत्यभिज्ञाहृदय

५. चेत्यते विमृश्यते परं तत्त्वमनेन इति चित्तम्; पूर्णस्फुरत्तासतत्वप्रासादप्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्; तदेव मन्त्र्यते गुप्तम् अन्तरभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपं अनेन इति कृत्वा मन्त्रः। अतएव च परस्फुरतात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मकत्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते। अथ च मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यं आराधकचित्तमेव मन्त्रः, न तु विचित्रवर्णसङ्घटनामात्रकम्।　　　　विमर्शिनी, पृ० ४७

होकर चिद्रूपता के साथ अभेद विमर्श सम्पादित करना है तो यही उसकी गुप्त मन्त्रणा है जिसके कारण उसे मन्त्र की अभिधा मिलती है। अतः मन्त्रदेवता के विमर्श में तत्पर तथा उस देवता के साथ जिसने सामरस्य प्राप्त कर लिया है ऐसा आराधक का चित्त ही मन्त्र है, केवल विचित्र वर्णसंघटना ही नहीं। इस प्रकार मन्त्र की अब तक त्रिधा व्याख्या हुई। मन्त्र का प्रथम पूर्णाहन्तात्मक स्वरूप उसका चरमरूप है। इसीलिए उसको महामन्त्र की संज्ञा दी गई है। यही[1] गुरु वक्त्र अथवा शैवी[2] मुख है। यह परमशिव की प्राप्ति का मुख्य द्वार है। शब्द की यह चरमावस्था है; इसके आगे शब्द नहीं रहता। इसीलिए कहा गया है—

"शब्दब्रह्मस्वरूपेयं शब्दातीतं तु जप्यते।"

द्वितीय रूप है आराधक का चित्तात्मक मन्त्र और तृतीय वर्णभट्टारकात्मक।

यह विश्व ग्राहक और ग्राह्य इन दो अंशों में विभक्त है। ग्राहक ही चित्शक्ति का अहमंश है और ग्राह्य इदमंश। प्रमातृता अहमंश में और प्रमेयता इदमंश में विद्यमान रहती है। चैतन्य (चित्, चिति) ही परम-प्रमाता है। और चित्त या जीव अवम प्रमाता। चैतन्य के संकोच की जहाँ काष्ठा प्राप्ति है वही जीव अथवा संकुचित–प्रमाता अथवा सकल–प्रमाता के नाम से कहा जाता है। इससे ऊर्ध्वदेश में प्रलयाकल–प्रमाताओं की अवस्थिति है। ये प्रमातृगण प्रलयदशा में माया में अवस्थित रहते हैं। इनसे परे विज्ञानाकल या विज्ञानकेवली प्रमाता है जो क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर अथवा विद्येश्वर और मन्त्रमहेश्वर के नाम से उल्लिखित हुए हैं। मन्त्र शुद्धविद्या तत्त्व में, मन्त्रेश्वर ईश्वरतत्त्व में और मन्त्रमहेश्वर सदाशिवतत्त्व में विद्यमान रहते हैं। छत्तीस तत्त्वमय विश्व के शुद्ध अध्वा और अशुद्ध अध्वात्मक दो विभाग हैं। माया से लेकर पृथ्वीतत्त्वपर्यन्त समग्र तत्त्व-समुदाय अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत है और शुद्धविद्या से लेकर शिव पर्यन्त शुद्ध अध्वा कहा

---

१. यावत्सा समनाशक्तिः तदूर्ध्वे चोन्मना‡ स्मृता।
नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवताः॥ १२७६॥
सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते।
तदतीतं वरारोहे परं तत्त्वमनामयम्॥ १२७७॥

स्वच्छन्द०, १० पटल

२. शैवीमुखमिहोच्यते। विज्ञानभैरवतन्त्र, श्लोक २०

‡ मनो मननमात्ररूपमपि तत्र न क्रमते; न सम्भवति अपितु मन्त्ररूपैव इयं दशा। स्व० उद्योत, पृ० ५५६

जाता है। सकल और प्रलयाकल नामक प्रमातृ-वर्ग अशुद्ध अध्वा में और विज्ञानकेवली शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत आते हैं। शुद्ध अध्वा में चित्प्राधान्य है और अशुद्ध अध्वा में चित्संकोच-प्राधान्य है।

[1]विज्ञानाकल नामक आत्मायें मायिक और कार्म मलों से मुक्त होती है; उनमें केवल आणव मल ही शेष रहता है। आणव मल के परिपाकगत तारतम्य के कारण ही उनमें उत्कर्षापकर्ष देखा जाता है। उत्कृष्ट विज्ञान-केवली आत्मा सदाशिवतत्त्व में निवास करते हैं। इन्हें ही मन्त्रमहेश्वर कहा जाता है। ईश्वरतत्त्व में मन्त्रेश्वरगण रहते हैं जो संख्या में आठ[2] हैं, भूतानु-ग्रह के कार्य में ये मुख्य कर्ता माने जाते हैं। ये मन्त्रों द्वारा प्राणियों पर अनु-ग्रह् कराते हैं। अतः मन्त्र जीवोद्धाररूप व्यापार में साधन का कार्य करते हैं। मन्त्र[3] नामक प्रमातृगण संख्या में सात करोड़ हैं। सम्पूर्ण रोगों को दूर करने के कारण इन्हें रुद्र भी कहा जाता है।[4] शिवशक्ति से युक्त, त्रिनेत्र तथा चन्द्रमौलि ये मन्त्रगण शुद्धविद्यातत्व से ही उत्पन्न होते हैं और प्राणियों के भोग-मोक्षरूप अनुग्रह में तत्पर रहते हैं।

[5]त्रिधा भिन्न विज्ञानाकलों को स्वच्छन्दतन्त्र में आत्मा, अन्तरात्मा,

---

१. उत्तीर्णमायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः।
अप्राप्तशिवधामानः त्रिधा विज्ञानकेवलाः॥

२. अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथा चैव शिवोत्तमः॥ ११६१॥
एकनेत्रैकरुद्रौ च त्रिनेत्रश्च प्रकीर्तितः।
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च ज्ञेया विद्येश्वराः क्रमात्॥ ११६२॥
स्वच्छन्द०, पटल १०

३. विद्यायाः पुनरीश्वरः।
ज्ञानशक्तिकराग्रेण स्वेच्छया परमेश्वरः॥ ५४॥
सप्तकोटीस्तु मन्त्राणां सृजेत् ज्ञानक्रियात्मिकाः।
ते च सादाख्यपर्यन्ते पार्थिवाद्ये तु सुव्रते॥ ५५॥
अनुग्रहं प्रकुर्वन्ति देहिनां भुवने स्थिताः।
शिवशक्तिसमाविष्टास्त्रिनेत्राश्चन्द्रमौलयः॥ ५६॥
वही, ११ पटल

४. रुद्राः सर्वरुग्द्राविणो मन्त्राः; स्वच्छन्दोद्योत, ११ पटल, पृ० ४१

५. भूतभावविनिर्मुक्तस्तत्त्वधर्मकलोज्झितः॥ ८७॥
मलधर्मैकयुक्तात्मा मायाधर्मतिरस्कृतः।
निरात्मा तु तदा ज्ञेयः············। स्वच्छन्द०, ११ पटल
यतो मायायाः पूर्वोक्तशक्तिरूपायाः, न तु तत्त्वात्मनः धर्मेण अख्यात्मात्मना

बाह्यात्मा, निरात्मा और परमात्मा का उल्लेख करते हुए निरात्मा के नाम से कहा गया है। स्थूल-सूक्ष्म आदि भूतों, बुद्धिधर्मरूप भावों, पुरुषतत्त्वात्मक धर्म तथा कलादि कञ्चुकों से रहित, अपूर्णमन्यतारूप आणव[1] मल से युक्त विज्ञानाकल प्रमाता ही निरात्मा है।

उपर्युक्त विवरण से मन्त्र एक ऐसे देवगण रूप में प्रतीत होते हैं जिनका उपयोग परमेश्वर अशुद्ध अध्वागत जीवों के उद्धार करने के लिए करते हैं।

[2]परात्रिंशिकाविवरण का मत विज्ञानाकलों के सम्बन्ध में कुछ भिन्न है। वहाँ कहा गया है कि माया से ऊर्ध्व और शुद्धविद्या से अधः महामाया विद्यमान है। इस महामायातत्त्व में ही विज्ञानाकलों की स्थिति है। इस प्रकार मन्त्रादि, विज्ञानाकलों से भिन्न होंगे।

[3]स्पन्दशास्त्र का मत है कि मन्त्र, चित्शक्ति का आधार लेकर सर्वज्ञत्व आदि बल से समन्वित होकर अनुग्रहरूप स्वाधिकार में प्रवृत्त होते हैं। उनका कोई आकार-विशेष नहीं होता। वे प्राणियों की इन्द्रियों के समान होते हैं। जब आराधक का चित्त आराध्य में लीन होता है तभी वे शिवात्मक, माया-कालुष्य से रहित मन्त्र भी वहीं चित्शक्ति में समाविष्ट हो जाते हैं।

रूपेण तिरस्कृतः सङ्कुचिताभासीकृतः। एवं भूतो निरात्मा, आत्मनः पूर्वोक्त-पाशशतवलितात् पुंस्त्वलक्षणात् स्वभावात् निष्क्रान्तः परमेशशास्त्रदृशा अभ्यस्त-मायापुंस्तत्त्वविवेकज्ञानो विज्ञानाकल इत्यर्थः। यदुक्तं श्री पूर्वे............ तत्रविज्ञान केवलः। मलैकयुक्तः... ....।१।२३।

स्वच्छन्दोद्योत, ११ पटल, पृ० ६२

१. मल अख्यात्यात्मकः आणवः, शुभादिवासनात्मकं कर्म, कलादिकं तु मायीयम्। स्वच्छन्दोद्योत, ११ पटल, पृ० ४५

२. तथाहि मायातत्त्वस्य उपरि विद्यातत्त्वाधश्च अवश्यं तत्त्वान्तरेण भवितव्यम्—यत्र विज्ञानाकलानां स्थितिः। यथोक्तम्—मायोर्ध्वे शुद्धविद्याधः सन्ति विज्ञानकेवलाः। परात्रिंशिका, पृ० ११७

३. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥ २६॥
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः॥ २७॥

स्पन्दकारिका, द्वि० निःष्यन्द।

[1]नेत्रतन्त्र में देवी ने परमेश्वर से मन्त्र के सम्बन्ध में निम्नांकित प्रश्न किये हैं, जिनके उत्तरों द्वारा मन्त्र-विज्ञान पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

१. मन्त्रों की आत्मा क्या है ? अर्थात् शम्भु, शक्ति और अणु इनमें से मन्त्रों का अधिष्ठाता कौन है ?

२. मन्त्रों का स्वरूप कैसा है ? वे आकारवान् हैं अथवा निराकार ?

३. कोई दृष्टान्त जिससे मन्त्रों की तुलना की जा सके ? लोक में निराकार कर्ता नहीं दिखाई देते; कुम्भकार के सदृश साकार भी कर्ता सब कुछ नहीं रच सकते।

४. मन्त्रों का सामर्थ्य ?

५. यदि वे भोग, मोक्ष और दोष प्रशमनरूप सामर्थ्य रखते हैं तो किस प्रकार ? निराकार व्योम के सदृश उनमें शक्तता सम्भव नहीं। आकृतिमान् व्यक्ति में आंशिकता और मलिनता होती है अतः अस्वतन्त्र होने पर उसकी शक्ति कैसी ?

६. मन्त्र किसके द्वारा प्रेरित होते हैं ?

प्रथम प्रश्न सतर्कता के साथ प्रस्तुत करते हुए देवी ने जिज्ञासा की है कि—

यदि मन्त्र शिवात्मक है तो उनकी व्यापकता और शून्यता में सन्देह नहीं। अतः क्रिया-करणहीन मन्त्रों में कर्तृता कैसे सिद्ध हो सकती है ? और अमूर्त होने के कारण उनमें कर्तृता का उपपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि बिना शरीर के कोई कार्य नहीं कर सकता[2]।

---

१. मन्त्राः किमात्मकाः देव किंस्वरूपाश्च कीदृशाः।
किं प्रभावाः कथं शक्ताः केन वा सम्प्रचोदिताः॥ १॥

एकविंश अधिकार

शिवात्मकास्तु चेद्देव व्यापकाः शून्यरूपिणः।
क्रियाकरणहीनत्वात् कथं तेषां हि कर्तृता॥ २॥

२. अमूर्तत्वात्कथं तेषां कर्तृत्वं चोपपद्यते।
विग्रहेण बिना कार्यं कः करोति वद प्रभो॥ ३॥
न दृष्टो ह्यशरीरस्य व्यापारः परमेश्वर।
शरीरिणो यतो बन्धः कथं बद्धस्य कर्तृता॥ ४॥
एवं शिवात्मका मन्त्राः कथं सिद्धयन्ति वस्तुतः॥ ५॥
अथ चेच्छक्तिरूपास्ते कस्य शक्तिस्तु कीदृशी।
शक्तिः किं कारणं देव कार्यं तस्याश्च कीदृशम्॥ ६॥
यावन्न शक्तिमान् कश्चित् कस्य शक्तिर्विधीयते।
स्वतन्त्रा न प्रसिध्येत्त विना सिद्धेन केनचित्॥ ७॥

यदि मन्त्रों को शरीरी माना जाय तो जो स्वयं मलिन अस्वतन्त्र और बंधा हुआ है वह दूसरे का क्या उद्धार करेगा ? कर्ता शक्तिहीन हो ऐसा उचित नहीं। इस प्रकार मन्त्र शिवात्मक है, यह कथन सिद्ध नहीं होता।

यदि शक्ति को मन्त्रों की आत्मा माना जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह शक्ति किसकी है और उसका स्वभाव कैसा है ? उसके सहकारी कारण और कार्य के स्वरूप का भी निर्देश करना होगा। जब तक शक्तिमान् न हो तो वह शक्ति किसकी कही जायगी ? मन्त्र केवल शक्तिरूप हैं शैव तेज का उनमें स्पर्श नहीं है, यह कहना भ्रम मात्र है। क्योंकि बिना प्रसिद्ध अग्नि आदि धर्मी के दाहकत्व आदि में नहीं देखे जाते, अतः स्वतन्त्र शक्ति सम्भव नहीं।

[1]यदि मन्त्रों को आणव—विग्रहाकार माना जाय तो वे भी जीव के सदृश मलिन होंगे और मलिन दूसरे को कैसे निर्मल बना सकता है। आगमों में कहा गया है तीनों—शिव, शक्ति और अणु तत्त्वों के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं, अतः इस विषय में युक्तियुक्त उपपत्ति अपेक्षित है। अनुभव में तो यही आया है कि मन्त्रों में आर्तिनिवारण, सिद्धि तथा मुक्ति आदि सामर्थ्य वर्तमान रहता है। वे सुरों तथा असुरों से अपराजेय हैं। वे सर्वप्रद, सर्वत्रगामी तथा शिवस्वरूप है।

भगवान् का उत्तर निम्नांकित है—

[2]बिना तीनों तत्त्वों के किसी वस्तु और मन्त्र की सम्भावना नहीं। तत्त्व से हीन होकर यह सम्पूर्ण जगत् भी अपनी सत्ता को सिद्ध नहीं कर सकता।

शक्तिरूपास्तु ते मन्त्राः केवलास्तु विपर्ययः ॥

नेत्रतन्त्र

१. अथ चेदावणा मन्त्रा विग्रहाकाररूपिणः ॥ ९ ॥
आत्मस्वरूपा विख्याता मलिना बलिनो नहि।
मलिनो मलिनस्यैव प्रक्षालयति कस्य कः ॥ १० ॥
न सिद्धा ह्याणवा मन्त्रा केवलाः परमेश्वर।
तत्त्वत्रयं विनास्तित्वं विरुद्धं वस्तुसन्ततेः ॥ ११ ॥
दृश्यन्ते बलिनो मन्त्राः अप्रधृष्याः सुरासुरैः।
सर्वानुग्राहकत्वेन सर्वदाः सर्वगाः शिवाः ॥

२. तत्त्वत्रयं विना वस्तु मन्त्रो वक्तुं न युज्यते ॥ १६ ॥
शिवात्मकाः शक्तिरूपा ज्ञेया मन्त्रास्तथाणवाः।
तत्त्वत्रयविभागेन वर्तन्ते ह्यमितौजसः ॥ १९ ॥

नेत्रतन्त्र

जो कुछ दिखाई देता है तीन तत्त्वों से निर्मित है। अतः मन्त्र शिव, शक्ति और अणु स्वरूप हैं; वे अमित सामर्थ्यशाली हैं।

परतत्त्व सर्वात्मक, शुद्ध, अनादि कारण, ध्रुव आदि अनेक गुण-गणों का आश्रय है। अग्नि की ऊष्मा के सदृश उस शिवतत्त्व की एक पराशक्ति है जो उससे सर्वथा अभिन्न है। शक्ति को सानन्द और शिव को निरानन्द कहा जाता है क्योंकि निःशेष रूप से महासामरस्य विश्रान्त्यात्मक आनन्द उसमें वर्तमान रहता है। शिव[1] एक है और उसकी शाश्वती शक्ति भी एक ही है; वह शिव से अभिन्न और अद्वैत रूप में अवस्थित रहती है। शिव की सर्व-शक्तिमत्ता ही उसकी शक्ति है जिसके द्वारा वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रहरूप पञ्चकृत्य करता रहता है।[2] आणव मल से संकुचित अणु रूप आत्मा अनन्त है। ये परमेश की परा इच्छा द्वारा अनुगृहीत हैं अर्थात् चित्प्रकाशस्वरूप हैं। इस प्रकार शिव, शक्ति और आत्मा ये तीन ही श्रेष्ठ तत्व हैं।[3] पूर्णकाम शिव अपनी उसी स्वातन्त्र्यात्मक शक्ति द्वारा चराचर जगत् की रचना करते हैं। शक्ति सबका उपादान कारण है।

इस प्रकार मन्त्र त्रितत्त्वज हैं। शिव, शक्ति और आत्मा इनके समुदित

---

१. एकः शिवस्तथैका तु शक्तिरेव हि शाश्वती।
अभिन्नाद्वैतसंस्थाना सैवैका समुदायिनी ॥ ३४ ॥
यत्तस्य सर्वशक्तित्वं सा शक्तिरुपचर्यते।
तया तु कुरुते सृष्टिं स्थितिं संहृतिमेव च ॥ ४२ ॥
करोति भगवान् सर्वं तिरोभावमनुग्रहम् ॥

नेत्रतन्त्र, २१ अधिकार

२. आत्माणवो ह्यनन्ताश्च मलेनैव निरोधिताः ॥ ४६ ॥
तेऽनुगृहीताः परया परमेशस्य चेच्छया ॥
शिवः शक्तिस्तथात्मा च त्रितत्त्वं चेत्यनुत्तमम् ॥ ४७ ॥

३. अकामतः सृजेत् सर्वं शक्त्या सर्वं चराचरम् ॥ ५६ ॥
एवमुक्तेन विधिना मन्त्राः सर्वे त्रितत्वजाः।
शिवाख्याः शक्तिरूपाश्च तथैवात्मस्वरूपकाः ॥ ५७ ॥
त्रिस्वभावा समुद्दिष्टाः सर्वत्र बलशालिन।
भवन्ति सर्वदाः सर्वे सर्वगाः सर्वरूपिणः ॥ ५८ ॥
एवमाद्याः स्मता मन्त्राः सर्वे ह्यमिततेजसः।
अधिकारं प्रकुर्वन्ति सर्वस्य जगतः प्रिये ॥ ७४ ॥

नेत्रतन्त्र, २१ अधिकार

रूप को ही मन्त्र की संज्ञा दी जाती है।[1] ये मन्त्र अमित तेजधारी, संसार से मोचन और शिवत्व की अभिव्यक्तिरूप अधिकार वाले होते हैं। मनन और त्राणधर्मा ये मन्त्र नित्य अनुग्रह करने वाले, शिव और शक्ति के प्रभाव से सम्पन्न भोग और मोक्ष के दाता हैं। सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता ही उनका शिवत्व है और सर्वकर्तृता शक्तितत्व।

प्रत्येक मन्त्र में वाच्य और वाचक नामक दो शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। वाच्यशक्ति मन्त्र की आत्मा अथवा सूक्ष्म शक्ति है। इसे ज्योतिर्मयी कहा जाता है। मन्त्र का वर्णानुपूर्वीमय स्थूल रूप ही मन्त्रमय वाचक देवता है। जिसके जागरण के बिना वाच्य का बोध नहीं हो सकता। शब्दब्रह्म ही परावाक् अथवा अखण्ड अद्वयशक्ति है और वाच्यवाचकात्मक मन्त्र उसी के एक संकुचित स्फुरणमात्र। शब्दब्रह्म-रूप अपर-ब्रह्म का अतिक्रमण करने पर शब्दातीत परब्रह्म की पदवी प्राप्त की जा सकती है।

मन्त्र और प्रार्थना में कहाँ तक साम्य और वैषम्य है इसका भी विवेचन आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि मन्त्र में वर्णों और पदों की आनुपूर्वी नियत रहती है और प्रार्थना में आनुपूर्वी वही रहे ऐसा नियम नहीं है। एक ही आशय भिन्न-भिन्न पदों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है और किया जाता है। प्रार्थना और मन्त्र में यह आधारभूत वैषम्य है। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि यदि प्रार्थना की आनुपूर्वी भी नियत हो तो वह मन्त्र बन सकती है या नहीं ? सत्य तो यह है कि समस्त वर्ण मन्त्रस्वरूप ही हैं और उनसे निर्मित पद मन्त्र नहीं होंगे यह नहीं कहा जा सकता। अतः नियत आनुपूर्वी से सम्पन्न प्रार्थना भी कालान्तर में मन्त्र पदवी प्राप्त कर सकती है इसमें कोई बाधा नहीं। कालान्तर का प्रयोग इसलिए समीचीन है क्योंकि उस प्रार्थना में नाना साधकों की प्रबुद्ध चेतना का आधान आवश्यक है। अथवा एक ही उत्कृष्ट कोटि के साधक की प्रबल तपश्चर्या से वह प्रार्थना जीवन्त हो गई हो तो दूसरों के लिए वह मन्त्र का कार्य करेगी इसमें संशय नहीं। पौराणिक स्तुतियों एवं सन्तों द्वारा रचित आधुनिक रचनाओं का जनता द्वारा निरन्तर पाठ किये जाने के मूल में यही तथ्य निहित है और सफलता प्रदान करने वाली अनुभूति भी इसकी साक्षी है।

स्तुतियों में अंशतः गुण-कीर्तन और अंशतः आशीः या कामनाओं का सन्निवेश हो सकता है और होता है। कुछ स्तोत्र ऐसे भी सम्भव हैं जिनमें केवल गुण-कीर्तन हो। इसीलिए कभी कभी स्तुति और प्रार्थना में अन्तर भी

---

१. द्रष्टव्य 'गारलैण्ड आफ लेटर्स', पृ० १४५

देखा जाता है। सन्तों की रचनाओं में भी ऐसा ही है। शास्त्रीय अथवा परम्पराप्राप्त मन्त्रों में भी ठीक ऐसी ही बात है।

मन्त्रात्मक शब्द में दो प्रकार के अर्थ देखे जाते हैं—एक तो देवता और दूसरा गुण-कीर्तन या आशीः। ये दोनों अर्थ वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। जहाँ तक गुणकीर्तन का सम्बन्ध है वह तो देवता के स्वरूप की ही ख्याति है। और आशीः या प्रार्थना उसके सामर्थ्य का बोधक है। इस प्रकार मन्त्र के दोनों वाच्यार्थों में कोई पार्थक्य नहीं है।

कुछ लोग मन्त्र का अर्थ 'आमन्त्रण' करने के पक्ष में हैं। आमन्त्रण से तात्पर्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का आमन्त्रण। मन्त्र प्रबुद्ध होने पर उपर्युक्त चतुर्वर्ग को निकट लाने में समर्थ होता है। मन्त्र-प्रबोधन अथवा मन्त्र-चैतन्य किये बिना मन्त्र का सामर्थ्य प्रकट नहीं होता। साधक की अपनी शक्ति सक्रिय होकर मन्त्रशक्ति को जप के द्वारा प्रबुद्ध करती है। जीवगत या जैवी शक्ति मन्त्रशक्ति अथवा दैवीशक्ति से मिलकर एकाकार हो जाती है और तब उसके द्वारा साधक की कामनाओं की पूर्ति होती है।

मन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं। उनकी नाना जातियाँ हैं। सबसे पहला भेद है मूलमन्त्र अथवा महामन्त्र। इतर मन्त्र इसी के गर्भ से जन्म लेते हैं; यही कारण है कि उसे उपर्युक्त आख्यायें प्रदान की गई हैं। अन्य भेद निम्नांकित हैं :—

१. पुं मन्त्र, स्त्री मन्त्र, नपुंसक मन्त्र।
२. सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरिमन्त्र।
३. पिण्ड, कर्तरी, बीज, मालामन्त्र।
४. सात्विक, राजस, तामस।
५. साबर, डामर।

पुं मन्त्र उन्हें कहते हैं जिनका देवता पुरुष होता है।[1] पुरुष देवता के मन्त्र सौर होते हैं, और स्त्री देवता से सम्बन्ध रखने वाले सौम्य। जिन मन्त्रों का देवता स्त्री होता है उन्हें 'विद्या' कहते हैं। सामान्यतया तो सभी को मन्त्र ही कहा जाता है।[2] कुछ सम्प्रदायविद्, जिन मन्त्रों के अन्त में 'हुँ'

---

१. सौराः पुं देवता मन्त्रास्ते च मन्त्राः प्रकीर्तिताः।
सौम्याः स्त्रीदेवतास्तद्वद्विद्यास्ते इति विश्रुताः॥
प्रयोगसार, शारदातिलक की राघवी टीका, पृ० ७९

२. पुंस्त्रीनपुंसकात्मानो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृताः॥ ५८॥
शारदातिलकतन्त्र, २ पटल

और 'फट्' रहता है, उन्हें पुं मन्त्र और दो 'ठः' इस वर्ण से जिस मन्त्र की समाप्ति होती है, उसे स्त्री मन्त्र कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'नमः' से समाप्त होने वाले मन्त्र नपुंसक हैं।[1] प्रयोगसार का मत इससे कुछ भिन्न है। वहाँ 'वषट्' और 'फट्' से समाप्त होने वाले मन्त्रों को पुरुष, 'वौषट्' और 'स्वाहा' से स्त्री तथा 'हुं' 'नमः' से समाप्त होने वालों को नपुंसक कहा गया है।

[2]सिद्धमन्त्र बान्धव, साध्य सेवक, सुसिद्ध पोषक और अरिमन्त्र घातक कहे गये हैं। कौन-सा मन्त्र सिद्ध है और कौन साध्य इसका निर्णय साधक के नाम के आदि वर्ण तथा राशि-चक्र के निर्दिष्ट वर्णों की अनुकूलता और प्रतिकूलता से जाना जाता है। इसका विस्तृत विवरण शारदातिलकतन्त्र के द्वितीय पटल और तन्त्रराजतन्त्र में उपलब्ध है।

[3]जिन मन्त्रों में केवल एक ही अक्षर होता है उन्हें पिण्ड मन्त्र कहते हैं, दो अक्षरों वाले कर्तरी कहलाते हैं। तीन वर्णों से लेकर नौ वर्णों तक बीज मन्त्र; और दश से बीस वर्ण पर्यन्त मन्त्र के ही नाम से कहे जाते हैं। इससे ऊपर संख्या वालों को मालामन्त्र कहते हैं। ये अपरिमित है, इनके भेदों की गणना नहीं की जा सकती।

साबरमन्त्रों की चर्चा प्रायः की जाती है। सुप्रसिद्ध तन्त्रों में 'योगिनी जालशम्बरम्' नामक एक ग्रन्थ था। सम्भव है शम्बर का ही अपभ्रंश रूप साबर हो। साबरमन्त्रों का शास्त्रीय रूप क्या था, नहीं कहा जा सकता।

पुं मन्त्रा हुम्फडन्ताः स्युर्द्विठान्ताश्च स्त्रियो मताः।
नपुंसका नमोऽन्ताः स्युरित्युक्ता मनवस्त्रिधा ॥ ५९ ॥

शारदातिलकतन्त्र, २ पटल

१. वषट्फडन्ताः पुंलिङ्गा वौषट्स्वाहान्तगाः स्त्रियः।
नपुंसका हुंनमोऽन्ता इति मन्त्रास्त्रिधा स्मृताः ॥

राघवभट्टीया, पृ० ८०

२. सिद्धार्णा बान्धवाः प्रोक्ताः साध्यास्ते सेवकाः स्मृताः।
सुसिद्धाः पोषका ज्ञेयाः शत्रवो घातका मताः ॥ १३१ ॥

शारदा०, द्वितीय पटल

३. तदुक्तं नित्यातन्त्रे—
मन्त्रा एकाक्षराः पिण्डाः कर्तर्यो द्व्यक्षरा मताः।
वर्णत्रयं समारभ्य नववर्णावधि बीजकाः ॥
ततो दशार्णमारभ्य यावद्विंशतिमन्त्रकाः।
तत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते ॥

सौभाग्यभास्कर, पृ० ९

विख्यात सन्त तुलसीदास ने रामचरितमानस में इनके उमा-महेश्वर द्वारा रचे जाने का उल्लेख किया है और साथ ही यह भी कहा है कि यद्यपि इन मन्त्रों के अक्षर बेमेल और अर्थहीन होते हैं फिर भी इनका प्रभाव देखा जाता है।[1]

डामरमन्त्र तत्काल सिद्धि प्रदान करते हैं। किन्तु उनका फल स्थायी नहीं होता। ये मन्त्र केवल चमत्कार दिखाने के काम आते हैं।

इसके अतिरिक्त मन्त्रों के निम्नांकित अन्य भेद भी होते हैं—

१. छिन्न[2]	१३. तिरस्कृत	२५. निस्त्रिंशक
२. रुद्ध	१४. भेदित	२६. निर्वीज
३. शक्तिहीन	१५. सुषुप्त	२७. सिद्धिहीन
४. पराङ्मुख	१६. मदोन्मत्त	२८. मन्द
५. उदीरित	१७. मूर्च्छित	२९. कूट
६. बधिर	१८. हृतवीर्य	३०. निरंश
७. नेत्रहीन	१९. हीन	३१. सत्त्वहीन
८. कीलित	२०. प्रध्वस्त	३२. केकर
९. स्तम्भित	२१. बालक	३३. बीजहीन
१०. दग्ध	२२. कुमार	३४. धूमित
११. भीत	२३. युवा	३५. आलिङ्गित
१२. मलिन	२४. प्रौढ़	३६. मोहित
		३७. क्षुधातुर

---

१. कलि विलोकि जग हित हरगिरिजा। साबर मन्त्र जाल जिन सिरजा।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रकट प्रभाव महेस प्रतापू॥
रामचरितमानस

२. छिन्नो रुद्धः शक्तिहीनः पराङ्मुख उदीरितः॥ ६४॥
बधिरो नेत्रहीनश्च कीलितः स्तम्भितस्तथा।
दग्धस्त्रस्तश्च भीतश्च मलिनश्च तिरस्कृतः॥ ६५॥
भेदितश्च सुषुप्तश्च मदोन्मत्तश्च मूर्च्छितः।
हृतवीर्यश्च हीनश्च प्रध्वस्तो बालकः पुनः॥ ६६॥
कुमारस्तु युवा प्रौढ़ो वृद्धो निस्त्रिंशकस्तथा।
निर्वीजः सिद्धिहीनश्च मन्दः कूटस्तथा पुनः॥ ६७॥
निरंशः सत्त्वहीनश्च केकरो बीजहीनकः।
धूमितालिङ्गितौ स्यातां मोहितश्च क्षुधातुरः॥ ॥ ६८॥
शारदातिलक, २ पटल

३८. [1]अतिदृप्त	४५. स्थानभ्रष्ट	५२. दारित
३९. अङ्गहीन	४६. विकल	५३. मूल
४०. अतिक्रुद्ध	४७. अतिवृद्ध	५४. नग्न
४१. समीरित	४८. निःस्नेह	५५. भुजङ्गम
४२. अतिक्रूर	४९. पीड़ित	५६. शून्य
४३. सव्रीड	५०. मीलित	५७. हत
४४. शान्तमानस	५१. विपक्षस्थ	

इनके सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विवरण शारदातिलकतन्त्र के द्वितीय पटल में देखना चाहिए। दूषित मन्त्रों के शोधन की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है।[2] किन्तु यह शोधन काम्य कर्मों में ही अपरिहार्य माना गया है, मुक्त्यर्थ इनमें संस्कार की आवश्यकता नहीं समझी जाती। मन्त्रों के दश प्रकार के संस्कार प्रसिद्ध हैं—

१. जनन	४. बोधन[3]	७. आप्यायन
२. जीवन	५. अभिषेक	८. तर्पण
३. ताड़न	६. विमलीकरण	९. दीपन
		१०. गुप्ति

जनन—मातृकावर्णों के मध्य से मन्त्र का उद्धार ही जनन है। इसमें शुभ पीठ आदि में कुङ्कुम अथवा रोचना द्वारा मातृका-कमल की रचना

---

१. अतिदृप्तोऽङ्गहीनश्च अतिक्रुद्धः समीरितः।
अतिक्रूरश्च सव्रीडः शान्तमानस एव च ॥ ६९ ॥
स्थानभ्रष्टश्च विकलः सोऽतिवृद्धः प्रकीर्तितः।
निस्नेहः पीडितश्चापि······························ ॥

शारदातिलक, २ पटल।

आदिशब्दात् मीलितविपक्षस्थदारितमूकनग्नभुजङ्गमशून्यहतादयो दोषा ज्ञेयाः। शा० ति० टीका, पृ० ९५, २ पटल।

२. काम्यकर्मस्वित्यनेन मुक्त्यर्थं मन्त्रजपे एतद्दोषाभावाद्दशसंस्कारा अपि न कर्तव्या।

शारदातिलक टीका, पृ० ९४

३. मन्त्राणां दश संस्काराः कथ्यन्ते सिद्धिदायिनः।
जननं जीवनं पश्चात् ताडनं बोधनं तथा ॥ ११२ ॥
अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः।
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः ॥ ११३ ॥

वही

करके देय मन्त्र के एक-एक अक्षर का मातृकाब्ज से उद्धार किया जाता है।

जीवन—मन्त्र वर्णों को प्रणव से अन्तरित करके जप करना ही जीवन है। इस प्रकार मन्त्र की सौ आवृत्ति करनी चाहिए। पिङ्गला मत में इसे जीवन न कह कर 'बीजन' की संज्ञा दी गई है। प्रणव ही बीज है अतः उसके द्वारा अन्तरिक्ष मन्त्र बीजित कहा जाता है।

ताड़न—मन्त्र वर्णों को भूर्जपत्र पर लिख कर चन्दन के जल से वायु बीज (यं) का उच्चारण करते हुए सौ बार ताड़न करना चाहिए।

बोधन—लिखित मन्त्र को करवीर (कनेर) के पुष्पों द्वारा वह्निबीज का उच्चारण करते हुए ताड़न करना ही बोधन है।

अभिषेक—भूर्जपत्र पर लिखे हुए मन्त्र को एक सौ आठ बार पिप्पल के प्रवाल से अभिषिक्त करना ही अभिषेक है। मत-विशेष में अभिषेक की संख्या मन्त्रों के वर्णों के अनुसार समझनी चाहिए।

विमलीकरण—ज्योतिर्मन्त्र (प्रणव) के द्वारा मन में चिन्तित मन्त्र के सहज, आगन्तुक और मायीय मलों को जलाना विमलीकरण है।

आप्यायन—कुशोदक द्वारा एक सौ आठ बार मन्त्र का प्रोक्षण आप्यायन कहा जाता है।

तर्पण—देय मन्त्र का जल द्वारा एक सौ आठ बार तर्पण ही तर्पण है।

दीपन—तार, माया और रमा बीज से मन्त्र को युक्त करना दीपन कहलाता है।

गोपन—जपे जाने वाले मन्त्र को अप्रकाशित करना ही गोपन है।

मन्त्र ऋणी और धनी भी होते हैं। रुद्रयामल की प्रक्रियानुसार वर्ण-चक्र से उनके ऋणी अथवा धनी होने का निर्णय किया जाता है। ऋणीमन्त्र ही उत्तम होते हैं; उनसे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

विगत पृष्ठों में मातृकाओं एवं मन्त्र सम्बन्धी जो व्यापक चर्चा की गई है उससे अचिन्त्य प्रभाव मन्त्रों की आकृति-प्रकृति तथा रहस्य हृदयङ्गम हो सकेगा, ऐसी आशा है।

उपसंहार

मन्त्र सम्पूर्ण तान्त्रिक-साधना का मूलाधार है। न्यास, अन्तर्याग, बहिर्याग आदि विभिन्न क्रिया-कलाप वहाँ मन्त्रचेतना को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होते हैं। मन्त्रों की यह परम्परा प्राग्वैदिक है अथवा वेदोत्तरकालिक इसकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है; किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि तन्त्र-सम्मत मन्त्रविज्ञान का वैदिक मन्त्रविद्या की मूल-प्रकृति के साथ पूर्ण साम्य है।

वेदवादियों में प्रतीक विज्ञानात्मक द्रव्य यज्ञ के अतिरिक्त—जिसका उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में एवं विशदीकरण आगे चलकर जैमिनि द्वारा हुआ था—ब्रह्मयज्ञ[1] (जपयज्ञ) को मान्यता देनेवाला एक पुरातन सम्प्रदाय विद्यमान था। इस मत में मन्त्रों का विनियोग विभिन्न प्रायश्चितों तथा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए होता था। शौनक ने इसी सम्प्रदाय का ऋग्विधान[2] में पोषण किया है। तान्त्रिकमन्त्रों का भी यही उद्देश्य है, यह सर्वविदित है। मन्त्र एवं वर्णगत देवताओं का जैसा तान्त्रिक विवरण मिलता है वेदों में उसका अंकुर स्फुट रूप में सुलभ है। ऋग्वेद में मन्त्रमय देवशक्तियाँ, अकार, उकार और मकार के देवता, भुवन, वेद तथा जन एवं तीनों वर्णों के समाहृत रूप ओङ्कार की परमाक्षरता, त्रिकालातीतत्व, वेदसारता, अमृतत्व और जगत्कारणता का निर्देश किया गया है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

ऋ० १, मं० १६४, सू० ३९

'परमे व्योमन्—निरतिशय अधिष्ठान, अक्षरे—प्रणवरूप अविनाशी शब्दतत्त्व में, ऋचः—सम्पूर्ण ऋगुपलक्षित मन्त्र विद्यमान हैं तथा, यस्मिन्—जिन ऋचाओं अथवा प्रणव में, विश्वे देवा अधिनिषेदुः—सभी देव अवस्थित हैं, यः तत् न वेद—जो प्रणवाक्षर एवं उन मन्त्रों के उपर्युक्त तत्त्व को नहीं जानता, किमृचा करिष्यति—उसे ऋचाओं से क्या सिद्धि मिलेगी, ये इत् तत्विदुः—और जो लोग इस तत्व को जानते हैं, वे, इमे समासते—वे इन देवों के साथ तादात्म्य लाभ करते है।

यद्यपि इस मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं फिर भी स्कन्द-स्वामी, दुर्गाचार्य, वेङ्कटमाधव, शाकपूणि, यास्क तथा ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थ उपर्युक्त अर्थ की ही पुष्टि करते हैं[3]।

---

१. 'यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः।
तै० आ० १।१०।६

२. स्तेयं कृत्वा द्विजो मोहात् त्रिरात्रोपोषितः शुचिः।
सूक्तं जप्त्वास्यवामीयं क्षिप्रं मुच्येत किल्विषात् ॥
ऋग्विधान १।२६

उद्यन्नद्येति मन्त्रोऽयं सौरः पापप्रणाशनः।
रोगघ्नश्च विषघ्नश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ॥ वही।

३. वेङ्कटमाधव—अथादित्यस्य यद्वाचकमक्षरं तत्स्तौति—यस्मादक्षरण-स्वभावात् सर्वा ऋचो विनिर्गताः यस्मिश्च सर्व एव। देवा ऋक्षु दृश्यमाना

परम व्योम, साक्षी चेतन अथवा ब्रह्म का निवास स्थान है, ऐसी वैदिक मान्यता है। 'योस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' (नासदीय सूक्त) से यह बात

अन्ये च वर्तन्ते यः तदक्षरं न वेत्ति सः किं ऋचा करिष्यति ये एव तद्विदुः ते इमे नक्षत्ररूपेण दिवि आसते ओमिति प्रतिपद्यन्ते—'एतद्वै यजुः त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरम्। तदेतत् ऋचाभ्युक्तम्—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।'—इति ब्राह्मणम्। (ऋगर्थदीपिका)।

स्कन्दस्वामी–एतदक्षरं, परमं चेदं व्योम स्थानम्। अग्न्यादिनानादेवतानां मन्त्राणां सर्वस्याश्च त्रय्याः तदध्ययनस्य चोङ्कारपूर्वकत्वात् अथवा परमेतज्जगतः। कथम् ? विमोतत्वात् (विविधं जगतामोतत्वात्)। इदं प्रणवाख्यं ब्रह्म जगतः कारणमित्युपनिषत्सु वर्णितम्। तस्य किलोमित्येतस्य ब्रह्मणः प्रथमायां मात्रायां पृथिव्यग्निर्ऋग्वेदः पृथिवीनिवासिनो जना इत्येतत्। द्वितीयायां मात्रायां अन्तरिक्षं वायुर्यजूंषि अन्तरिक्षनिवासिनो जना इत्येतत्। तृतीयायां द्यौरादित्यः सामानि द्युनिवासिनो जना इत्येतत्। तेनेदं जगतः परं व्योम अथवा परमं व्योम—'मृत्योर्बिभ्यतां देवानां—तदेतत् परस्मिन् पादे वक्ष्यते, तस्मिन्नेवं रूपे परमे व्योमन् लुक् सप्तम्याः'। देवा वै मृत्योर्बिभ्यतः त्रयीं विद्यां प्राविशन् ते छन्दोभिराच्छादयन्—तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। ते नु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यं उदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते न वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्। यदा वा ऋचमाप्नोति ओमित्येवं स्वरति एवं सामैवं यजुरेषः उ स्वरो यदेतदक्षरं एतदमृतमभयं तत् प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्।" छा० १।४।४।

तदेतदिहोच्यते यस्मिन् देवाः सर्वे मृत्योर्बिभ्यतोधिनिषण्णाः प्रविष्टा इत्यर्थः। अथवा ऋगादीनामध्ययनमोङ्कारपूर्वकत्वाद् ऋगादयः सर्वे मन्त्राः अत्र निषण्णाः। तेन च तेषां या देवताः ता अपि तद्द्वारेणात्र निषण्णाः इत्येतदभिप्रेत्यैतदुच्यते—देवरूपमक्षरं—सः, ताद्रूप्याप्राप्तेः। इच्छब्दस्तु शब्दस्यार्थे, ये तु, य एतदेवं विद्वान् अक्षरं प्रणौति एतदेवाक्षरं स्वरममृतमभयं प्रविशति। तत्प्रविश्य 'यदमृतास्तदमृतो भवति' छा० उ० १।४।५—यदमृता देवास्तदमृतो भवति इति पूर्वस्येतिहासस्योपसंहारश्श्रुतेस्तास्ताद्भाव्यापत्त्या प्रणवविग्रहात्मानमनुप्रविश्य ब्रह्मणः साम्यमापन्ना इमे समासते। समित्येकीभावे, तेन सहैकीभूता आसते।

दुर्गाचार्य—विविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम। तस्मिन् तिसृषु मात्रासु अकारोकारमकारलक्षणासु उपशान्तासु यदवशिष्यते तदक्षरं परमं व्योम। अपरमाकाशमपेक्ष्य तत् परं व्योम। शब्दसामान्यमभिव्यक्तमित्यभिप्रायः। ओङ्कारमृते नह्यर्चयन्ति तस्याः। ऋगादिषु ये देवा ते मन्त्रद्वारेणाक्षरे निषण्णाः तस्य शब्दकारणत्वात्। अनया विभूत्याक्षरम् ऋगादिभिर्मन्त्रैः यस्त-

स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त शब्दतत्त्व का भी यह बोधक है जो वैदिक वाक् तत्त्व से भिन्न नहीं है। "इस परमव्योम रूप शब्द अथवा वाक्तत्त्व को आधार बनाकर वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवगण तथा कर्मदेव, आजानदेव, अभिमानीदेवता, नित्य देवता, जीवन धारण करते हैं; समस्त पशु, मनुष्य तथा गन्धर्व आदि इसी के द्वारा प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण भुवन भी इसी में समर्पित है। यह वाक् इन्द्रपत्नी है। अक्षर स्वरूप वाग्देवी का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव हुआ। यह वेदों की माता तथा अमृत की नाभि है[1]।" तन्त्रों का शक्तितत्त्व यही है और इस पर अधिष्ठित ब्रह्म, शिवतत्त्व। 'यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'

न्नाक्षरात्मना पश्यति। ते हि तत्परिज्ञानात् तादृभाव्यमुपगताः प्रणवविग्रह-मात्मानमनुप्रविश्य समीकृता निर्वान्ति शान्तार्चिष इवानलाः इति।

आचार्य शाकपूणि—अपरे प्रकारान्तरेण प्रतिपादयन्ति—ऋचोक्षरे ऋगु-पलक्षितसर्ववेदसम्बन्धिन्यक्षरे प्रणवरूप ओङ्कार अविनाशिनि सर्ववेदेषु व्याप्तं वा प्रणवस्य सर्ववेदसारत्वं ब्राह्मणे श्रूयते—"तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्ते-भ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदो-मिति—(ऐतरेय ब्रा० ५।३२) परमे निरतिशये नहि प्रणवादधिकं किञ्चिन्मन्त्र-जातमस्ति त्रिकालातीतस्य ब्रह्मणः प्रतिपादकत्वात्।" यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव (वा० उ० १) "ओमिति ब्रह्म"–(तै० आ० ७।४) इत्यादि श्रुतेः। वेदानां प्रणवस्य स्थानप्रतिनिधिभावः सम्बन्धः। 'यः ऋचोऽधीते' इत्याद्युपक्रम्य यः प्रणवमधीते स सर्वमधीत ओमिति प्रतिपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत् परममक्षरम् (तै० आ० २।२।४) यस्मिन् विश्वे सर्वे देवा अधिनिषेदुः। प्रणवस्य सर्वमन्त्रात्मकत्वात्, मन्त्रेषु सर्वदेवतानां निवासात्—सर्वदेवनिवासत्वम्। ब्रह्माधिष्ठानत्वाद्वा ब्रह्मणि सर्वदेवानां निवासात् शिष्टम-विशिष्टम्—अस्यवामीय सूक्त में सायण द्वारा उद्धृत।

ऋचां अक्षरं परमे व्यवने। यस्मिन् देवाः अधिनिषण्णाः सर्वे यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति। य इत्तद्विदुः। त इमे समासते इति विदुषः उपदि-शति। कतमत्तदेतदक्षरं ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नाना दैवतेषु च मन्त्रेषु।

यास्काचार्य (निरुक्त० १३ अ०)

१. वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वा पशवो मनुष्याः। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी। वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः।

तै० ब्रा० २।८।८।५।

ऋग्वेद (१० मं०, सू० ११४, मं० ८) के इस मन्त्र में शक्ति और शक्तिमान् का स्पष्ट निर्देश मिलता है।

"प्रत्यग्रूपा पराकाशा"—(ललितासहस्रनाम २०० श्लोक) 'पराकाशो ब्रह्माभिव्यक्तिस्थानं तद्रूपा' (सौभाग्यभास्कर, पृ० १५७) आदि अनेक तान्त्रिक[1] प्रकरणों में परमव्योम की शक्ति रूप में प्रसिद्धि देखी जाती है। व्याकरण दर्शन तथा तन्त्र में जिस पश्यन्ती वाणी का महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है वह उनकी अपनी उपज नहीं है। शतपथब्राह्मण में यह पश्यन्ती[2] वाक् अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ पहले से ही विद्यमान है। पूर्वमीमांसादर्शन, जो कि वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिए प्रसिद्ध है, वर्णवाद को मान्यता देता है; और यह वर्णनित्यतावादी परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है, ऐसा जैमिनि के औत्पत्तिक १।१।५ सूत्रीय साबरभाष्यगत 'गकारौकार-विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" से पूर्णतया स्पष्ट है। तन्त्र जहाँ वर्णों को विशेष महत्व देता है वहीं वह उनके बाह्य अस्थिमात्र और आन्तर-प्राणीय रूप को भी स्पष्ट करने में पीछे नहीं है। वैदिकसाहित्य के—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥

प्रश्नोपनिषद्

'ओङ्कार की अकार, उकार और मकार ये तीनों मात्रायें संयुक्त अथवा पृथक्-पृथक् रूप में मृत्युमती हैं। हाँ, यदि उन्हें बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम क्रियाओं में अच्छी तरह प्रयुक्त किया जाय तो जानकार व्यक्ति विचलित नहीं होता।'

इस मन्त्र में भी तान्त्रिक मान्यता की पुष्टि की गयी है। मीमांसक वर्णों तक ही सीमित रहे किन्तु तान्त्रिकों ने वर्णों और सम्पूर्ण आहत नादों के अन्तराल में वर्तमान अखण्ड शब्दतत्व का भी निर्देश किया जो वैदिक मत का ही संवादी है।

---

१. यत्क्रियात्मशशिभानुमध्यगे खे चरत्यनलदृष्टिधाम्नि यः।
यत्तदूर्ध्वं शिखरं परं नभः तत्र दर्शय शिवं त्वमम्बिके॥

चिद्गगनच०, द्वितीय विमर्श ३२

२. सैषा त्रय्येव विद्या तपति। तद्धैतदविद्वांस आहुः—त्रयी वा एषा विद्या तपतीति। वाग्हैव तत्पश्यन्ती वदति।

शतपथब्रा० १०।५।४

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

ऋ० ८।२।२३

कोई तो भूधर आदि विवर्त रूप में स्थित वाणी[1] को देखकर भी नहीं देखते—"मैं इन विवर्तों में वाणी का ही साक्षात्कार कर रहा हूँ"—ऐसा अनुसन्धान नहीं कर पाते । भ्रान्तिवश रज्जु में सर्प की तरह वस्तुतः शब्द का दर्शन करके भी फलतः उसे नहीं देखते । तथा कोई अन्य, पूर्व-पूर्व ध्वनियों से प्रभावित अव्यक्त ज्ञानजन्य वासना से सम्पन्न उत्तरोत्तर ध्वनियों द्वारा क्रमशः स्फुट, पद-वाक्य-महावाक्य आदि को अखण्ड रूप से सुन कर भी व्यञ्जक ध्वनियों द्वारा आरोपित अनिवार्य भेदक्रम से भ्रान्त होकर वर्णों में ही उलझे रहते हैं । परिणामस्वरूप वे अखण्ड वाणी को सुनकर भी नहीं सुनते ।

मन्त्र में—देखकर न देखना—इस कथन से दृश्यमान पदार्थों की वाग्विषयता सिद्ध होती है । वस्तुतः वाणी, वर्णविपर्यास से अतीत अखण्ड वाक् तत्त्वात्मक है । समस्त वाग्व्यवहार में वह अनुस्यूत रहती है । जो लोग इस बात को नहीं जानते वे सुनकर भी नहीं सुनते । किन्तु जानकार व्यक्ति के समक्ष वाणी अपना अखण्डरूप सर्वतोभावेन व्यक्त कर देती है । वाणी का वर्ण रूप शरीर तो सबके लिए विवृत ही है । सुनकर भी न सुनने का एक तात्पर्य और हो सकता है—मनन के अभाव से सुनना न सुनना ही है और निदिध्यासन से रहित दर्शन भी अदर्शन ही माना जाता है । निदिध्यासन परायण के समक्ष ही वाणी अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करती है । इस व्याख्या द्वारा भी वर्णातिरिक्त वाक्तत्त्व परिलक्षित होता है[2] ।

---

१. तत्र पश्यन्नपि वाचमिति वाचश्चक्षुर्विषयत्वोपदर्शनं परिदृश्यमानस्य पदार्थस्य वाग्विषयत्वे सति युज्यते । शृण्वन्नपि न शृणोति इति श्रवणाश्रवणे च सविपर्यासनिर्विपर्यासवागभिप्राये उपपद्येते । अन्यस्मै तनुं विवृणुत इत्येतदपि वर्णविपर्यासातीतवाक्तत्वाभिप्रायमेव सम्भवति, वर्णरूपायास्तन्वाः सर्वान् प्रति विवृतत्वात् ।

भरतमिश्र : स्फोटसिद्धि

२. अन्यस्मै तु निदिध्यासते स्वां तनुं विवृणुत इत्याश्रीयमाणे श्रवणमनननिदिध्यासनान्यपि वर्णातिरिक्तवाग्विषयाणीति अस्मद्व्याख्यानादविशेष इति गतमेतत् ।

—स्फोटसिद्धि, आगम परिच्छेद

इस प्रकार संक्षेप में वैदिक और तान्त्रिक मन्त्र और वाक्तत्त्व सम्बन्धी विचारों में साम्य का निर्देश किया गया।

वर्ण अथवा वर्णसङ्घ का मन्त्रत्व, उसमें निगूढ़ चेतना को उद्बुद्ध करने में ही है। जप और नाद या देवता के सतत अनुसन्धान से ही यह कार्य सम्भव हो पाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—'जिस प्रकार निरन्तर रँहट के वाहन की क्रिया विचित्र यन्त्र के रूप में उदित होती है वैसे ही मन्त्रोदय विषयक एकानुसन्धान द्वारा, तादात्म्यापन्न होने के कारण मन्त्र-देवता भी प्रयत्नान्तर के बिना मङ्गलकारी बन जाता है—

यथारघट्टचक्राग्रघटीयन्त्रौघवाहनम् ॥ ३ ॥
एकानुसन्धियत्नेन चित्रं यन्त्रोदयं भजेत् ।
एकानुसन्धानबलाज्जाते मन्त्रोदयेऽनिशम् ॥ ४ ॥
तन्मन्त्रदेवतायत्नात्तादात्म्येन प्रसीदति ।

तन्त्रालोक, आ० ७

परिशिष्ट १

रहस्यमयी तान्त्रिक स्तुतियों का संग्रह

प्रकृतिस्तोत्रम्

प्रपञ्चसारतन्त्र एकादश पटल

प्रसीद प्रपञ्चस्वरूपे प्रधाने प्रकृत्यात्मिके प्राणिनां प्राणसंज्ञे ।
प्रणोतुं प्रभो प्रारभे प्राञ्जलिस्त्वां प्रकृत्याप्रतर्क्ये प्रकामप्रवृत्ते ॥ ४९ ॥

स्तुतिर्वाक्यबद्धा पदात्मैव वाक्यं पदं त्वक्षरात्माक्षरं त्वं महेशि ।
ध्रुवं त्वां त्वमेवाक्षरैस्त्वन्मयैस्तोष्यसि त्वन्मयी वाक्प्रवृत्तिर्यतः स्यात् ॥

अजाधोक्षजत्रीक्षणाश्चापि रूपं परं नाभिजानन्ति मायामयं ते ।
स्तुवन्तीशि तां त्वाममी स्थूलरूपां तदेतावदम्बेह युक्तं ममापि ॥ ५१ ॥

नमस्ते समस्तेशि बिन्दुस्वरूपे नमस्ते रवत्वेन तत्त्वाभिधाने ।
नमस्ते महत्त्वं प्रपन्ने प्रधाने नमस्ते त्वहङ्कारतत्त्वस्वरूपे ॥ ५२ ॥

नमः शब्दरूपे नमो व्योमरूपे नमः स्पर्शरूपे नमो वायुरूपे ।
नमो रूपतेजोरसाम्भः स्वरूपे नमस्तेस्तु गन्धात्मिके भूस्वरूपे ॥ ५३ ॥

नमः श्रोत्रचर्माक्षिजिह्वास्थनासास्यवाक्पाणिपत्पायुसोपस्थरूपे ।
मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तस्वरूपे विरूपे नमस्ते विभो विश्वरूपे ॥ ५४ ॥

रवित्वेन भूत्वान्तरात्मा दधासि प्रजाश्चन्द्रमस्त्वेन पुष्णासि भूयः ।
दहस्यग्निमूर्तिर्वहन्त्याहुतिं वा महादेवि तेजस्त्रयं त्वत्त एव ॥ ५५ ॥

चतुर्वक्त्रयुक्ता लसद्धंसवाहा रजसंश्रिता ब्रह्मसंज्ञां दधाना ।
जगत्सृष्टिकार्या जगन्मातृभूते परं त्वत्पदं ध्यायसीशि त्वमेव ॥ ५६ ॥

विराजत्किरीटा लसच्चक्रशङ्खा वहन्ती च नारायणाख्यां जगत्सु ।
गुणं सत्त्वमास्थाय विश्वस्थितिं यः करोतीह सोंऽशोऽपि देवि त्वमेव ॥

जटाबद्धचन्द्राहिगङ्गा त्रिनेत्रा जगत्संहरन्ती च कल्पावसाने ।
तमः संश्रिता रुद्रसंज्ञां दधाना वहन्ती परश्वक्षमाले विभासि ॥ ५८ ॥

सचिन्ताक्षमाला सुधाकुम्भलेखाधरा त्रीक्षणार्द्धेन्दुराजत्कपर्दा ।
सुशुक्लांशुकाकल्पदेहा सरस्वत्यपि त्वन्मयैवेशि वाचामधीशा ।। ५९ ।।

लसच्छङ्खचक्रा चलत्खड्गभीमा नदत्सिंहवाहा ज्वलत्तुङ्गमौलिः ।
द्रवद्दैत्यवर्गा स्तुवत्सिद्धसङ्घा त्वमेवेशि दुर्गापि सर्गादिहीने ।। ६० ।।

पुरारातिदेहार्धभागा भवानी गिरीन्द्रात्मजात्वेन यैषा विभाति ।
महायोगिवन्द्या महेशा सुनाथा महेश्यम्बिका तत्त्वतस्त्वन्मयैव ।। ६१ ।।

लसत्कौस्तुभोद्भासिते व्योमनीले वसन्तीं च वक्षःस्थले कैटभारेः ।
जगद्वल्लभां सर्वलोकैकनाथां श्रियं तामहं देव्यहं त्वामवैमि ।। ६२ ।।

अजाद्रीड्गुहाब्जाक्षपोत्रीन्द्रकाणाम् महाभैरवस्यापि चिह्नं वहन्त्यः ।
विभो मातरः सप्त तद्रूपरूपाः स्फुरन्त्यस्त्वदंशा महादेवि ताश्च ।। ६३ ।।

समुद्यद्दिवाकृत्सहस्राभभासा सदा सन्तताशेषविश्वावकाशे ।
लसन्मौलिबद्धेन्दुलेखे सपाशाङ्कुशाभीत्यभीष्टात्तहस्ते नमस्ते ।। ६४ ।।

प्रभाकीर्तिकान्ती दिवारात्रिसन्ध्याः क्रियाशा तमिस्रा क्षुधाबुद्धिमेधाः ।
धृतिर्वाङ्मतिः सन्नतिः श्रीश्च भक्तिस्त्वमेवेशि येऽन्ये च शक्तिप्रभेदाः ।।

हरे बिन्दुनादैः सशक्त्याख्यशान्तैर्नमस्तेस्तु भेदप्रभिन्नैरभिन्ने ।
सदा सप्तपातालकोकाचलाब्धिग्रहद्वीपधातुस्वरादिस्वरूपे ।। ६६ ।।

नमस्ते समस्ते समस्तस्वरूपे समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतशक्ते ।
श्रितस्थूलसूक्ष्मस्वरूपे महेशि स्मृते बोधरूपेप्यबोधस्वरूपे ।। ६७ ।।

मनोवृत्तिरस्तु स्मृतिस्ते समस्ता तथा वाक्प्रवृत्तिः स्तुतिः स्यान्महेशि ।
शरीरप्रवृत्तिः प्रणामक्रिया स्यात् प्रसीद क्षमस्व प्रभो सन्ततं मे ।। ६८ ।।

हृल्लेखाजपविधिमर्चनाविशेषानेतास्तां स्तुतिमपि नित्यमादरेण ।
योभ्यस्येत् स खलु परां श्रियं च गत्वा शुद्धं तद् व्रजति पदं परस्य धाम्नः।।

इति हृल्लेखाविहितो विधिरुक्तः संग्रहेण सकलोऽयम् ।
योऽस्मिन्नियतमना मन्त्री योगी स्यात् स एव भोगी च ।। ७० ।।

देशिकेन्द्रेण दुर्वाससा विरचितं

श्रीत्रिपुरसुन्दरीमहिम्नस्तोत्रम्

[1]श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोकीमहा-
सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्भवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम् ।
उद्यद्भानुसहस्रनूतनजपापुष्पप्रभं ते वपुः
स्वान्ते मे स्फुरतु [2]त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम् ॥ १ ॥

आदिक्षान्तसमस्तवर्णसुमणिप्रोते वितानप्रभे
ब्रह्मादिप्रतिमाभिकीलितषडाधाराब्जकक्षोन्नते ।
ब्रह्माण्डाब्जमहासने जननि ते मूर्ति भजे चिन्मयीं
सौषुम्णायतपीतपङ्कजमहामध्यत्रिकोणस्थिताम् ॥ २ ॥

वन्दे वाग्भवमैन्दवात्मसदृशं वेदादिविद्यागिरो
भाषा देशसमुद्भवाः पशुगताश्छन्दांसि सप्त स्वरान् ।
तालान्पञ्च महाध्वनीन्प्रकटयत्यात्मप्रसारेण[3] यत्-
तद्बीजं पदवाक्यमानजनकं श्रीमातृके ते परम् ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यस्फुटमन्त्रतन्त्रमहिमा स्वात्मोक्तिरूपं विना
यद्बीजं व्यवहारजालमखिलं नास्त्येव मातस्तव ।
तज्जाप्यस्मरणप्रसक्त[4]सुमतिः सर्वज्ञतां प्राप्य कः
शब्दब्रह्मनिवासभूतवदनो नेन्द्रा[5]दिभिः स्पर्द्धते ॥ ४ ॥

---

१. काशी संस्कृत सीरीज, सङ्ख्या २१ में प्रकाशित पुष्पदन्तकृत महिम्न-स्तोत्र (१६२४ ई०) के साथ मुद्रित इसी स्तोत्र के प्रारम्भ में निम्नाङ्कित अतिरिक्त श्लोक मिलता है :—

मातस्ते महिमां वक्तुं शिवेनापि न शक्यते ।
भक्त्याहं स्तोतुमिच्छामि प्रसीद मम सर्वदा ॥ १ ॥

३ और ४ के मध्य में भी एक श्लोक अधिक है :—

या बालेन्दुदिवाकराक्षिमधुरा या रक्तपद्मासना
रत्नाकल्पविराजिताङ्गलतिका पूर्णेन्दुवक्त्रोज्ज्वला ।
अक्षस्रक्सृणिपाशपुस्तककरा या बालभानुप्रभा
तां देवीं त्रिपुरां शिवां हृदि भजेऽभीष्टार्थसिद्ध्यै सदा ॥

२. पाठान्तर–त्रिकोण । ३. प्रकाशेन । ४. प्रसक्ति । ५. सेन्द्रा ।

मात्रा यात्र विराजतेऽतिविशदा तामष्टधा मातृकां
शक्तिं कुण्डलिनीं चतुर्विधतनुं यस्तत्त्वविन्मन्यते ।
सोऽविद्याखिलजन्मकर्मदुरितारण्यं प्रबोधाग्निना
भस्मीकृत्य विकल्पजालमखिलं मातः पदं तद्व्रजेत् ॥ ५ ॥

तत्ते[1] मध्यमबीजमम्ब कलयाम्यादित्यवर्णं क्रिया-
ज्ञानेच्छादिसमस्त[2]शक्तिविभवव्यक्तिं व्यनक्ति स्फुटम् ।
उत्पत्तिस्थितिकल्पकल्पिततनुं स्वात्मप्रसारेण यत्
काम्यं ब्रह्महरीश्वरादिविबुधैः कामं क्रियायोजितैः ॥ ६ ॥

कामान्कारणतां गतानगणितान्कार्यैरनन्तै[3]र्मही-
मुख्यैः सर्वमनोगतानधिगतान्मानैरनेकैः स्फुटम् ।
कामक्रोधसुलोभमोहमदमात्सर्यारिषट्कं च यद्
बीजं [4]भ्राजयतिप्रणौमि तदहं ते साधु कामेश्वरि ॥ ७ ॥

यद्भक्ताखिलकामपूरणचण[5]स्वात्मप्रभावं महा-
जाड्यध्वान्तनिवारणैकतरणिज्योतिः प्रबोधप्रदम् ।
यद्वेदेषु च गीयते श्रुतिमुखं मात्रात्रयेणोमिति
श्रीविद्ये तव सर्वराजवशकृत्तत्कामराजं भजे ॥ ८ ॥

यत्ते देवि तृतीयबीजमनलज्वालावलीसन्निभं
सर्वाधारतुरीय-[6]बीजमपरं ब्रह्माभिधाशब्दितम् ।
मूर्द्धन्यान्तविसर्गभूषितमहौकारा[7]त्मकं तत्परं
[8]संविद्रूपमनन्यतुल्यमहिम[9]स्वान्ते मम द्योतताम् ॥ ९ ॥

सर्वं सर्वत एव सर्गसमये कार्येन्द्रियाण्यन्तरा
तत्तद्दिव्यहृषीककर्मभिरियं संव्यश्नुवाना परा ।
वागर्थव्यवहारकारणतनुः शक्तिर्जगद्व्यापिनी[10]
यद्बीजात्मकतां गता तव शिवे तन्नौमि बीजं परम् ॥ १० ॥

अग्नीन्दुद्युमणिप्रभञ्जनधरानीरान्तरस्यायिनी
शक्तिब्रह्महरीशवासवमुखामर्त्यासुरात्मस्थिता ।

---

१. यत्ते । २. ज्ञानेच्छादिमनन्त । ३. अनेकैः । राजति सम्प्रणौमि तदहं ते कामराजाभिधम् । ५. पूर्णचरण । ६. शक्तिपरमब्रह्माभिधाशब्दि-तम् । ७. महोकारा । ८. सच्चिद्रूप । ९. भ्राजद्रूपमनन्यतुल्यमभितः । १०. जगद्रूपिणी ।

सृष्ट[1]स्थावरजङ्गमस्थितमहाचैतन्यरूपा च या
यद्बीजस्मरणेन सैव भवती प्रादुर्भवत्यम्बिके ॥ ११ ॥

स्वात्मश्रीविजिताजविष्णुमघवश्रीपूरणैकव्रतं
[2]यद्विद्याकवितावितानलहरीकल्लोलिनीदीपकम् ।
बीजं यत्त्रिगुणप्रवृत्तिजनकं ब्रह्मे ति यद्योगिनः
शान्ताः सत्यमुपासते तदिह ते चित्ते दधे श्रीपरे ॥ १२ ॥

एकैकं तव मातृके परतरं संयोगि वा योगि वा
विद्यादिप्रकटप्रभावजनकं जाड्यान्धकारापहम् ।
यन्निष्ठाश्च महोत्पलासनमहाविष्णुप्रहर्त्रादयो
देवाः स्वेषु विधिष्वनन्य[3]महिमस्फूर्तिं दधत्येव तत् ॥ १३ ॥

इत्थं त्रीण्यपि मूलवाग्भवमहाश्रीकामराजस्फुर-
च्छक्त्याख्यानि चतुःश्रुतिप्रकटितान्युत्कृष्टकूटानि ते ।
भूतर्तुश्रुतिसङ्ख्यवर्णविदितान्यारक्तकान्ते शिवे
यो जानाति स एव सर्वजगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकृत् ॥ १४ ॥

[4]नित्यं यस्तव मातृकाक्षरसखीं सौभाग्यविद्यां जपेत्
सम्पूज्याखिलचक्रराजनिलयां सायन्तनाग्निप्रभाम् ।
कामाख्यं शिवनामतत्त्वमुभयं व्याप्यात्मना सर्वतो
दीव्यन्तीमिह तस्य सिद्धिरचिरात्स्यात्त्वत्स्वरूपैकता ॥ १५ ॥

काव्यैः पापठितैः किम[5]प्यविदुषां जोघुष्यमाणैः पुनः
किं तैर्व्याकरणैर्विबोधिततया किं वाभिधानश्रिया ।
एतैरम्ब न बोभवीति सुकविस्तावत्तव श्रीमतो
यावन्नानुसरीसरीति सरणिं पादाब्जयोः पावनीम् ॥ १६ ॥

---

१. सृष्टिः । २. सद्विद्याकविताविलास । ३. ष्वनन्त ।

४. 'काशी संस्कृत सीरीज' के संस्करण में १५वें श्लोक से पहले यह अति-रिक्त श्लोक मिलता है :—

ब्रह्मायोनिरमासुरेश्वरसुहृल्लेखाभिरुक्तैस्तथा
मार्तण्डेन्दुमनोजहंसवसुधामायाभिरुत्तंसितैः ।
सोमाम्बुक्षितिशक्तिभिः प्रकटितैर्बाणाङ्गवेदैः क्रमाद्-
वर्णैः श्रीशिवदेशिकेन विदितां विद्यां तवाम्बाश्रये ॥

५. मल्प ।

गेहं नाकति गर्वितः प्रणतति स्त्रीसङ्गमो मोक्षति
द्वेषी मित्रति पातकं सुकृतति क्ष्माबल्लभो दासति ।
मृत्युर्वैद्यति दूषणं सुगुणति त्वत्पादसंसेवनात्
त्वां वन्दे भवभीतिभञ्जनकरीं गौरीं गिरीशप्रियाम् ।। १७ ।।

आद्यैरग्निरवीन्दुबिम्बनिलयैरम्ब त्रिलिङ्गात्मभि-
र्मिश्रा रक्तसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः ।
स्वात्मोत्पादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयै-
रुद्भूतं त्रिपुरेति नाम कलयेद्यस्ते स धन्यो बुधः ।। १८ ।।

आद्यो जाप्यतमार्थवाचकतया रूढः स्वरः पञ्चमः
सर्वोत्कृष्टतमार्थवाचकतया वर्णः पवर्गान्तकः ।
वक्तृत्वेन महाविभूतिसरणिस्त्वाधारगो हृद्गतो
भ्रूमध्यस्थित इत्यतः प्रणवता ते गीयतेऽम्बागमैः ।। १९ ।।

गायत्री सशिरा तुरीयसहिता सन्ध्यामयीत्यागमै-
राख्याता त्रिपुरे त्वमेव महतां शर्मप्रदा कर्मणाम् ।
तत्तद्दर्शनमुख्यशक्तिरपि च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी
कर्तार्हन्पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः ।। २० ।।

अन्नप्राणमनःप्रबोधपरमानन्दैः शिरःपक्षयु-
क्पुच्छात्मप्रकटैर्महोपनिषदां वाग्भिः प्रसिद्धीकृतैः ।
कोशैः पञ्चभिरेभिरम्ब भवतीमेतत्प्रलीनामिति
ज्योतिःप्रज्वलदुज्ज्वलात्मचपलां यो वेद स ब्रह्मवित् ।। २१ ।।

सच्चित्तत्त्वमसीतिवाक्य[1]विदितैरध्यात्मविद्याशिव-
ब्रह्माख्यैरतुलप्रभावसहितैस्तत्त्वैस्त्रिभिः सद्गुरोः ।
तद्रूपस्य मुखारविन्दविवरात्सम्प्राप्य दीक्षामतो
यस्त्वां विन्दति तत्त्वतस्तदहमित्यार्ये स मुक्तो भवेत् ।। २२ ।।

सिद्धान्तैर्बहुभिः प्रमाणगणितै[2]रन्यैरविद्यातमो-
नक्षत्रैरिव सर्वमन्धतमसं तावन्न निर्भिद्यते ।
यावत्ते सवितेव सम्मत[3]मिदं नोदेति विश्वान्तरे
जन्तोर्जन्मविमोचनैक[4]भिदुरं श्रीशाम्भवं[5]श्रीशिवे ।। २३ ।।

---

१. विततै । २. गदितैः । ३. सन्मत । ४. निवारणैक ।
५. श्रीशाम्भवि ।

आत्माऽसौ सकलेन्द्रियाश्रयमनोबुद्ध्यादिभिः शोचितः
कर्माबद्धतनुर्जनिं च भरणं प्राप्नोति[1] यत्कारणम् ।
तत्ते देवि महाविलासलहरीदिव्यायुधानां जय-
स्तस्मात्सद्[2]गुरुमभ्युपेत्य कलयेत्त्वामेव चेन्मुच्यते ॥ २४ ॥
नानायोनिसहस्रसम्भववशाज्जाता जनन्यः कति
प्रख्याता जनकाः कियन्त इति मे सेत्स्यन्ति चाग्रे कति ।
एतेषां गणनैव नास्ति महतः संसार[3]सिन्धोर्विधे-
र्भीतं मां नितरामनन्यशरणं रक्षानुकम्पानिधे ॥ २५ ॥
देहक्षोभकरैर्व्रतैर्बहुविधैर्दानैश्च होमैर्जपैः
सध्यानै[4]र्हयमेधमुख्यसुमखैर्नानाविधैः कर्मभिः ।
यत्सङ्कल्पविकल्पजाल[5]मलिनं प्राप्यं[6] पदं तस्य ते
दूरादेव निवर्तते परतरं मातः पदं निर्मलम् ॥ २६ ॥
पञ्चाशन्निजदेहजाक्षरमयै[7]र्नानाविधैर्धातुभि-
र्बह्वर्थैः पदवाक्यमानजनकैरर्थाविना[8]भावितैः ।
साभिप्रायवदर्थ[9]कर्मफलदैः ख्यातैरनन्तैरिदं
विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके ॥ २७ ॥
श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचक्रात्मकं
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः ।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणं[10] श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे ॥ २८ ॥
बिन्दुप्राणविसर्गजीवसहितं बिन्दुत्रिबीजात्मकं
षट्कूटानि विपर्ययेण निगदेत्तारत्रिबालाक्षरैः[11] ।
एभिः सम्पुटितं प्रजप्य विहरेत्प्रासादमन्त्रं परं
गुह्याद् गुह्यतमं सयोगजनितं सद्भोगमोक्षप्रदम् ॥ २९ ॥
आताम्रार्कसहस्रदीप्तिपरमा सौन्दर्यसारैरलं
लोकातीतमहोदयैरुपयुता[12] सर्वोपमागोचरैः ।
नानानर्घ्यविभूषणैरगणितै[13]र्जाज्वल्यमानाभितः[14]
[15]श्रीमातस्त्रिपुरारिसुन्दरि कुरु स्वान्ते निवासं मम ॥३०॥

---

१. प्रतीति । २. त्वां । ३. सिन्धूर्मिभिः । ४. सन्तानैः । ५. भाव । ६. ख्यातं । ७. भवै । ८. रथं । ९. चिदर्थ । १०. रभितः । ११. वलैः । १२. रवयवैः । १३. रुपगतैः । १४. तिमकैः । १५. त्वं ।

शिञ्जन्नूपुरपादकङ्कणमहामुद्रासुलाक्षारसा-
लङ्काराङ्कितमङ्घ्रिपङ्कजयुगं श्रीपादुकालङ्कृतम् ।
उद्भास्वन्नखचन्द्रखण्डरुचिरं राजज्जपासन्निभं[1]
ब्रह्मादित्रिदशासुरार्चित[2]महं मूर्ध्नि स्मराम्यम्बिके ।। ३१ ।।

आरक्तच्छविनातिमार्दवयुजा निश्श्वासहार्येण सत्[3]
कौशेयेन विचित्ररत्नखचितैर्मुक्ताफलैरुज्ज्वलैः ।
कूजत्काञ्चनकिङ्किणीभिरभितः सन्नद्धकाञ्चीगुणै-
रादीप्तं सुनितम्बबिम्बमरुणं ते पूजयाम्यम्बिके ।। ३२ ।।

कस्तूरीघनसारकुङ्कुमरजोगन्धोत्कटैश्चन्दनै-
रालिप्तं मणिमालयातिरुचिरं ग्रैवेयहारादिभिः ।
दीप्तं दिव्यविभूषणै[4]र्जननि ते ज्योतिर्विभास्वत्कुच-
व्याजस्वर्णघटद्वयं हरिहरब्रह्मादिपीतं भजे ।। ३३ ।।

मुक्तारत्नविचित्रकान्तिललितैस्ते बाहुवल्लीरहं
केयूराङ्गद[5]बाहुदण्डवलयैर्हस्ताङ्गुलीभूषणैः ।
सम्पृक्ताः कलयामि हीरमणिमन्मुक्तावलीकीलित-
ग्रीवापट्टविभूषणेन सुभगं कण्ठं च कम्बुश्रियम् ।। ३४ ।।

उद्यत्पूर्णकलानिधिश्रिवदनं भक्तप्रसन्नं सदा
सम्फुल्लाम्बुजपत्रकान्ति[6]सुषमाधिक्कारदक्षेक्षणम् ।
सानन्दं कृतमन्दहासमसकृत्प्रादुर्भवत्कौतुकं
कुन्दाकारसुदन्तपङ्क्तिशशिभापूर्णं स्मराम्यम्बिके ।। ३५ ।।

तप्तस्वर्णकृतोरुकुण्डलयुगं माणिक्यमुक्तोल्लस-
द्धीराबद्धमनन्यतुल्यमपरं हैमं च चक्रद्वयम् ।
शुक्राकारनिकारदक्षममलं मुक्ताफलं सुन्दरं
विभ्रत्कर्णयुगं भजामि ललितं नासाग्रभागं शिवे ।। ३६ ।।

शृङ्गारादिरसालयं त्रिभुवनीमाल्यैरतुल्यैर्युतं
सर्वाङ्गीणसदङ्गरागसुरभि श्रीमद्वपुर्धूपितम् ।
ताम्बूलारुणपल्लवाधरयुतं रम्यं त्रिपुण्ड्रं दधद्-
भालं नन्दनचन्दनेन जननि ध्यायामि ते मङ्गलम् ।। ३७ ।।

---

१. भासुरं । २. भिपूजित । ३. यत् । ४. रगणितैः । ५. रोत्तम् ।
६. चित्र ।

जातीचम्पककुन्दकेशररजोगन्धोद्गिरत्केतकी-
नीपाशोकशिरीषमुख्यकुसुमैः प्रोत्तंसिता धूपिता ।
आनीलाञ्जनतुल्यमत्तमधुपश्रेणीव वेणी तव
श्रीमातः श्रयतां मदीयहृदयाम्भोजं सरोजालये ॥ ३८ ॥

लेखालभ्यविचित्ररत्नघटितं हैमं किरीटोत्तमं
मुक्ताकाञ्चनकिङ्किणीगणमहाहीरप्रबन्धोज्ज्वलम् ।
चञ्चच्चन्द्रकलाकलापललितं देवद्रुपुष्पार्चितं
माल्यैरम्ब विलम्बितं सुशिखरं बिभ्रच्छिरस्ते भजे ॥ ३९ ॥

उत्क्षिप्तोच्चसुवर्णदण्डकलितं पूर्णेन्दुबिम्बाकृति-
च्छत्रं मौक्तिकचित्ररत्नखचितं क्षौमांशुकोत्तंसितम् ।
मुक्ताजालविलम्बितं सकलशं नानाप्रसूनाङ्कितं
चन्द्रोड्डामरचामराणि दधते श्रीदेवि ते स्वःस्त्रियः ॥४०॥

विद्यामन्त्ररहस्यविन्मुनिगणैः क्लृप्तोपचारार्चनां
वेदादिस्तुतिगीयमानचरितां वेदान्ततत्त्वात्मिकाम् ।
सर्वास्ताः खलु तुर्यतामुपगतास्त्वद्रश्मिदेव्यः परा-
स्त्वां नित्यं समुपासते स्वविभवैः श्रीचक्रनाथे शिवे ॥ ४१ ॥

एवं यः स्मरति प्रबुद्धसुमतिः श्रीमत्स्वरूपं परं
वृद्धोऽप्याशु युवा भवत्यनुपमः स्त्रीणामनङ्गायते ।
सोऽष्टैश्वर्यतिरस्कृताखिलसुरश्रीजृम्भणैकालयः
पृथ्वीपालकिरीटकोटिवलभीपुष्पार्चिताङ्घ्रिर्भवेत् ॥ ४२ ॥

अथ तव धनुः पुण्ड्रेक्षुत्वात्प्रसिद्धमतिद्युति
त्रिभुवनवधूमुद्यज्ज्योत्स्नाकलानिधिमण्डलम् ।
सकलजननि स्मारं स्मारं गतः स्मरतां नर-
स्त्रिभुवनवधूमोहाम्भोधेः प्रपूर्णविधुर्भवेत् ॥ ४३ ॥

प्रसूनशरपञ्चकप्रकटजृम्भणागुम्फित-
त्रिलोकमवलोकयत्यमलचेतसा चञ्चलम् ।
अशेषरमणी[1]जनस्मरविजृम्भणे यः सदा
पटुर्भवति ते शिवे त्रिजगदङ्गनाक्षोभणे ॥ ४४ ॥

---

१. तरुणी ।

पाशं प्रपूरितमहासुमतिप्रकाशो
यो वा तव त्रिपुरसुन्दरि सुन्दरीणाम् ।
आकर्षणेऽखिलवशीकरणे प्रवीणं
चित्ते दधाति स जगत्त्रयवश्यकृत्स्यात् ।। ४५ ।।

यः स्वान्ते कलयति कोविदस्त्रिलोक[1]-
स्तम्भारम्भचणमत्युदारवीर्यम् ।
मातस्ते विजयमहाङ्कुशं सरोषान्
देवान्स्तम्भयति च भूभुजोऽन्य[2]सैन्यम् ।। ४६ ।।

चापध्यानवशाद्भवोद्भवमहामोहस्य व्युज्जृम्भणं
प्रख्यातं प्रसवेषुचिन्तनवशात्तत्च्छरव्यं सुधीः ।
पाशध्यानवशात्समस्तजगतां मृत्योर्वशत्वं महा-
दुर्गस्तम्भमहाङ्कुशस्य मननान्मायाममेयां तरेत् ।। ४७ ।।

न्यासं कृत्वा गणेशग्रहभगणमहायोगिनीराशिपीठैः
पञ्चाशन्मातृकार्णैः सहितबहुकलैरष्टवाग्देवताभिः ।
सश्रीकण्ठादियुग्मैर्निजविमलतनौ केशवाद्यैश्च तत्त्वैः
षट्त्रिंशद्भिर्धराद्यैर्भगवति भवतीं यः स्मरेत्स त्वमेव ।।४८।।

सुरपतिपुरलक्ष्मीजृम्भणातीतलक्ष्मीः
प्रसरति निजगेहे यस्य दैवं त्वमार्ये ।
विविधबहुकलानां पात्रभूतस्य तस्य
त्रिभुवनविदिता सा जृम्भते स्फूर्ति[3]रच्छा ।। ४९ ।।

[4]मातस्त्वं भूर्भुवःस्वर्महरसि नृतपःसत्यलोकैश्च सूर्ये-
न्द्वारज्ञाचार्यशुक्रार्किभिरपि निगमब्रह्मभिः प्रोतशक्तिः ।
प्राणायामादियानैः कलयसि सकलं मानसं ध्यानयोगं
येषां तेषां सपर्या भवति सुरकृता ब्रह्मता योगिता च ।। ५० ।।

क्व मे बुद्धिर्वाचा परमविदुषो मन्दसरणिः
क्व ते मातर्ब्रह्मप्रमुखविदुषामाप्तवचसाम् ।
अभून्मे विस्फूर्तिः परतरमहिम्नस्तव नुतिः
प्रसीद क्षन्तव्यं बहुलतरचापल्यमिह मे ।। ५१ ।।

---

१. त्रिलोकी । २. भूभुजौघ । ३. कीर्ति ।

४. यह श्लोक कुछ पाठ-भेद के साथ परशम्भुमहिम्नस्तव में भी मिलता है ।

प्रसीद परदेवते मम हृदि प्रभूतं भयं
विदारय दरिद्रतां दलय देहि सर्वज्ञताम् ।
विधेहि करुणानिधे चरणपद्मयुग्मं स्वकं
निवारय जरामृती त्रिपुरसुन्दरि श्रीशिवे ।। ५२ ।।
इति त्रिपुरसुन्दरीस्तुतिमिमां पठेद्यः सुधीः
स सर्वदुरिताटवीपटलचण्डदावानलः ।
भवेन्मनसि वाञ्छितं प्रथितसिद्धिवृद्धिर्भवे-
दनेकविधसम्पदां पदमनन्यतुल्यो भवेत् ।। ५३ ।।
सङ्गीतं गिरिजे कवित्वसरणिं चाम्नायवाक्यस्मृतिं-
व्याख्यानं हृदि तावकीनचरणद्वन्द्वं च सर्वज्ञताम् ।
श्रद्धां कर्मणि कालिकेऽतिविपुलश्रीजृम्भणं मन्दिरे
सौन्दर्यं वपुषि प्रकाशमतुलं प्राप्नोति विद्वान्कविः ।। ५४ ।।
पृथ्वीपालप्रकटमुकुटस्रग्रजोरञ्जिताङ्घ्रि-
र्विद्वत्पूजास्तुतिशतसमाराधितो बाधितारिः ।
विद्याः सर्वाः कलयति हृदा व्याकरोति प्रवाचा
लोकाश्चर्यैर्नवनवपदैरिन्दुबिम्बप्रकाशैः ।। ५५ ।।
भूष्यं वैदुष्यमुद्यद्दिनकरकिरणाकारमाकारतेजः
सुव्यक्तं भक्तिमार्गं निगमनिगदितं दुर्गमं योगमार्गम् ।
आयुष्यं ब्रह्मपोष्यं हरगिरिविशदां कीर्तिमभ्येत्य भूमौ
देहान्ते ब्रह्मपारं परशिवचरणाकारमभ्येति विद्वान् ।। ५६ ।।
दुर्वाससा विदिततत्त्वमुनीश्वरेण
विद्याकलायुवतिमन्मथमूर्तिनैतत् ।
स्तोत्रं व्यधायि रुचिरं त्रिपुराम्बिकाया
वेदागमैकपटलीविदितैकमूर्तेः ।। ५७ ।।
सदसदनुग्रहनिग्रहगृहीतमुनिविग्रहो भगवान् ।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ।। ५८ ।।

इति श्रीदुर्वाससा मुनीन्द्रेण विरचितं श्रीत्रिपुरसुन्दरी-
महिम्नः स्तोत्रं[1] सम्पूर्णम् ।

---

१. यह स्तोत्र श्रीविद्यानन्दनाथ के शिष्य श्रीनित्यानन्द की टीका के साथ काव्यमाला में मुद्रित है। इसकी त्रिपुरामहिमस्तोत्र और शक्तिमहिम्नस्तोत्र ये आख्यायें भी देखी जाती हैं ।

देशिकेन्द्रेण दुर्वाससा कृतः

परशम्भुमहिम्नः स्तवः

प्रथमं प्रकरणम्

अनेकशक्तिसङ्घट्टप्रकाशलहरीतनुः ।
शुद्धसंविच्छिवः पायाद्विभुः श्रीपरमेश्वरः ॥

श्रीशम्भो ते महिम्नः स्तुतिपथरचिताः साङ्गवेदाः सशास्त्राः
सिद्धान्ताः साङ्गविद्याः सचकितमतयो नैव पश्यन्ति पारम् ।
साद्यन्तास्त्वामनन्तं परमशिवगुरुं ते कथं वर्णयेयु-
स्तस्मात्प्रज्ञानुसारादहमपि भवतः स्तौमि किञ्चिच्चरित्रम्॥१॥

आनन्दात्मप्रकाशस्तव परमहिमापारपीयूषसिन्धु-
स्त्वद्भक्त्यामोदमग्नाः क्व च कविमधुपा ब्रह्मविष्णुप्रमुख्याः ।
श्रीशम्भो मोहजृम्भो न जनयति परां स्वात्मवत्तां किमेत-
च्चित्रं तद्वन्मयापि स्वमतिविभवतः स्तूयसे त्वं न दोषः ॥२॥

श्रीमद्भिर्दृश्यभावैरहमहमिदमित्यात्मजृम्भाधिरूढै-
र्नानारूपैः पदार्थैरनवधिविभवैराशुदेदीप्यमानः ।
सर्वातीतस्त्वमेकः परशिवचरणस्वप्रकाशात्मशम्भो
नान्यस्त्वत्तः परोऽस्तीत्यहमिह गुरुणा त्वां स्वभावैरवैमि ॥

आत्मैवैष स्वकीयो निरतिशयचिदानन्दसद्ब्रह्मपूर्णो
जिह्मः संसारभावैरतिदुरधिगमैरात्तमायाविलासैः ।
सर्वात्मत्वादनन्तस्तव शिवमहसः श्रीगुरोः सत्यवाक्यै-
र्निस्तर्कोपाधिभेदैः परमपुरुष ते तत्त्वमद्वैतमेति ॥ ४ ॥

दीक्षां यः शाम्भवीयां शिवगुरुविहितां दिव्यबीजागमोक्तां
प्राप्य श्रीशम्भुतादात्म्यवितरणचणां जन्ममृत्युप्रभेत्रीम् ।
भित्त्वा भेद्यं पशुत्वं परशिवचरणध्यानयोगेन पूर्णः
स्वाघोरब्रह्मविद्याविदितपरपदं ब्रह्म स प्रैति विद्वान् ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्डं पिण्डमेतत्पितरमिव सुतस्तत्समं नैकधर्मं
विज्ञायाज्ञानमुक्तः शिवगुरुवचनैरात्मविज्ञानशान्तः ।
सर्वात्मैकप्रभोस्ते परशिवचरणाराधनासक्तचित्तो
यः कोऽप्येकः स योगी जयति जनिमृती भो महामृत्युमृत्यो ॥

पिण्डे षाट्कौशिकेऽस्मिन्नवविवरपुरे पञ्चभूतेन्द्रियाढ्ये
पुंस्के स्त्रैणे च षाण्डे शिवगुरुवचनैरत्र विज्ञायसे चेत् ।
केनाप्यन्नासुचित्तप्रमितिनिरुपमानन्दकोशान्तराशि-
स्त्वं षोढा भिन्नमूर्तिः परशिव स बुधो विश्वरूपत्वमीयात्॥७॥

सर्वेश श्रीपुरेश त्रिभुवनभवनव्यक्तयः शक्तयस्ते-
ऽनन्ताद्याः श्रीपराद्या निरवधिविभवा मातृकान्ताः क्षकान्ताः ।
विज्ञाताः स्युः स्वरूपे यदि शिवगुरुणा विश्वदृश्यप्रपञ्च
स्वात्मज्योतिर्विलीनान्विदधति विदुषो योगिनः सैव मुक्तिः ॥

या षोढा पञ्चधा च प्रकटितविभवा श्रीपरा देव शम्भो
सैव श्रीसुन्दरीति श्रुतिभिरभिनुता चक्रराजासनस्था ।
सर्वत्रानेककोटिप्रकटितगणनायोगिनीर्व्यश्नुवाना
त्वत्तेजोऽन्तर्निरूढा रचयति जगतामादिमध्यान्तकालान् ॥

या शक्तिः पञ्चवाहप्रवहणलहरीव्यक्तनैजात्मतेजः
संवर्ताग्निप्रपीतत्रिभुवनजलधिः कालसङ्कर्षणी ते ।
दिक्कालातीतमूर्ते परशिवमहतां भक्तिभाजामविद्यां
मृत्युं विज्ञानदानात्प्रहरति विदुषां तन्महत्त्वं त्वमेव ॥ १० ॥

सर्वज्ञो नित्यतृप्तः सदसदुभयगोऽनादिबोधः स्वतन्त्रो
नित्यालुप्तात्मशक्तिर्निरुपमचरितोऽनन्त इत्यङ्गषट्कैः ।
षट्शक्तिव्यक्तभावस्त्वमिह यदि शिव ज्ञायसे देशिकोक्त्या
येन स्वात्मन्यनादौ सकलविलसितं ते परायाः स भेदः ॥

गायत्री वेदधात्री शतमखफलदा वेदशास्त्रैकवेद्या
चिच्छक्तिं ब्रह्मविद्यां परमशिव तव श्रीपरां व्याकरोति ।
शब्दब्रह्मैक्यवाच्यामखिलमतमिति व्यक्ततत्त्वामवाच्यां
सप्तस्रोतोविभूतिं त्रिभुवनमयतां तत्त्वतः सर्वतुर्याम् ॥१२॥

संसारासारभारप्रवहणचतुरामादिशक्तिं परां तां
स्वात्माभिन्नां विदित्वा वपुरनुमतिभिर्नावृताहङ्कृतिस्थः ।
त्रैलोक्यं ब्रह्मविश्वप्रसरमनवधिस्वप्रकाशप्रपूर्णं
ज्ञात्वा मुक्तः स योगी भवति गतभवस्त्वत्प्रसादान्महेश ॥

विश्वेश स्वप्रकाशप्रसरमिह विना नान्यदस्तीति तत्त्वं
मीमांसारूपमेतत्तव परमगुरो श्रीमुखाम्नायजालम् ।

स्वप्रत्यक्षं विहाय स्वरहितमिति चेदस्ति नान्यत्र तत्त्वं
ये धीरास्तर्कयेयुस्त इह जनिमृतीराप्नुवन्त्यङ्गभारैः ॥१४॥

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ सुरपतिरमरा नासुरा नैव पृथ्वी
नापोऽग्निर्नैव वायुर्नच गगनतलं नो दिशो नैव कालः ।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो वियन्नो विकल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्तमूर्ते ॥१५॥

शम्भो सैद्धान्तिका ये स्वमतिविभवतोऽखर्वगर्वाः प्रमाणै-
र्मीमांसन्ते भवन्तं बहुमतजनकैरावृता शुद्धविद्यैः ।
अन्योऽन्यस्पर्द्धिनस्ते कथमिह भवतस्तत्त्वमीयुः स्वतेजः
सर्वातीतं विकल्पग्रहरहितमजं मानतर्काद्यगम्यम् ॥ १६ ॥

धीराः केचिन्महान्तो गुरुवचनरतास्त्यक्तसंसारभावा
निःशङ्काघोरविद्याः परिणतमतयः सर्वसङ्कल्पमुक्ताः ।
त्वत्कारुण्याक्षिलक्ष्याः परमशिव भवत्साधकाः पुण्यपापैः
कृत्याकृत्यैर्विहीनाः परपदविभवं त्वां प्रपश्यन्ति विश्वम् ॥१७॥

सिद्धान्तः शाम्भवोऽयं शिवगुरुवचनाघोरविद्याक्षरोक्तः
स्तोत्रव्याजेन निर्वाह्यत इति भवतः श्रीविभो चापलं मे ।
अत्र न्यूनातिरेकोक्तिजनितमसकृत्क्षम्यतां दासबुद्धया
मच्चित्तस्थः प्रमेयं समुपदिश परं मातृकावर्णराशिम् ॥१८॥

इति उपोद्धातप्रकरणं प्रथमम् ।

द्वितीयं प्रकरणम्

श्रीमद्रश्मिप्रभावं त्रिभुवनभवनव्यञ्जकस्वात्मदीपं
को वा वक्तुं निरुक्त्या प्रभवति यतधीरात्तसम्यग्विमर्शः ।
यत्र ब्रह्मादिविद्वन्मतिरपि विगतिर्याति भीत्या विनाशं
श्रुत्या सार्द्धं स केन प्रविततमतिना वर्ण्यते ते महेश ॥ १ ॥

षण्णामप्यन्वयानां क्षितिजलदहनस्पर्शनाकाशचेतः
पीठस्थानां पराद्याः परशिवभवतः शक्तयो मातृकान्ताः ।
ब्रह्मादिप्रेतसिंहासनगतविभवैस्तावकीयैः षडङ्गै-
र्द्वात्रिंशद्रश्मिमुख्याः स्वकिरणकरणव्याप्तविश्वैर्विभान्ति ॥२॥

बुद्धेः सम्यग्विमर्शप्रकटितसरणेरर्थवद्वाक्प्रवृत्ते-
यत्र स्थाने तुरीये नवकलितमहावाक्यतत्त्वे विनाशः ।
तत्किं ज्योतिस्तमो वा सदसदुभयगं किं न्वमूर्तं नु मूर्तं
निर्धारश्चेद्विनाशो नहि मतिवचसां देव तस्मात्परस्त्वम् ॥३॥

ज्ञानं योगः प्रकाशो विधिरुभयमतिर्देहधीः प्राणशून्या-
हङ्कारश्चाधिकामः स्वविषयमनघं चाश्रयन्नन्तरास्ते ।
इत्यात्माकाशसत्ता तव परिविदिता सम्यगेतत्प्रमेया-
धारेष्वन्तर्धृतं यत्पयसि तिलचये तैलबद्धासि हीश ॥ ४ ॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वपुष्पस्तबकपरिमलस्तावकीयः स तेजः-
कल्पद्रुश्चेत्प्रबुद्धः शिवगुरुवचसा सर्वतः स्वानुभूतः ।
अद्वैतब्रह्मबुद्धिं जनयति विदुषामेष एवास्मदादि-
ब्रह्मान्तात्मप्रपञ्चे विलसति न परोऽस्तीति चेत्पारिजातः ।५॥

स्वप्रत्यक्षेऽपि तत्त्वे करतलफलवद्वेत्ति नासौ स्वरूपं
नाना सिद्धान्तजालप्रलपितजनिताज्ञानमोहान्धकारैः ।
आक्रान्तः पुण्यपापैरधिगतनिधनैरात्मकर्मण्यनादौ
हेयोपादेयबुद्ध्या भव इति विहितस्ते महामाययेश ॥ ६ ॥

एकोऽसौ लक्षणैश्चेदखिलतनुगतैरिन्द्रियार्थैरनेकै-
र्भिन्नः स्वात्मप्रकृत्या विधिजनिमृतिभिः सन्निबद्धः किमेतत् ।
देवत्वं मानुषत्वं वपुषि भुजगतां सर्वजीवात्मकत्वं
धत्से शैलूषवत्ते स्मरति न तु पदं श्रीमहादेवमूर्ते ॥ ७ ॥

इति पराशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं द्वितीयम् ।

तृतीयं प्रकरणम्

सत्त्वं चित्त्वं महत्त्वं तव परमगुरोरात्मशक्तेः परायाः
पिण्डीकृत्य प्रकृत्य प्रथमरतिपतिव्याजकालान्तवह्निः ।
भूत्वा संसारसृष्टिस्थितिलयनिलयाद्याति तोयार्णवान्तं
तन्वानो निर्ममेच्छस्त्वमिह विजयसे विष्णुमायाविभूते ॥१॥

मायायामन्तरस्थः कुसुमसररसस्तावकीयः स्वकाले ।
ज्ञानज्ञेयप्रमातृप्रकटितमहिमा स्वप्ररोहप्रसारैः ।

उत्पाद्याद्यं विरिञ्चं तदनु भुवनतामात्मना व्यश्नुवानो
बीजाकारः स्वयम्भूरिति कथयति ते नाम विश्वात्मसृष्टेः॥२॥

आदिक्षान्तार्णसृष्टिं त्रिभुवनभवनाभासभूमिं शिवादि-
क्षित्यन्तात्मीयतत्त्वावलिविकृतगतिं वैधसाण्डान्तभूमिम् ।
आत्मीयानुत्तरेच्छागुणपरवशतां प्राप्य संव्यश्नुवानः
श्रीशम्भो विश्वसृष्टिर्भवसि निजमलत्रय्युपप्रोषितात्मा ॥३॥

चत्वारः कालतत्त्वे तव युगपतयस्ते च धातुश्च पुत्रा
व्याख्याता द्वादशैते स्थितिकृतिविदिताः सावताराः सदाराः ।
श्रीकण्ठाद्याश्च नाथा धृतयुगविधयस्त्वन्नियत्युत्थितान्ता-
श्चैतन्या एव तस्मात्स्थितिरिति विदितस्त्वं सहस्रार्कदीप्ते॥४॥

आत्मीयानादिरश्मीनिह भवजनितानेकसिद्धान्तजाल-
व्यामोहोद्यद्विकल्पानृतनिजविषयान्पुण्यपापादिभेदैः ।
दुर्ज्ञेयान्देशिकोक्त्या प्रविमलवपुषि स्वप्रकाशैकवह्नौ
स्वात्मत्वेन प्रबुद्धाञ्झटिति विजयते यस्त्वदात्माविरोधः ॥

जाग्रत्स्वप्नप्रसुप्तिप्रकटितविभवैरात्ममायागुणैः स्वै-
र्ज्ञानेच्छाक्रोधरूपैर्विधिहरिहरकैरावृते मोक्षमार्गे ।
पान्थाः केचित्सुधीराः शिवगुरुवचनज्ञानशास्त्राग्निदीप्ता
स्त्वत्कारुण्यैकरक्षापरिविहितभियस्त्वां प्रयान्त्यादिमूर्ते ॥६॥

त्वं मायाकामदेवप्रथममसि ततः स्वस्य सृष्टौ विधाता
रक्षायां विष्णुरन्ते प्रबलतरमहारुद्रमूर्तिः स्वमूर्तौ ।
सत्योऽनन्तः प्रमाता शिवगुरुरिति च स्वात्ममूर्तिप्रभावैः
स्वेच्छावस्थागुणाढ्योऽप्यगुण इति विभो वस्तुतः स्तूयसे त्वम् ॥
इच्छाशक्त्या ययैतत्कवलितमखिलं ते जगज्जालरूपं
सृष्टिस्थित्यन्तवृत्त्या सरसि जलधरासारतुल्यात्मगत्या ।
सैवानन्तान्तरङ्गप्रसरबहुविधानेकसङ्कल्पभावै-
राविर्भूय त्वदङ्गप्रकटनकृतये बोधसिन्धुस्त्वमेव ॥ ८ ॥

इति इच्छाशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं तृतीयम् ।

चतुर्थं प्रकरणम्

संवेद्यं तत्त्वजालं परशिवधरणीमूलपारं विचित्रं
कर्मानन्तप्रपञ्चं निरुपममहिमानादिमध्यावसानः।
ब्रह्मानन्दामृताब्धिः समरसविधुना जृम्भितस्वात्मभासो
हेतुत्वेन प्रबोधज्वलन तव महाज्ञानशक्तिं व्यनक्ति ॥ १ ॥

गोजं क्षीरं यथैकं द्युतिविविधगुणस्वेन्द्रियार्थप्रकाशोऽ-
प्येकस्तद्वर्णनानारुचिरधिकरणस्यैकताकारणेन ।
नीलाद्याभासबुद्ध्या नभसि परिवृतो धूमभासैरिवाग्निः
प्राचुर्येण प्रदीप्तः परमशिव ततः सत्यविश्वात्मकस्त्वम् ॥२॥

नित्याखण्डप्रकाशादमलतरविभो त्वत्सकाशात्कदाचि-
न्माया सञ्जायमाना त्रिगुणमुखगणव्यक्तशक्तिस्वभावा ।
सिद्धान्तैर्भिन्नमानप्रमितिभिरसुखैर्भेदबुद्धिप्रधानैः
संसारित्वं प्रसार्य द्रढयति भवतः सत्यतां वेदविद्या ॥ ३ ॥

अन्यः पक्षोऽथवात्र प्रविमलकलनानन्तशक्तिप्रकाशः
सत्याख्यः सोऽपि यत्र प्रविलयमयते शून्यगर्ते तदात्मा ।
यौष्माकः सत्यभावः स च निजमहसां कामरूपात्ममाया-
मुत्पाद्यैतत्प्रपञ्चं घटयति तदिदं व्यश्नुषे स्वात्मयोने ॥ ४ ॥

ऐक्याच्चिद्ह्लादयोश्चेदिदमहमिति च द्वन्द्वभावस्य जीव-
ब्रह्मादिद्वैतबुद्ध्योर्दिनकरशशिनोरण्डविध्यण्डयोश्च ।
प्राणापानाख्यवाय्वोः सुकृतदुरितयोः स्याद्यदा सामरस्य-
प्रादुर्भावस्तदा त्वं भवसि सदसदानन्दनाथः परोऽग्रे ॥ ५ ॥

सेयं विज्ञानशक्तिस्तव शिवगुरुणा दर्शिता नित्यशुद्धा
निर्द्वन्द्वब्रह्मतत्त्वं गमयति सुधियां सच्चिदानन्दपूर्णम् ।
लोके मेयप्रमातृप्रमितिभिरिति चेदर्थिता भिन्नमार्गाः
मुद्रा नाना स्वरूपाः प्रकटयति मुदाहङ्कृतिस्थाः परेश ॥६॥

इति ज्ञानशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं चतुर्थम् ।

पञ्चमं प्रकरणम्

बुद्धिज्ञानेन्द्रियाणां निजनिजविषयास्वादभोगप्रबोध-
क्षीराब्धिः प्रोद्यदिच्छामृतकरणरुचा वाङ्मुखक्षालितैश्च ।
सङ्क्रान्तश्चालितार्थप्रसरबहुपथः स्वात्ममायोरुपूर-
त्रुटचद्ब्रह्माण्डबिन्दून्विकिरति तव चेत्त्वं शिवातः क्रियात्मा ॥

सृष्टिस्थित्यन्तलीलावकलितसरणिर्यत्प्रयत्नो यदीयं
धैर्यं विख्यातवीर्यं सकलमिति गता यस्य बुद्धिः समृद्धा ।
यत्सामर्थ्यं प्रभूतं निरवधिगणनाजाण्डरुद्राण्डभाण्डा-
गारं यद्ब्रह्मसत्ता जयति तव मनोरूपविश्वात्मकत्वम् ॥ २ ॥

संवेशं दूरदेशं कलयति सकलं कर्मकृत्यं च तत्त्वं
स्वं यद्बाह्येन्द्रियाणां चलनमपि विना स्वान्तमन्तःप्रकाशम् ।
तत्ते वीर स्वतन्त्रप्रकृतिनिगमनं निर्गतोपाधितर्कं
वाह्याख्यादर्शनार्थं विमलशिव ततस्त्वं हृषीकाश्रयात्मा ॥३॥

यद्वन्न्यग्रोधबीजं पृथुतरविटपानोकहत्वेन रूढं
सामर्थ्यं दर्शयेस्त्वं परमशिव सदा सत्यविज्ञानबीजम् ।
इच्छाक्षेत्रे सुबुद्धीन्द्रियकुलकलितं सर्वतः स्वक्रियाभिः
स्वात्मानं विश्वरूपं प्रकटयसि यदा त्वं तदा गोचरः स्याः ॥४॥

स्वात्माशेषाक्षवृत्तेः पृथगयनतया क्वापि भूतानि पञ्च
क्वापि प्रेक्षाप्रपञ्चः क्व च निनदमुखाः क्वापि वाक्यादयश्च ।
एतैरेव प्रवृत्तो निजविषयतया सर्वविश्वात्मजृम्भ-
स्तस्मात्त्वं लोकमुख्योऽद्वयमिति रहितः स्वप्रकाशप्रमेयः ॥५॥

कालावस्थाश्च तिस्रो गिरिश दश दिशः सप्तधा भूमिरापो
नाना तेजः समीरा दश वियदखिलव्यापि चैकादशाक्षाः ।
भिन्नार्थानन्यबोधप्रकटितमहिमा बीजभेदास्त्वनन्ता-
स्त्वत्सक्ता बीजजाताः स्वगुणमनुसरन्त्येव ते देव सत्त्वात् ॥६॥

पञ्चाशद्वर्णमाला बहुविधनिनदोच्चारणात्तत्त्वजाल-
व्यक्तिव्यापारसक्ता गिरिश गुरुमुखाम्नायविद्यास्वरूपा ।
धात्राद्युत्पत्तिपूर्वं श्रुतिमुखविविधानेकसिद्धान्तविद्या
नानाभाषाक्रियाभिः प्रकटयति ततः सैव ते साङ्गवेदान् ॥७॥

वर्णेभ्यो धातवः स्युर्विविधपदचयस्तद्भवस्तेन वाक्यं
तस्माज्जातं प्रमाणं विविधनिगमनं तेन सिद्धान्तजालम् ।
तस्मान्नानात्मतत्त्वप्रकटनमिति यत्तत्त्वविद्या त्वदीया
त्वं चेदेकोऽद्वितीयः क्रमरहितमहासंविदात्मा महेशः ॥ ८ ॥

यज्ञस्थानं श्मशानं सकलमिति गृहं भास्वदोङ्कारपीठं
प्रादुर्भूतप्रयाणस्थलमिति विपुलं कल्पवृक्षाधिरूढैः ।
संवीतैर्भैरवैश्चोरगपतिगणपैस्तत्र दिव्यार्घ्यपात्रं
वह्निब्रध्नेन्दुक्लृप्तं परशिव सकलं व्यश्नुषे स्वात्मना त्वम् ॥९॥

चित्पूजादृक्क्रियात्मा गुरुकथितमहारुद्रमूर्तिः समन्ता-
दात्मीयैरङ्गदेवैरधिगतविषयाज्याहुतिर्निर्विकल्पः ।
निष्कामैरात्मकामैरुपचितयजनैश्चित्स्वतन्त्रैरतन्द्रै-
रात्माग्नौ ब्रह्मविद्यापरिणतमतिभिः श्रीविभो हूयसे त्वम् ॥१०॥

द्वैतं यत्रानघेध्मं पशुरधिपिशितो मृत्युरक्षाणि जिह्वा-
हव्यं चाथ प्रबोधः प्रकटहुतवहो निर्मलात्मैव होता ।
अध्वर्युः स्वच्छचेतो गुरुमुखविदिता मातृकोद्गातृवर्गः
स्वाचार्यो देशिकेन्द्रः परमखभुगसि त्वं परः शम्भुरीशः ॥११॥

यागाश्चान्ये सकामैः पशुभिरिह कृताः सर्वसिद्धान्तकृत्याः
नानायज्ञक्रियाश्च त्रिभुवनभवने चित्रकर्मप्रसाराः ।
विश्वोत्पत्तिप्रतिष्ठाप्रहरणविधयः स्वक्रियाशक्तिबीजाः
सञ्जाताः सर्वतस्त्वं प्रभवसि मनसा चित्रनिर्माणमूर्ते ॥ १२ ॥

इति क्रियाशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं पञ्चमम् ।

षष्ठं प्रकरणम्

नित्यालुप्तात्मशक्तिः सकलतिथिफणापञ्चदश्या प्रदीप्त-
स्त्रुटयादीन् कालवायून्ग्रसदुरुरसनश्चक्रवल्मीकवर्ती ।
सम्यक् चैतन्यगुम्फैरवगतकिरणो विश्वजृम्भैकभर्ता
कृष्णाध्वार्केन्दुयोनिर्भजगपतितनुस्त्वं ततः कुण्डलीशः ॥ १ ॥

स्वस्थात्मा चित्तपूर्वं रविशशिपदवीं पूरितांशुप्रचारां
दीपान्तर्वह्निवेधैरविततगतिभिर्बोधिताधारशक्तिम् ।

तत्तच्चक्रप्रभेदोद्भवविविधमहाशब्दरूपामनन्त-
ब्रह्मानन्दप्रवाहामनुभवसि परामादिसौषुम्णमूर्ते ॥ २ ॥

यस्मात्प्राणः प्ररोहत्युपरिगतिरधः सम्प्रधावत्यपान-
स्तस्मादेवाविरोधात्तदुभयजनिकृद्वायुसंरोधमात्रात् ।
विद्याविद्यादियुग्मप्रसरसमरसाम्बोधिजृम्भैरदम्भैः
सार्द्धं हंसः परस्मिन् महसि खलु लयं प्रैति ते प्राणसूत्रः ॥३॥

सर्वेषामिन्द्रियाणां निजनिजविषयोद्योतनं यत्प्रसूतं
साराः सर्वेषु कर्मस्वनुपमविषयाः साध्वसानन्दकोपाः ।
यज्जाताः सर्वनाडीपथचलदनिलव्याप्तयः सर्वभावाः
नानारूपाश्च सर्वायनपथिकमहास्पन्दकः स त्वमेव ॥ ४ ॥

बुद्ध्वा सद्देशिकोक्त्या सुविदितविभवां खेचरीं दिव्यमुद्रा-
मर्थानन्तप्रपञ्चान्वितनिजकरणान्यात्मचित्ते निरुद्धय ।
तच्चित्तं ज्योतिरङ्गं निरवधिकरणं चिन्त्येद्यः स योगी
निर्वाणः कृष्णवर्त्मा भवति तव महास्पन्दतामेत्य शम्भो ॥

प्राणाख्या कुण्डलिन्या जगदिदमखिलं प्राणितं ते ययेश
ज्ञात्वा यां योगिनस्ते परतरमभयं यान्ति शान्तं पदं तत् ।
यामज्ञात्वा भवाब्धौ जननमरणकृत्क्रूरकर्मप्रबद्धा
मज्जन्त्याद्यन्तहीना यदि कृपयति सा मोचयेन्मृत्युबन्धात् ॥

इति कुण्डलिनीशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं षष्ठम् ।

सप्तमं प्रकरणम्

अज्ञातं ब्रह्मतत्त्वं निजहृदयदरीलीनमात्मप्रकाशं
व्यक्तीकर्तुं स्वनित्याक्षरविदितमहामातृकात्वं प्रपन्नः ।
त्वं दिव्याम्नायविद्यासुविदितमहिमानन्तशक्तिप्रकाश-
स्तत्तद्वर्णात्मभेदैरुपदिशसि पदं श्रीगुरो स्वस्वरूपम् ॥ १ ॥

श्रीशब्दब्रह्ममूर्ते सकलरवमयानाहतध्वानभेदा-
नात्मीयानक्षरस्थान्बहुविधनिनदैर्भूरिवाद्यप्रभेदैः ।
भेरीनिःसाणघण्टादरमुरजमहाशृङ्गनालोरुतालै-
र्वंशैर्यन्त्रैश्च गात्रैर्जलधरपटलैस्त्वं ब्रवीषि ध्वनिज्ञः ॥ २ ॥

तत्त्वानां व्यक्तिहेतुः सकलतिथिगतः सुप्रपूर्यष्टकाङ्ग-
स्त्रीपुंसद्वन्द्वरूपो द्युमणिशशिमहावह्निपादः षडात्मा ।
सर्वाभिप्रायसंवित्प्रकटितविभवस्त्वं महाम्नायविद्या-
सारस्फारस्वरूपः पुरुष इति ततः सोऽक्षरात्मादिवर्णः ॥३॥

रम्योदात्तानुदात्तस्वरितविकृतिगः प्रोच्चनीचोभयस्थो
भेदादष्टादशात्मा महितनिजमहास्फूर्तिरेकोऽक्षरादिः ।
षड्जादिग्रामजातश्रुतिविततलसद्गीतसप्तस्वरोद्य-
न्नानारागान्प्रबन्धानधिवसति भवानादिनित्यस्वरात्मन् ॥४॥

सर्वास्यस्थानवर्णः प्रथमविगणितस्त्वं स्तुतः षोडशीति
स्वेच्छाशक्त्या निरूढद्रढिमनिजमहाप्रौढिमाढौकमानः ।
कालव्यक्तस्त्रिलिङ्गिन्निजगतिविलयान्ह्रस्वदीर्घप्लुतादीन्
विद्याविद्योभयात्मा जनयसि परितः श्रीमहावर्णजातमन् ॥५॥

पक्षद्वन्द्वैककर्तावनिजलहुतभुङ्मारुताकाशमूर्ते
श्रोत्राद्यक्षाणि सर्वाण्यधिगतचरणः स्वप्रकृत्या निबद्धः ।
अन्तःस्थो विश्वरूपः पुरुष इति यतो ज्ञायसे स्वक्रमेण
ज्ञाता वर्गाक्षराणां परमशिव जनैस्त्वं ततो वर्गजोऽसि ॥६॥

सर्वातीतात्मधामानलनिलयपदज्ञापिका मन्त्रविद्याः
सत्याभिप्रायबुद्ध्या शिवगुरुवदनाम्भोरुहाद् भासमानाः ।
नानार्था धातवश्च प्रकटितविभवाश्चित्रवाग्ब्रह्मवेदाः
सर्वं नश्यद्विना त्वां परशिवसहजं वर्णसंयोगरूपम् ॥ ७ ॥

ओङ्कारं स्वात्मवासं श्रुतिभिरभिनुतं वाग्भवं शक्तिबीजं
माबीजं स्मारबीजं परतरविभवं मातृकाबीजयुग्मम् ।
शैवान्त्यं चापि गत्वा षडयनविलसत्कूटषट्कं च भित्वा
हंसः सोऽहं तथा त्वं विरमसि मनसामन्तरे मन्त्रमूर्ते ॥ ८ ॥

विन्द्वेन्दोरूर्ध्वनादैरवकलितकलाव्याप्तिभिः साधिदेवै-
र्नानानन्ताधिदेवैः परिणतिसुलभैः श्रीगुरूक्तागमस्थैः ।
न्यासैर्विद्याविशेषैः श्रुतिसुखविविधानेकसिद्धान्तमन्त्रैः
विष्वक्प्रोतप्रतीको दहसि भवमघं दुष्प्रभामन्त्रवह्नौ ॥ ९ ॥

वर्णास्ते मन्त्रविद्या दशविकरणगा धातवो नित्यशब्दाः
वाक्यान्याम्नायभेदा बहुविधमतजाः साङ्गभेदाश्च भाषाः ।

नाना च्छन्दांसि ताला: स्वरविकृतिगुणा: सर्वतो वाङ्मयस्था:
नानारूपा: परान्गे: समजनिषत ते मातृकाशक्तिबीजात् ।।१०।।

इति मातृकाशक्तिस्कन्धरश्मिप्रकरणं सप्तमम् ।

अष्टमं प्रकरणम्

एवं रात्रिन्दिवस्था: परशिवघटिका एव ते रश्मिभूता:
स्त्रीपुंसद्वन्द्वरूपा रविशशिचरणाक्रान्तयो रक्तशुक्ला: ।
षट्छक्त्यंशप्रभेदा दहरपुरयुगे कोणषट्कान्तरस्था:
कालावस्थाश्चतुर्भि: प्रविदधति युगैर्विश्वभूतैर्निदानै: ।। १ ।।

षट्त्रिंशत्तत्वमालामवनिमुखशिवान्तामुपेतात्मवृत्ति
खे वायौ सप्तविंशत्युडुगणविकृतीर्जीवमाया शिवांशात् ।
तेजस्था: स्वान्तरात्मान्तरतनुविकृतीरस्थिमांसप्रमुख्या:
क्षोण्यां त्वं जीवमायागुणगणमभितो भासयस्यंशुमालिन् ।।२।।

यावन्तस्ते मयूखा: क्षितिजलदहनस्पर्शनाकाशचेत:-
पीठस्था: षट्प्रमाणा: परमधिपतयो भैरवा एव सर्वे ।
तेषां मध्ये त्वमेक: परतरमहिमोज्ज्जृम्भमाण: प्रचण्डो
मार्तण्डो रश्मिमध्यस्थित इव परितो भासि चिद्भैरवाग्ने ।।३।।

भैरव्यो रश्मिदेव्यस्तव शिव करुणापूरिताक्षा: प्रसन्ना-
स्त्वत्सत्ताकाशवाहोदितनिजगतयश्चाविलात्मार्थकृत्या: ।
तद्धामन्येव शान्ता: सुरमुनिपितृभि: पुण्यपापैश्च बद्धान्
भक्ताँश्चानेकबाधाञ्झटिति विघटयन्त्यात्मबोधाग्निजृम्भै: ।।४।।

श्रीनाथ श्रीपरेश्वर परशिव ते दिव्यदिव्या मरीची-
र्ब्रह्मादीनां मनोवागनवगतमहाचित्रनानार्थरूढा: ।
गूढप्रौढप्रकाशा: सुरमुनिवचनैरप्यबुद्धा: कथं वा
स्तोतुं ज्ञातुं समर्थो भवति कविजन: कोऽत्र मन्दो नृमात्र: ।।५।।

इति श्रीषडन्वयरश्मिविवेकस्कन्धप्रकरणमष्टमम् ।

नवमं प्रकरणम्

साङ्गा भूमिः शताङ्गः शतधृतिरपि तत्सारथिः सप्तयस्ते
वेदा ब्रह्मैकवेद्याः पृथुतरचरणौ पुष्पवन्तौ तदक्षः ।
मेरुस्तत्कीलबन्धः कमठपतिरिभास्तत्पृथुस्तम्भपङ्क्तिः,
शेषस्तद्रज्जुबन्धस्तदुपरि पितृभूस्तत्र चिन्त्यो रथी त्वम् ॥१॥

कल्पान्तानन्तसूर्यद्युतिमति विकटानेकदंष्ट्रं षडास्यं
वह्नीन्द्वर्काम्बुकाष्ठादशयुतमभितः प्रज्वलन्तं मयूखैः ।
शूलासीषूग्रशक्त्यङ्कुशवरनृशिरः श्रीफलेष्वासनारि-
द्योतत्पाशाभयाङ्कैर्निजभुजपरिघैस्त्वां गुरुं शम्भुमीडे ॥२॥

नागास्थीन्दुप्रसूतैः श्रवणगतमहाभूषणैः कुण्डलीन्द्रै-
राक्रोशन्मुण्डमालापरिवृतवपुषा दिक्षु जाज्वल्यमानम् ।
मत्तेभेन्द्रोरुकृत्यन्तरघटितकटीमण्डलं साट्टहासं
तं भास्वद्व्योमगर्भोदरविधृतकराङ्गुष्ठमात्रं प्रपद्ये ॥ ३ ॥

नागेन्द्रैः कल्पवृक्षैरधिगतविहगैर्भैरवैर्देवदैत्यैः
भूतैः प्रेतैः पिशाचैः परिवृतमभितो योगिनीभिः श्मशाने ।
सर्वप्रज्ञैकवासं त्रिभुवननिलयं स्वात्मनाध्यात्मदीप्तं
सर्वोत्तीर्णात्मतत्त्वेश्वरमनलमुखं त्वां गुरुं शम्भुमीडे ॥ ४ ॥

नाना ध्यानात्मयोगप्रकटितशिवतासिद्धरूपप्रसादः
स्वेच्छाज्ञानक्रियात्मत्रिशिखविदलितत्र्य्युदीर्णप्रमोहः ।
सत्यज्ञानासिभिन्नप्रमितिजनिरिपुः स्वात्मयोगेषु धारा-
च्छिन्नाविद्यासु लक्ष्यः परमशिव विभो तेन मृत्युञ्जयस्त्वम् ॥५॥

देव ब्रह्माण्डसृष्टिस्थितिलयसमयध्वंसिनी ते त्रिशक्ति-
र्मायाशक्तिप्रचण्डोद्धतघनकरिणी वारिणी सा सृणिस्ते ।
धर्मार्थात्मेष्टमुक्तिप्रवितरणचणस्ते वरस्तेऽप्यभीति-
र्विश्वग्रासोग्रमृत्युप्रतिभयदलिनी तद्भवा मृत्युमृत्युः ॥ ६ ॥

पाशस्ते विश्ववश्यः पितृपतिकृतभीर्हस्तिनी सिंहवृत्ति-
श्चक्रः संसाररात्रिद्युमणिसमुदयस्तावकस्ते पिनाकः ।
आक्रान्ताशेषमोहप्रकृतिविकृतिको मातृकाचित्परात्मा
प्राणास्ते तत्कपालं हतविधिमुखसत्प्रेतचिद्रूपमीश ॥ ७ ॥

एवं ते दिव्यदिव्यायुधपरमहिमा गीयते वेदशास्त्रैः
प्रागुक्तस्ते शताङ्गोऽप्यपि च पितृगणप्रेतशीर्षोच्चरङ्गे ।
उच्चण्डं ताण्डवं ते त्रिभुवनभयकृद्वज्रपाताट्टहासो
भीषास्मात्त्वत्सकाशादपर इव परो नास्ति तेनोग्रवीरः ॥८॥

चित्ताकाशानिलाग्न्यम्ब्ववनितलपतिप्रेतसिंहासनस्थः
षट्छक्तिव्यक्तमूर्तिः षडयनपथिकः सोमसूर्याग्निपादः ।
ब्रह्माग्निः सप्तजिह्वाकवलितविषयीभूतविश्वप्रपञ्च
स्थूलोऽपि ध्यानदृष्टेस्त्वमधिकतमसां ज्योतिषामप्यगम्यः ॥९॥

इत्युक्तध्यानचिन्त्योऽप्यनवगतमनोवाक्प्रवृत्तिस्वभावः
स्वच्छन्दात्मीयसत्ता चिदुचितविभवः पावकः शम्भुरूपः ।
सर्वातीतस्वभावोऽप्युपनिषदुदितज्ञानमीमांस्यमानः
सत्त्वं यस्यान्तरङ्गे निवसति स शिवस्त्वन्मयः स्यान्महेश ॥१०॥

श्रीमानप्यादिभिक्षुस्त्रिभुवनजनकोऽप्यात्मभूरागमोक्ति-
व्याख्यावेद्योऽप्यवाचः प्रकृतिसुविमलोऽप्यात्ममायाविलासः ।
तत्त्वादेकोऽप्यनेकः परयुवतिरतोऽप्यात्मवित्सेव्यमानः
तस्मात्स्वच्छन्दलीलस्त्वमिह विजयसे मानसीं भाववृत्तिम् ॥

इति श्रीपावकध्यानयोगप्रकरणं नवमम् ।

दशमं प्रकरणम्

द्रष्टव्यस्त्वं जगद्भिर्बहुविधविधिभिः सर्वसिद्धान्तवाक्यैः
श्रोतव्यो निर्विकल्पः शिवगुरुवदनाम्भोरुहेण प्रबुद्धः ।
मन्तव्यः सर्वतत्त्वावकलितचरणस्तन्निदिध्यासितव्यः
सत्तामात्रावलम्बीत्यमरनुतपदो नास्ति देवस्त्वदन्यः ॥ १ ॥

उग्रं शान्तं च वीरं सकलमयमहाविष्णुमग्निं ज्वलन्तं
सर्वत्रानन्तवक्त्रं नरमृगवपुषं भीषणं सर्वभद्रम् ।
सर्वज्ञं मृत्युमृत्युं वहुविधनुतिभिर्वन्दितं सर्वलोकैः
विश्वाहङ्कारजृम्भं परमशिवगुरुं त्वां भजे मन्त्रराजम् ॥२॥

शम्भो त्वां भूर्भुवःस्वर्महरुदिततनुं त्वन्तरिक्षद्युसूर्या-
रज्ञाचार्येन्दुशुक्रार्किभिरपि निगमब्रह्मभिः प्रोतशक्तिम् ।

प्राणापानादिभेदैः कलयति सकलं मानसं ध्यानयोगं
येषां तेषां सपर्या भवति सुरकृतब्रह्मता योगिता च ।। ३ ।।

सर्वोत्कृष्टं परं तत्सवितुरनुपमं ते वरेण्यं शरण्यं
भर्गो देवस्य धीमह्यभिदधति धियो यो न इत्यौर्वतेजः ।
तुर्यं सर्वाणि भूतान्यधिगतममलं सर्वतो दृक्क्रमाद्यं
ध्यायामि ध्येयमन्तःकरणसुनियतैर्योगिभिः श्रीमहेश ।। ४ ।।

कालोऽनन्तो युगात्मा शिव दिवसनिशापक्षमासास्तथाब्दाः
तद्भेदाः षड्ऋतुस्थास्तदनुगतजगत्सर्ववृत्तान्तभेदाः ।
दानायज्ञक्रियाश्च त्रिदशदितिसुता मानुषाः सर्वनागाः
योगीन्द्रा जीवसङ्घास्तवचरणबिलं यान्ति जन्मान्तमध्यात् ।।५।।

भूतं भव्यं भविष्यत्त्रिभुवनभवने षण्महाशक्तिभिस्त्वं
तत्सर्वं व्यश्नुवानो विचरसि कलितः सृष्टिगत्यन्तकामैः ।
देवैर्दैत्यैर्मनुष्यैरुरगपतिकुलैः सर्वजीवप्रसारै-
रत्मीयैश्चित्रिताङ्गः शिव भवतमसः सूर्यभास्त्वं परस्तात्।।६।।

श्रोता स्पर्शी च द्रष्टा निजरसरसिकः सर्वगन्धान्तरज्ञो
वक्ता कर्ता च गन्ता त्रिभुवनभवतो विश्वसर्गः प्रमोदी ।
कामी मीमांसकश्च प्रथितशुचिशिखासप्तकव्याप्तविश्वो
बोद्धा स्वार्थाननन्तानधिगतचरणः सर्वतस्त्वं शिवोऽसि ।।७।।

सर्वार्थी सर्वनामा सकलकुलपतिः सर्वलोकाङ्गनेशः
शृङ्गारी सर्वभोगी नवरसरसिकः प्राज्यसाम्राज्यभोक्ता ।
त्रैलोक्ये वाक्प्रपञ्चे प्रवचनपठितः सोमयाजी च यज्ञः
संसारी कामचारीत्यनुवदति जनो यः स धन्यः शिव त्वाम् ।।

क्षेत्रं क्षेत्रप्रमाता शिवगुरुवदनाघोरविद्याधिदेवो
मन्त्रो मन्त्राधिदेवो मखविधिरनघो योगयोग्यः पदार्थः ।
त्वं दर्शः पूर्णमासः परिधिरपि मखाचार्यवर्यश्च होतो-
द्गाताध्वर्युश्च हव्यं त्रिविधहुतवहस्त्वां विना नास्ति शम्भो ।।

क्षेत्रज्ञाः सर्वदेवाः सुरनरभुजगाः सर्वजीवाश्च तच्च
क्षेत्रं ब्रह्माण्डरूपं त्रिभुवनभवनव्यापकं चित्ररूपम् ।
एतावद्व्याप्य तत्र स्थितमखिलजगद्भुक्तभोक्तारमग्निं
ज्ञात्वा षट्छक्तिभिस्त्वां परमशिव महामृत्युमत्येति विद्वान् ।।

उक्तक्षेत्राधिदेवे परतरपुरुषे त्वय्यनन्तस्वरूपे
दिव्याम्नाया गुरूक्ता निजनिजनियतिस्फूर्तयः सर्ववेदाः ।
साङ्गोपाङ्गाश्च शास्त्राण्यधिगतमहिमान्योऽन्यसिद्धान्तविद्या
भाषा स्वार्थैर्विभान्ति त्रिणयन भवतो विश्वमूर्तेः परः कः ॥

मूलं व्योमैव वायुज्वलनजलधरा मध्यमं यस्य शाखा
देवाः पर्णानि दैत्याः किसलयनिचया मानुषाश्च प्रतानाः ।
नागाः पुष्पाणि जीवा बहुविधतनवो पक्वसस्यप्रबोधो
विश्वन्यग्रोधकद्रोः परमशिव भवान् बीजभूतो विभाति ॥१२॥

मायारूपेण कालो जननमरणकृन्सर्वजीवाङ्गवृत्ते-
र्विद्यारूपेण कालान्तक इति विनुतः स त्वमेवापरो न ।
देहाहङ्कार एवान्तक इति गुरुणा यः प्रविज्ञाय मायां
जागर्त्यात्मप्रबोधे शिव तव कृपया सोऽत्र मृत्युञ्जयः स्यात् ॥

त्वं नाथस्त्वं गुरुस्त्वं परपदजनिताम्नायविद्यार्थकोश-
स्त्वं शम्भुस्त्वं परेशः परतरमहिमा त्वं परा त्वं पराग्निः ।
त्वं भानुस्त्वं सुधांशुस्त्वमपि च जननी त्वं पिता त्वं सुमित्र-
स्त्वंभ्राता बान्धवस्त्वं त्वमसि धननिधिस्त्वां विना नास्ति मेऽन्यः

शब्दार्थाधारभूतं त्रिभुवनजनकं सर्वतो दिक्सतत्त्वं
त्रैलोक्यस्थायि लिङ्गत्रयविदितपदं सर्वतत्त्वैकवेद्यम् ।
सर्वानिर्वाच्यसत्तागतपरविभवज्योतिरुज्जृम्भमाणं
व्यक्तीकृत्यात्मवर्णैः प्रकटयसि परं तत्त्वमात्मीयमग्रे ॥१५॥

त्वे विश्वं विश्वहेतुर्विरहितकरणे विश्वकार्यैककर्ता
विश्वातीतश्च विश्वेश्वर इति बहुधा निश्चितश्चाक्षरज्ञैः ।
अद्वैतात्मप्रबोधानलबहुलशिखार्चितात्मीयहव्यः
श्रीशम्भो विश्वसत्ता परतरवियति प्रैषि निर्वाणपूजाम् ॥१६॥

एवं यः स्तौति मूर्तिं त्रिभुवनमहतीं विष्वगाश्चर्यचर्या-
मन्तर्बाह्यागमोक्तिप्रविनुतविभवामादिमध्यान्तहीनाम् ।
सौम्योग्राकारदेवासुरनरभुजगानेकजीवप्रभेदो-
त्पत्तिस्थित्यन्तभूमिः स भवति जगदाश्चर्यवानेव शम्भो ॥१७॥

इति महाविभूतिप्रकरणं दशमम् ।

एकादशं प्रकरणम्

का पूजा पूजकः कः शिवगुरुरिति कः को विधिः कश्च मन्त्रः
किं पीठं किं प्रसूनं किममलसलिलं केऽत्र सर्वोपचाराः ।
निर्द्वन्द्वस्यात्मनस्ते द्वयमिति रचितं सर्वमेतत्कथं स्या-
त्सन्तोषार्थे महेश त्रिकरणविमलज्ञानपूजाप्रसन्नाः ॥ १ ॥

त्रैकाल्यं सर्वतस्ते सकलजगदिदं व्यश्नुवानात्मसत्ता-
विस्फूर्तेरष्टमूर्तेरखिलजनमनःप्रोच्चसिंहासनस्य ।
कस्मादावाहनं स्याद्बहिरिह चरितं क्वासनं चन्द्रमौले-
र्माया संसारभावो रचयति नितरामात्मभोगाय भेदम् ॥२॥

आधारोऽग्निः सुपात्रं रविरमृतकलानायकः पूर्णमर्घ्यं
शक्तीशस्त्वं प्रपूज्यः षडवयवयुतस्तत्र पात्रप्रवर्गे ।
पाद्यं ते तर्पणं च प्रभवति समुदे वाह्ययागार्घ्यपात्रैः
सन्तुष्टः स्याः कथं त्वं परशिवविमलज्ञानदुग्धाब्धिशायिन् ॥३॥

भास्वच्चन्द्राग्निबिम्बोदितविमलशिवज्ञाननित्यप्रमोद-
ज्ञानानन्दप्रवाहस्त्रिगुणितसरितो मुख्यनाडीत्रयस्थाः ।
कालिन्दीजह्नुकन्यान्तरसरिदभिधास्ते तनुस्नानकृत्ये
सृष्टा हृल्लिङ्गमूर्तेः कथमितरजलैः स्यात्तव स्नानमत्र ॥४॥

लज्जारागादिमायातिमिरदिनकरीभूतचेतः प्रबोध-
ज्योतिः पुञ्जप्रवृत्तेर्गतभवतमसो दिक्पटालङ्कृतस्य ।
प्रज्ञायज्ञोपवीतैरुपचितवपुषः प्रेतभस्माङ्गराग-
स्यान्ये मिथ्योपचारास्तव वसनमहासूत्रबन्धानुलेपाः ॥ ५ ॥

सर्वाहिंसेन्द्रियाश्वद्रुतगतिशमनं सर्वभूतानुकम्पा-
शान्तिः सत्यं प्रबोधो गुरुकथिततपो निश्चलध्यानदृष्टिः ।
श्रद्धा भक्तिश्च नित्यं निजविषयपरित्यागिता निःस्पृहत्वं
संवित्पूज्येति पुष्पाण्यमल शिव भवत्पूजनाय क्रियन्ते ॥ ६ ॥

ब्राह्म्याद्या मातरोऽष्टौ स्वविषयकुसुमैरात्मभावप्रसूनैः
योगिन्यः शक्तयस्ते निजनिजमहिमस्फूर्तिसन्मञ्जरीभिः ।
त्वद्भावं भावयद्भिस्तव किरणमहाभैरवैरात्तसङ्गा-
स्त्वां श्रीचिद्भैरवेशं परमशिवगुरुं पूजयन्ति स्मरन्त्यः ॥७॥

सद्विद्याङ्गारमध्यार्पितसततमहावासनाभ्यासधूपैः
श्रीमद्वक्त्रारविन्दोदितसकलकुलाम्नायबोधप्रदीपैः ।
सर्वाक्षार्थान्न भेदैरुपरचितमहादिव्यनैवेद्यपानै-
राराध्यो योगिभिस्त्वं कथमितरकृतैस्तोष्यसे श्रीपरेश ॥८॥

इत्यन्तर्यागोपचारपरामर्शप्रकरणमेकादशम् ।

द्वादशं प्रकरणम्

विद्या नाना विभूषा मृगमदघनसारादिसौरभ्यवस्तु-
प्रोतश्रीचन्दनानि प्रविकचकुसुमान्यद्भुतान्यम्बराणि ।
नानामोदाश्च धूपाः क्रमुकशकलवद्वीटिकाः पानभेदाः
नानापात्राणि भूम्याः परशिव भवतः पूजनाय क्रियन्ते ॥१॥

सप्तैते मण्डलस्थाश्चरुजलनिधयो दिव्यनैवेद्यराशी-
न्नाना पक्वान्नभेदान्विविधपिशितवच्छाकनानोपदेशान् ।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं विविधशशिसुधास्वादवद्वस्तु लेह्यं
हालादध्याज्यदुग्धान्यपि विदधति ते सूपहाराय शम्भो ॥२॥

मन्त्राकारैः प्रदीपैर्दहनरविकलानाथनक्षत्रमाला-
विद्युन्माणिक्यमुक्तारजतकनकधात्वादिनानाप्रकाशैः ।
युष्मन्नीराजनायै विरचितरचनः स्वप्रकाशादिमूर्ति
सर्वानन्दात्मरूपं परमशिवगुरुं भासयत्यौर्वतेजः ॥ ३ ॥

मुद्रा नानार्थपोषानतिपथचलितानष्टयोगाँश्च नाट्यं
तीर्थाक्रान्ति प्रणामं निजकरणगतिं सर्वसिद्धान्तवाचः ।
कर्माज्ञानप्रवाहान्व्यजनमपि महाचामराण्यातपत्रं
हस्त्यश्वादीन् रथाँस्ते परेशिवचरणाध्यास्य दास्यं विधत्ते ॥

आकाशः शब्दभेदैः प्रलयजलधरामन्ददम्भोलिजृम्भै-
र्भेरीनिःसाणवाद्यैर्दरनिकररवैर्भूरिघण्टानिनादैः ।
तालैर्नादैर्मृदङ्गैर्मुरजडमरुकैर्गीतसद्वल्लकीभिः
सर्वैर्वाद्यप्रभेदध्वनिभिरिह विभो नाथ पूजां करोति ॥ ५ ॥

शम्भव्यो रश्मिदेव्यः समरसमुदिता मातृकावर्णरूपा
भास्वन्तो भैरवाष्टावपि सरसकलापानमत्ताः क्रमस्थाः ।

वेदान्तैरागमान्तैरभिदधति वरं शाम्भवं वैभवं ते
सर्वानिर्वाच्यसत्तावियदुदितपदं श्रीविभो विश्वमूर्ते ॥ ६ ॥

योगिन्यः क्षेत्रपालाः सरसमधुमदा वेदशास्त्रार्थतत्त्व-
व्याख्यानध्यानवक्त्राः पितृवनदशदिग्वृक्षगा भैरवाश्च ।
सौधास्वादप्रमत्ताः प्रकटितविकटाटोपसिंहाट्टहासाः
स्वस्वव्यापारपुष्पैः परमशिवगुरुं त्वां विभो पूजयन्ति ॥ ७ ॥

भूताः प्रेताः पिशाचाः स्वविकृतिविभवैः प्राप्तवीभत्सवेषा
योगिन्यस्ते श्मशानावरणगतमहादेवता भासयन्ति ।
देवास्ते पूर्वदेवा मधुरसमुदिता विस्मयाविष्टचित्ताः
शान्ता ध्यायन्ति गायन्त्यपि परमशिव त्वां मुदोपासते च ॥८॥

ब्रह्मा वेदोक्तिगानैर्हरिरपि कमलैस्ताण्डवैश्चण्डरुद्रा-
स्तौर्यत्रय्या महेन्द्रो निजनिजविषयैरन्यदिक्पालदेवाः ।
सिद्धाः सर्वे मुनीन्द्रा स्तुतिनतिवचनैः सर्वदुर्गागणेशा
नृत्तैर्वाद्यप्रभेदैर्विदधति सुमुदं ते महादेव शम्भो ॥ ९ ॥

सन्तप्तः प्रेतसिंहासनविहितमहाभैरवः शाम्भवाग्निः
पञ्चाशद्विस्फुलिङ्गाक्षरविदितपराघोरविद्योग्रतेजाः ।
सत्यान्तर्यज्ञदेवस्त्रिभुवनहविषा तोषितात्मीयरश्मि-
र्वागर्थव्यक्तभावात्सकलमिह तनुं व्यश्नुवानो विभाति ॥१०॥

सर्वज्ञानैकभूमिस्त्रिभुवनकरवीराख्यशून्यश्मशान-
ज्ञानाकूपारपूरश्रुतमुखबहुविच्छास्त्रबोधोदवाहान् ।
प्रज्ञां गाम्भीर्यगर्वाद्ग्रसति रविरिव स्वप्रकाशात्प्रकाशा-
नन्यानिन्द्वडुमुख्यान्निविडतररुचिर्ध्वान्तपूरांस्तवाग्निः ॥ ११ ॥

श्रीशम्भो विश्वमूर्ते परमशिव गुरो नाथ विश्वेश्वरात्म-
न्नेषाशेषार्थवद्वाक्प्रसवविरचिता स्रग्धरावृत्तपूजा ।
त्वय्येव ज्ञानवह्नौ हुतवहरसने संहृता मुक्तये मे
भूयादागः क्षमस्व प्रवचनपठितः श्रीविभो मे प्रसीद ॥१२॥

इति विशेषोपचारपरामर्शे शान्तिप्रकरणं द्वादशम् ।

त्रयोदशं प्रकरणम्

इति तव कृपादोग्ध्री पूजा सुभक्तिस्रुतामृता
जननमरणप्रादुर्भावप्रभेदपटीयसी ।
जनयति मुदं ब्रह्मानन्दप्रवाहतरङ्गिणीं
दहति विपदः पुण्यं पापं दुरन्तभवाटवीम् ॥ १ ॥

परशिव मम जन्म धन्यमेत-
त्तव महिमस्तुतिमोचितो यतोऽहम् ।
कुलमिदमखिलं द्विधा विभिन्नं
परमपदं गतमेव ते प्रसादात् ॥ २ ॥

हतो मायामृत्युर्गुरुवचनखड्गेन मनसः
प्रभिन्नं मालिन्यं व्यपहृतमहङ्कारतिमिरम् ।
हृता मे कामाद्याः प्रबलरिपवः स्वात्मविषयाः
महेश त्वत्सेवाविदितसुविवेकाग्निमहसा ॥ ३ ॥

जातिर्लज्जा निजकुलमदः सर्वसंशीतिराधि-
र्देहाहन्ता सुकृतदुरितद्वन्द्वपाशोऽभिमानः ।
सर्वे ह्येते मम विनिहतास्त्वन्महावाक्यसूर्य-
ज्योतिःपुञ्जैः किमपरमहं देव भद्रं समीहे ॥ ४ ॥

मद्विद्याभ्यसनमभूदिहैव सार्थं
सान्निध्यात्तव च तदुक्तिगोचरस्य ।
अद्य त्वं त्रिभुवनवाङ्मनस्यलभ्यो
निर्बाधः सकलपथैकगम्यमूर्ते ॥ ५ ॥

श्रुतिस्मृतिमिथःपथे प्रचलितोऽहमेकान्ततः
प्रचोः शिवगुरोस्तव त्रिजगदुन्नताज्ञां गतः ।
भजामि परपावकं त्रिजगदात्महव्याशिनं
भवन्तमधिदैवतं भववने ज्वलन्तं स्वतः ॥ ६ ॥

ब्रह्मत्वं सुरनायकत्वमखिलं क्षोणीपतित्वं लसद्-
ब्राह्मण्यं सुरयक्षनागपितृता गन्धर्वता सिद्धता ।
एतत्सर्वमनित्यमेव गणितं नाहं समीहे सुखं
किन्तु त्वत्पदपद्मनिश्चलतरध्यानं समीहे विभो ॥ ७ ॥

सम्प्राप्ता कृतकृत्यता सफलता वाचां तव स्तोत्रता
मृत्योरप्रमितैश्च मृत्युरभवद्वश्यं गतं त्वत्पदम् ।
संसारानवधिप्रचण्डजलधिस्तीर्णः प्रमोहो हतः
पुण्यं पापमगाद्विनाशमिह मे प्राप्तः प्रबोधो विभो ॥ ८ ॥

इति परशिवशम्भोऽनन्तकान्ते महिम्न-
स्तव विरचितमेतत्स्तोत्रमात्मोक्तिशक्त्या ।
प्रभवतु सुमुदे ते त्वं मम स्वान्तवर्ती
भव भवगतदुःखं छिन्धि चागः क्षमस्व ॥ ९ ॥

यावांस्ते जीवलोकः परशिवचतुराशीतिलक्षैकसंख्य-
स्तत्तत्कर्मप्रभेदोपगतजनिमृती घोरसंसारचक्रे ।
सृष्टिस्थित्यन्तवृत्ति भजति निरवधित्वत्पदध्यानहीनो
दृष्ट्वैनं भीतभीतं शरणमुपगतं त्राहि मां देव मृत्यो ॥१०॥

दुर्वासाः सत्यवासाः कनकगिरिरहं कन्दरे मे हृदाख्ये
श्लोकाश्चैते मृगेन्द्राः पदनखदशनाः शाम्भवास्त्रैकवीर्याः ।
मायाध्वान्तेभयूथप्रदलनपटवो ब्रह्मविद्याटवीस्थाः
वक्तॄन्श्रोतॄन्प्रमातॄन्निजहृदयगुहाब्रह्मसत्तां नमन्ति ॥ ११ ॥

भूष्यं वैदुष्यमुद्यद्दिनकरकिरणाकारमाकारतेजः
प्रज्ञानं भूरिमानं निजकरकलितं दुर्गमं योगमार्गम् ।
आयुष्यं ब्रह्मपोष्यं हरगिरिविशदां कीर्तिमभ्येत्य भूमौ
देहान्ते ब्रह्मपारं परशिवचरणाकारमभ्येति विद्वान् ॥ १२ ॥

ये श्रीशाम्भवशासने कृतधियः श्रीशासने कर्मठाः
श्रौतस्मार्तविधिष्वमन्दमतयः सत्यव्रता ब्राह्मणाः ।
विद्वांसः सकलागमेषु च कलाविद्यासु ते शाम्भव-
ब्रह्मप्राप्तिमवाप्नुवन्ति पठनाच्छम्भोर्महिम्नः स्तुतेः ॥ १३ ॥

स्त्रोत्रं चैतत्पठेद्यः शिवगुरुवदनाघोरविद्यात्तदीक्षः
सत्यज्ञानप्रकाशात्प्रबलभवरिपुं पुण्यपापाद्यविद्याम् ।
भित्त्वा मुक्तो विकल्पस्त्रिजगति महितं सौख्यमात्मप्रबोधं
तेजः कीर्तिं च लक्ष्मीमभिलषितपदं व्यश्नुते स्त्रोत्रवीरः ॥१४॥

महिम्नः स्तोत्रस्य त्रिभुवनगुरोर्यो जपरतः
पराशक्तेस्तत्त्वं परशिवपदं वेत्ति स बुधः ।

अगाधं गाम्भीर्यं स्तुतिगतमनन्तप्रमितिजं
समस्ताः सिद्धीरप्यनुभवति गच्छेत्परपदम् ॥ १५ ॥

श्रीक्रोधभट्टारकदिव्यनाम्ना दुर्वाससा सूक्तमहामहिम्नः ।
स्त्रोत्रं पठेद्यो भुवनाधिपत्यं नित्यं गुरुत्वं शिवतामुपैति ॥१६॥

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः ।
अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥ १७ ॥

सदसदनुग्रहनिग्रहगृहीतमुनिविग्रहो भगवान् ।
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ॥ १८ ॥

श्रीगुरुकरुणालक्ष्यो यः कोप्यात्मविदनुगृहीतिपरः ।
परशम्भुस्तुतिबोधो जगदाधारो भवेत्सदा धीरम् ॥ १९ ॥

परशम्भोस्स्तव पद्यं रविप्रकरणं पठंस्त्रिकालेऽपि ।
रविरिव जगत्प्रकाशमतिचातुर्याज्जगद्गुरुर्भवति ॥ २० ॥

तस्मात्स्मृतिमतिबुद्धिप्रज्ञावानात्मविन्महादेवः ।
परशम्भोस्तव हृदयं सत्पात्रेषु प्रकाशयेत् सदयम् ॥ २१ ॥

इति श्रीदूर्वासाकृतपरशम्भुमहिम्नः स्तवे उपसंहारप्रकरणं त्रयोदशम् ।

इति श्रीक्रोधभट्टारकापरनाम्ना महामहिम्ना दुर्वाससा मुनीश्वरेण
विरचितः परशम्भुमहिम्नःस्तवः सम्पूर्णः ।

श्रीसुभगोदयस्तुतिः

भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित्सुखवपुः
  पराकारां देवीममृतलहरीमैन्दवकलाम् ।
महाकालातीतां [1]कलितसरणीकल्पिततनुं
  सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम् ॥ १ ॥

मनस्तत्त्वं जित्वा नयनमथ नासाग्रघटितं
  [2]पुनर्व्यावृत्ताक्षः स्वयमपि यदा पश्यति पराम् ।
तदानीमेवास्य स्फुरति बहिरन्तर्भगवती
  परानन्दाकारा परशिवपरा काचिदपरा ॥ २ ॥

मनोमार्गं जित्वा मरुत इह नाडीगणजुषो
  निरुध्यार्कं सेन्दुं दहनमपि सञ्ज्वाल्य शिखया ।
सुषुम्णां संयोज्य श्लथयति च षड्ग्रन्थि शशिनं
  तवाज्ञाचक्रस्थं [3]विलयति महायोगिसमयी ॥ ३ ॥

यदा तौ चन्द्रार्कौ निजसदनसंरोधनवशा-
  [4]दशक्तौ पीयूषस्रवणहरणे सा च भुजगी ।
प्रबुद्धा क्षुत्क्रुद्धा दशति शशिनं बैन्दवगतं
  सुधाधारासारैः स्नपयसि तनुं बैन्दवकले ॥ ४ ॥

पृथिव्यापस्तेजः पवनगगने तत्प्रकृतयः
  [5]स्थितास्तन्मात्रास्ता विषयदशकं मानसमिति ।
[6]ततो माया विद्या तदनु च महेशः शिव इतः
  परं तत्त्वातीतं मिलितवपुरिन्दोः परकला ॥ ५ ॥

कुमारी यन्मन्द्रं ध्वनति च ततो योषिदपरा
  कुलं त्यक्त्वा [7]रौति स्फुटति च [8]महाकालभुजगी ।
ततः पातिव्रत्यं भजति दहराकाशकमले
  सुखासीना योषा भवसि भवसीत्काररसिका ॥ ६ ॥

---

१. कलितसरणिं कल्पिततनुं । २. पुनर्व्यावृत्ताक्षिद्वयमपि । ३. श्लथयति, विलसति । ४. दशक्ता । ५. स्थितास्तन्मात्राप्ता । ६. तया । ७. काचित् । ८. महाकालपतगी, महानीलभुजगी ।

त्रिकोणं ते कौलाः कुलगृहमिति प्राहुरपरे
चतुष्कोणं प्राहुः समयिन इमे बैन्दवमिति
[१]सुधासिन्धौ तस्मिन्सुरमणिगृहे सूर्यशशिनो-
रगम्ये रश्मीनां समयसहिते त्वं [२]विहरसे ॥ ७ ॥

त्रिखण्डं ते चक्रं शुचिरविशशाङ्कात्मकतया
मयूखैः [३]षट्त्रिंशद्दशयुततया खण्डकलितैः ।
पृथिव्यादौ तत्त्वे पृथगुदितवद्भिः परिवृतं
[४]भवेन्मूलाधारात्प्रभृति तव षट्चक्रसदनम् ॥ ८ ॥

शतं चाष्टौ वह्नेः शतमपि कलाः षोडश रवेः
शतं [५]षट् च त्रिंशत्सितमयमयूखाश्चरणजाः ।
य एते षष्टिश्च त्रिशतमभवंस्त्वच्चरणजा[६]
[७]महाकौलैस्तस्मान्न हि तव शिवे कालकलना ॥ ९ ॥

त्रिकोणं चाधारं [८]त्रिपुरतनु तेऽष्टारमनघे
[९]भवेत्स्वाधिष्ठानं पुनरपि दशारं मणिपुरम् ।
दशारं ते संवित्कमलमथ मन्वश्रकमुमे
विशुद्धं स्यादाज्ञा शिव इति ततो बैन्दवगृहम् ॥ १० ॥

त्रिकोणे ते वृत्तत्रितयमिभकोणे वसुदलं
कलाश्रं मिश्रारे भवति भुवनाश्रे च[१०] भुवनम् ।
चतुश्चक्रं शैवं निवसति [११]भगे शाक्तिकमुमे
प्रधानैक्यं षोढा भवति च तयोः शक्तिशिवयोः ॥ ११ ॥

कलायां बिन्द्वैक्यं तदनु च तयोर्नादविभवे
तयोर्नादैनैक्यं तदनु च कलायामपि तयोः ।
तयोर्बिन्दावैक्यं त्रितयविभवैक्यं परशिवे
[१२]तदेवं षोढैक्यं भवति हि सपर्या समयिनाम् ॥ १२ ॥

---

१. सुधासिन्धोस्तस्मिन् । २. विहरसि । ३. षट्त्रिंशत्त्रिशतयुतमाखण्ड०, षट्त्रिंशच्छतयुततया । ४. भवेन्मूलाधारप्रभृति । ५. षट्त्रिंशद्द्वे षट्त्रिंशद्वै सितमयि । ६. ०चरणगा । ७. महाकालस्तस्मात् । ८. त्रिभुवननुते, त्रिभुवननुतेऽष्टार० । ९. तव स्वाधिष्ठानं भगवति । १०. त्रिभुवनम् । ११. दशे शक्तिकमुमे, भगे शाक्तकमुमे । १२. तथैवं ।

कला नादो बिन्दुः क्रमश इह वर्णाश्च चरणं
षडब्जं चाधारप्रभृतिकममीषां च मिलनम् ।
[1]तदेवं षोढैक्यं भवति खलु येषां समयिनां
चतुर्थैक्यं तेषां भवति हि सर्पया समयिनाम् ॥ १३ ॥

तडिल्लेखामध्ये स्फुरति मणिपुरे भगवती
चतुर्धैक्यं तेषां भवति च चतुर्बाहुरुदिता ।
धनुर्बाणानिक्षूद्भवकुसुमजानङ्कुशवरं
तथा पाशं बिभ्रत्युदितरविबिम्बाकृतिरुचिः[2] ॥ १४ ॥

भवत्यैक्यं षोढा भवति भगवत्याः समयिनां
मरुत्वत्कोदण्डद्युतिनियुतभासा समरुचिः ।
भवत्पाणिव्रातो दशविध इतीदं मणिपुरे
भवानि प्रत्यक्षं तव वपुरुपास्ते न हि परम् ॥ १५ ॥

इत्यैक्यनिरूपणम् ॥

भवानि श्रीहस्तैर्वहसि फणिपाशं सृणिमथो
धनुः पौण्ड्रं पौष्पं शरमथ जपस्रक्शुकवरौ ।
अथ द्वाभ्यां मुद्रामभयवरदानैकरसिकां[3]
क्वणद्वीणां द्वाभ्यां [4]त्वमुरसि कराभ्यां च बिभृषे ॥ १६ ॥

त्रिकोणैरष्टारं त्रिभिरपि दशारं समुदभू-
द्दशारं भूगेहादपि च भुवनाश्रं समभवत् ।
ततोऽभून्नागारं नृपतिदलमस्मात्त्रिवलयं
[5]चतुर्द्धाःप्राकारत्रितयमिदमेवाम्ब [6]शरणम् ॥ १७ ॥

चतुःषष्टिस्तन्त्राण्यपि [7]कुलमतं निन्दितमभू-
द्यदेतन्मिश्राख्यं मतमपि भवेन्निन्दितमिह ।
शुभाख्याः पञ्चैताः श्रुतिसरणिसिद्धाः प्रकृतयो
महाविद्यास्तासां भवति [8]परमार्थो भगवती ॥ १८ ॥

स्मरो मारो मारः स्मर इति [9]परो मारमदन-
स्मरानङ्गाश्चेति[10] स्मरमदनमारा स्मर इति ।

---

१. तथैवं । २. ०कृतिरुचिम् । ३. ०रसिके । ४. उरसि च । ५. चतुर्धा । ६. चरणम् । ७. कुलमतं निन्दितमिदं यदेत० । ८. परमार्था, परमार्थो भगवति । ९. स्मरो । १०. ०श्चैते ।

त्रिखण्डः खण्डान्ते [1]कलितभुवनेश्यक्षरयुत-
श्चतुःपञ्चार्णास्ते त्रय इति च पञ्चाक्षरमनुः[2] ॥ १९ ॥

त्रिखण्डे त्वन्मन्त्रे शशिसवितृवह्न्यात्मकतया
स्वराश्चन्द्रे लीनाः सवितरि कलाः कादय इह ।
यकाराद्या वह्नावथ कषयुगं बैन्दवगृहे
निलीनं सादाख्ये शिवयुवति नित्यैन्दवकले ॥ २० ॥

ककाराकाराभ्यां स्वरगणमवष्टभ्य निखिलं
कलाप्रत्याहारात्सकलमभवद्व्यञ्जनगणः ।
त्रिखण्डे स्यात्प्रत्याहरणमिदमन्वक्कषयुगं[3]
क्षकारश्चाकारोऽक्षरतनुतया चाक्षरमिति ॥ २१ ॥

[4]विदेहेन्द्रापत्यं श्रुत इह ऋषिर्यस्य च मनो-
रगं चार्थः सम्यक्श्रुतिशिरसि तैत्तिर्यकऋचि ।
ऋषिं हित्वा चास्या हृदयकमले नैतमृषिमि-
त्यृचाभ्युक्तः पूजाविधिरिह भवत्याः समयिनाम् ॥ २२ ॥

त्रिखण्डस्त्वन्मत्रस्तव च सरघायां निविशते
श्रियो देव्याः शेषो यत इह समस्ताः शशिकलाः ।
त्रिखण्डे त्रैख्यडचं निवसति समन्त्रे च सुभगे
षडब्जारण्यानी त्रितययुतखण्डे निवसति ॥ २३ ॥

त्रयं चैतत्स्वान्ते परमशिवपर्यङ्कनिलये
परे [5]सादाख्येऽस्मिन्निवसति चतुर्धैक्यकलनात् ।
स्वरास्ते लीनास्ते भगवति कलाश्रे च सकलाः
ककराद्या वृत्ते तदनु चतुरश्रे च यमुखाः ॥ २४ ॥

हलो बिन्दुर्वर्गाष्टकमिभदलं शाम्भववपु-
श्चतुश्चक्रं [6]शक्रस्थितमनुभयं शक्तिशिवयोः ।
निशाद्या दर्शाद्याः श्रुतिनिगदिताः [7]पञ्जदशधा
भवेयुर्नित्यास्तास्तव[8] जननि मन्त्राक्षरगणा ॥ २५ ॥

---

१. कलितभुवने ते क इति यः । २. ०मनोः । ३. ०मञ्चत्कषयुगं । ४. विदेहो नैर्ऋत्याः सुत इह ऋषिर्यः स च । ५. सादाख्यास्मिन् । ६. शक्तास्थित०, शक्तौ स्थित० ७. पञ्चदश ता । ८. ०नित्याप्तास्तव ।

इमास्ताः षोडस्यास्तव च सरघायां शशिकला-
स्वरूपायां लीना निवसति तव श्रीशशिकला ।
अयं प्रत्याहारः श्रुत इह कलाव्यञ्जनगणः
ककारेणाकारः स्वरगणमशेषं कथयति ॥ २६ ॥

क्षकारः पञ्चाशत्कल इति [1]हलो बैन्दवगृहं
[2]ककारादूर्ध्वं स्याज्जननि तव नामाक्षरमिति ।
भवेत्पूजाकाले मणिखचितभूषाभिरभितः
प्रभाभिर्व्यालीढं भवति मणिपूरं सरसिजम् ॥ २७ ॥

वदन्त्येके वृद्धा मणिरिति जलं [3]तेन निबिडं
परे तु त्वद्रूपं मणिधनुरितीदं समयिनः ।
अनाहत्या [4]नादः प्रभवति सुषुम्णाध्वजनितं-
स्तदा वायोस्तत्र प्रभव इदमाहुः समयिनः ॥ २८ ॥

तदेतत्ते संवित्कमलमिति संज्ञान्तरमुमे
भवेत्संवित्पूजा भवति कमलेऽस्मिन्समयिनाम् ।
विशुद्धयाख्ये चक्रे वियदुदितमाहुः समयिनः
सदापूर्वो देवः शिव इति हिमानीसमतनुः ॥ २९ ॥

त्वदीयैरुद्द्योतैर्भवति च विशुद्धयाख्यसदनं
भवेत्पूजा देव्या हिमकरकलाभिः समयिनाम् ।
सहस्रारे चक्रे निवसति कलापञ्चदशकं
तदेतन्नित्याख्यं भ्रमति सितपक्षे समयिनाम् ॥ ३० ॥

अतः शुक्ले पक्षे [5]प्रतिदिनमिह त्वां भगवतीं
निशायां सेवन्ते निशि चरमभागे समयिनः ।
शुचिः स्वाधिष्ठाने रविरुपरि संवित्सरसिजे
शशी चाज्ञाचक्रे हरिहरविधिग्रन्थय इमे ॥ ३१ ॥

कलायः षोडश्याः प्रतिफलितबिम्बेन सहितं
तदीयैः पीयूषैः पुनरधिकमाप्लावितततनुः ।
सिते पक्षे सर्वास्तिथय इह कृष्णेऽपि च समा
यदा चामावास्या भवति न हि पूजा समयिनाम् ॥ ३२ ॥

---

१. हरो । २. क्षकारा० । ३. लीननिबिडं । ४. सादः । ५. प्रतिदिन-महस्त्वां ।

इडायां पिङ्गल्यां चरत इह तौ सूर्यशशिनौ
तमस्याधारे तौ यदि तु [1]मिलितौ सा तिथिरमा।
तदाज्ञाचक्रस्थं शिशिरकरबिम्बे रविनिभं
दृढव्यालीढं सद्विगलितसुधासारविसरम् ।। ३३ ।।

महाव्योमस्थेन्दोरमृतलहरीप्राविततनुः
[2]प्रशुष्यद्वै नाडीप्रकरमनिशं प्लावयति तत्।
यदाज्ञायां विद्युन्नियतनियुताभाक्षरमयी
[3]स्थिता विद्युल्लेखा भगवति विधिग्रन्थिमभिनत् ।। ३४ ।।

ततो गत्वा ज्योत्स्नामयसमयलोकं [4]समयिनां
पराख्या सादाख्या जयति शिवतत्त्वेन मिलिता।
सहस्रारे पद्मे शिशिरमहसां बिम्बमपरं
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्बैन्दवमिति ।। ३५ ।।

वदन्त्येके सन्तः परशिवपदे तत्त्वमिलिते
ततस्त्वं [5]षटविंशी भवसि शिवयोर्मेलनवपुः।
त्रिखण्डेऽस्मिन्स्वान्ते परमपदपर्यङ्कसदने
परे सादाख्येऽस्मिन्निवसति [6]चतुर्धैक्यकलनात् ।। ३६ ।।

[7]क्षितौ वह्निर्वह्नौ वसुदलजले दिङ्मरुति दिक्-
[8]कलाश्रे मन्वश्रं दृशि [9]वसुरथो राजकमले।
[10]प्रतिद्वैतग्रन्थिस्तदुपरि चतुर्द्वारसहितं
[11]महीचक्रं चैकं भवति भगकोणैक्यकलनात् ।। ३७ ।।

इति मन्त्रचक्रैक्यम् ।।

[12]षडब्जारण्ये त्वां समयिन इमे पञ्चकसमां
यदा संविद्रूपां विदधति च षोढैक्यकलिताम्[13]।
मनो जित्वा [14]चाज्ञासरसिज इह प्रादुरभव-
त्तडिल्लेखा नित्या भगवति तवाधारसदनाम् ।। ३८ ।।

---

१. तुलिती। २. प्रशुष्यद्वेशन्त्। ३. सिता। ४. ससमया। ५. षट्त्रिंशा। ६. चतुर्थैक्य०। ७. महावह्नि०। ८. क्कलारे। ९. वसुरधो। १०. प्रतिद्वचैतद्ग्रन्थि०। ११. महाचक्रं। १२. षडब्जारण्यैस्त्वां। १३. ०कलितम्। १४. ०सरसिजमिह।

भवत्साम्यं केचित्त्रतयमिति [1]कौलप्रभृतयः
परं तत्त्वाख्यं [2]चेत्यपरमिदमाहुः समयिनः।
क्रियावस्थारूपं प्रकृतिरभिधापञ्चकसमं
तदेषां साम्यं [3]स्यादवनिषु च यो वेत्ति स मुनिः॥

इत्यैक्यनिरूपणम्।

वशिन्याद्या अष्टावकचटतपाद्याः प्रकृतयः
स्ववर्गस्थाः स्वस्वायुधकलितहस्ताः स्वविषयाः।
[4]यथावर्गं वर्णप्रचुरतनवो याभिरभवं-
स्तव प्रस्तारास्ते त्रय इति जगुस्ते समयिनः॥ ४१॥

इमा नित्या वर्णास्तव चरणसम्मेलनवशा-
न्महामेरुस्थाः [5]स्युर्मनुमिलनकैलासवपुषः।
वशिन्याद्या एता अपि [6]तव सबिन्द्वात्मकतया
महीप्रस्तारोऽयं क्रम इति रहस्यं समयिनाम्॥ ४१॥

इति प्रस्तारत्रयनिरूपणम्॥

भवेन्मूलाधारं तदुपरितनं चक्रमपि तद्-
द्वयं तामिस्राख्यं शिखिकिरणसम्मेलनवशात्।
तदेतत्कौलानां प्रतिदिनमनुष्ठेयमुदितं
भवत्या वामाख्यं मतमपि परित्याज्यमुभयम्॥ ४२॥

अमीषां कौलानां भगवति भवेत्पूजनविधि-
स्तव स्वाधिष्ठाने तदनु च भवेन्मूलसदने।
अतो बाह्या पूजा भवति भगरूपेण च ततो
निषिद्धाचारोऽयं निगमविरहोऽनिन्द्यचरिते॥ ४३॥

नवव्यूहं कौलप्रभृतिकमतं[7] तेन स विभु-
र्नवात्मा देवोऽयं जगदुदयकृद्भैरववपुः[8]।
नवात्मा वामादिप्रभृतिभिरदं [9]भैरववपु-
र्महादेवी ताभ्यां जनकजननीमज्जगदिदम्॥ ४४॥

---

१. कौम्भप्र०। २. चेत्स पर इद०, परमिद०। ३. त्वामवनिषु।
४. यदा वर्गा वर्णप्रचुरतरवो। ५. ०स्थास्यन्मनु०। ६. च सहबि०।
७. प्रभृतिकमिदं। ८. कृच्छैशववपुः। ९. बैन्दववपुः।

भवेदेतच्चक्रद्वितयमतिदूरं समयिनां
विसृज्यैतद्युग्मं तदनु मणिपूराख्यसदने ।
त्वया [1]सृष्टैर्वारिप्रतिफलितसूर्येन्दुकिरणै-
[2]र्द्विधा लोके पूजां विदधति भवत्याः समयिनः ॥ ४५ ॥

अधिष्ठानाधारद्वितयमिदमेवं[3] दशदलं
सहस्राराज्जातं [4]मणिपुरमतोऽभूद्दशदलम् ।
हृदम्भोजान्मूलान्नृपदलमभूत्स्वान्तकमलं
तदेवैको बिन्दुर्भवति जगदुत्पत्तिकृदयम् ॥ ४६ ॥

सहस्रारं विन्दुर्भवति च ततो वैन्दवगृहं
तदेतस्माज्जातं जगदिदमशेषं [5]सकरणम् ।
ततो मूलाधाराद्द्वितयमभवत्तद्दशदलं
सहस्राराज्जातं तदिति दशधा विन्दुरभवत् ॥ ४७ ॥

तदेतद्विन्दोर्यद्दशकमभवत्तत्प्रकृतिकं
दशारं सूर्यारं नृपदलमभूत्स्वान्तकमलम्[6] ।
रहस्यं कौलानां द्वितयमभवन्मूलसदनं
[7]तथाधिष्ठानं च प्रकृतिमिह [8]सेवन्त इह ते ॥ ४८ ॥

अतस्ते कौलास्ते भगवति दृढप्राकृतजना
इति प्राहुः प्राज्ञाः कुलसमयमार्गद्वयविदः ।
महान्तः सेवन्ते सकलजननीं वैन्दवगृहे
शिवाकारां नित्याममृतझरिकामैन्दवकलाम् ॥ ४९ ॥

इदं [9]कालोत्पत्तिस्थितिलयकरं पद्मनिकरं
त्रिखण्डं श्रीचक्रं मनुरपि च[10] तेषां च मिलनम् ।
तदैक्यं षोढा वा भवति च चतुर्धेति च तथा
तयोः साम्यं पञ्चप्रकृतिकमिदं शास्त्रमुदितम् ॥ ५० ॥

उपास्तेरेतस्याः फलमपि च सर्वाधिकमभू-
त्तदेतत्कौलानां फलमिह हि चैतत्समयिनाम् ।

---

१. सृष्टे वारि० । २. विभालोके । ३. ०मेदद्दश० । ४. मणि पुरमितो० । ५. नकरणम् । ६. ०न्नेत्रकमलम् । ७. तदा । ८. ०मथ सेवन्त्विह च ते । ९. कौलोत्पत्ति० । १०. तु ।

सहस्रारे पद्मे सुभगसुभगोदेति[1] सुभगे
परं सौभाग्यं यत्तदिह तव सायुज्यपदवी ॥ ५१ ॥

[2]अतोऽस्याः संसिद्धौ सुभगसुभगाख्या गुरुकृपा-
कटाक्षव्यासङ्गात्स्रवदमृतनिष्यन्दसुलभा ।
तया विद्धो योगी विचरति निशायामपि दिवा
[3]दिवा भानू रात्रौ विधुरिव [4]कृतार्थीकृतमतिः ॥ ५२ ॥

इति श्रीगौडपादाचार्यविरचिता सुभगोदयस्तुतिः
सम्पूर्णा[5] ।

---

१. ०क्तेति सुभगं । २. अतस्ते संसिद्धा । ३. दिवा वा रात्रौ वा
३. कृतार्थीकृत इति ।

५ सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधरा टीका से ज्ञात होता है कि अनुष्टप् छन्दों वाला भी कोई 'सुभगोदय' नामक ग्रन्थ था जिस पर भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य एवं लक्ष्मीधर ने टीका लिखी थी । यथा—

तदुक्तं सुभगोदये—'परोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन । शक्तः स्यात्परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद्यदि । (श्लोक ११ की टीका)

'एतत्सर्वं सुभगोदयव्याख्यानावसरे चन्द्रकलायां सम्यङ्निरूपितमस्माभिः ।'
(श्लोक १७ टी०)

'यथोक्तं भगवत्पादैः सुभगोदयव्याख्याने—शिखिज्वालारूपा समय इह सैवात्र समया तयोः सम्भेदो मे दिशतु हृदयाब्जैकनिलयः । (श्लोक ३८)

लल्ल की भी सुभगोदय पर टीका थी—

'अनेनैवाशयेन सुभगोदयटीकायां लल्लेनोक्तम्—'(सौभाग्यभास्कर पृ०७७)

वासनासुभगोदय का भी उल्लेख मिलता है—

'तदुक्तं वासनासुभगोदये—दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताद्याः कलाः पञ्चदशैव तु । षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ।' (वही पृ०)

महाकविकालिदासविरचिता

पञ्चस्तवी

(१) लघुस्तुतिः

ऐन्द्रस्येव शरासनस्य दधती मध्ये ललाटं प्रभां
शौक्लीं कान्तिमनुष्णगोरिव शिरस्यातन्वती सर्वतः ।
एषाऽसौ त्रिपुरा हृदि द्युतिरिवोष्णांशोस्सदाहस्थिता
छिन्द्यान्नस्सहसा पदैस्त्रिभिरघं ज्योतिर्मयी वाङ्मयी ॥ १ ॥

या मात्रा त्रपुकीलिता तनुलसत्तन्तुस्थितिस्पर्धिनी
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता हृदि सदा तां मन्महे ते वयं ।
शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननी व्यापारबद्धोद्यमा
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः ॥ २ ॥

दृष्ट्वा सम्भ्रमकारिवस्तु सहसा ऐ-ऐ इति व्याहृतं
येनाकूतवशादपीह वरदे बिन्दुं विनाऽप्यक्षरम् ।
तस्यापि ध्रुवमेव देवि तरसा का ते तवानुग्रहे
वाचस्सूक्तिसुधारसद्रवमुचो निर्यान्ति वक्त्राम्बुजात् ॥ ३ ॥

यन्नित्ये तव कामराजपरं मन्त्राक्षरं निष्कलं
तत्सारस्वतमित्यवैति विरलः कश्चिद्बुधश्चेद्भुवि ।
आख्यानं प्रतिपर्व सत्यतपसो यत्कीर्तयन्तो द्विजाः
प्रारम्भे प्रणवास्पदप्रणयितां नीत्वोच्चरन्ति स्फुटम् ॥ ४ ॥

यत्सद्यो वचसां प्रवृत्तिकरणे दृष्टप्रभावं बुधै-
स्तार्तीयं तदहं नमामि मनसा त्वद्बीजमिन्दुप्रभम् ।
अस्त्यारोपिसरस्वतीमनुगतो जाड्याम्बुविच्छित्तये
गोशब्दो गिरि वर्तते स नियतं योगं विना सिद्धिदः ॥ ५ ॥

एकैकं तव देवि बीजमनघं स व्यञ्जना व्यञ्जनं
कूटस्थं यदि वा पृथक्क्रमगतं यद्वा स्थितं व्युत्क्रमात् ।
यं यं काममपेक्ष्य येन विधिना केनापि वा चिन्तितं
जप्तं वा सफलीकरोति तरसा तं तं समस्तं नृणाम् ॥६॥

वामे पुस्तकधारिणीमभयदां साक्षस्रजं दक्षिणे
भक्तेभ्यो वरदानपेशलकरां कर्पूरकुन्दोज्ज्वलाम् ।
उज्जृम्भाम्बुजपत्रकान्तिनिवहस्निग्धप्रभालोकिनीं
ये त्वामम्ब न शीलयन्ति मससा तेषां कवित्वं कुतः ।। ७ ।।

ये त्वां पाण्डरपुण्डरीकपटलस्रग्भाभिरामप्रभां
सिञ्चन्तीममृतद्रवैरिव शिवे ध्यायन्ति मूर्ध्नि स्थिताम् ।
अश्रान्तं विकटस्फुटाक्षरपदं निर्याति वक्त्रोदरा-
त्तेषां भारति भारतीसुरसरित्कल्लोललोलोर्मिवत् ।। ८ ।।

ये सिन्दूरपरागपुञ्जपिहितां त्वत्तेजसा द्यामिमा-
मुर्वीं चापि विलीनयावकरसप्रस्तारमग्नामिव ।
ध्यायन्ति क्षणमप्यनन्यमनसस्तेषामनङ्गज्वर-
क्लान्तास्त्रस्तकुरङ्गशावकदृशो वश्या भवन्ति स्त्रियः ।।९।।

चञ्चत्काञ्चनकुण्डलाङ्गदधरामाबद्धकाञ्चीस्रजं
ये त्वां चेतसि तद्गतेक्षणमपि ध्यायन्ति कृत्वा स्त्रियम् ।
तेषां वेश्मसु विभ्रमादहरहस्स्फारीभवन्त्यश्चिरं
माद्यत्कुञ्जरकर्णतालतरला स्थैर्यं भजन्ति श्रियः ।। १० ।।

आर्भटया शशिखण्डमण्डनजटाजूटां नृमुण्डस्रजं
बन्धूकप्रसवारुणाम्बरधरां प्रेतासनाध्यसिनीम् ।
त्वां ध्यायन्ति चतुर्भुजां त्रिनयनामापीनतुङ्गस्तनीं
मध्ये निम्नवलित्रयाङ्कितनुं त्वद्रूपसंवित्तये ।। ११ ।।

जातोऽप्यल्पपरिच्छदे क्षितिभुजां सामान्यमात्रे कुले
निश्शेषावनिचक्रवर्तिपदवीं लब्ध्वा प्रतापोन्नतः ।
यद्विद्याधरवृन्दवन्दितपदः श्रीवत्सराजोऽभव-
द्देवि त्वच्चरणाम्बुजप्रणतिजस्सोऽयं प्रसादोदयः ।। १२ ।।

चण्डि त्वच्चरणाम्बुजार्चनविधौ बिल्वीदलोल्लुण्ठना-
त्त्रुटयत्कण्टककोटिभिः परिचयं येषां न जग्मुः कराः ।
ते दण्डाङ्कुशचक्रचापकुलिशश्रीवत्समत्स्याङ्कितै-
र्जायन्ते पृथिवीभुजः कथमिवाम्भोजप्रभैः पाणिभिः ।। १३ ।।

विप्राः क्षोणिभुजो विशस्तदितरे क्षीराज्यमध्वासवैः-
स्त्वां देवि त्रिपुरे परापरमयीं सन्तर्प्य पूजाविधौ ।

यां यां प्रार्थयते मनस्स्थिरतया तेषां त एते ध्रुवं
तां तां सिद्धिमवाप्नुवन्ति तरसा विघ्नैरविघ्नीकृताः ॥१४॥

शब्दानां जननि त्वमत्र भुवने वाग्वादिनीत्युच्यसे
त्वत्तः केशववासवप्रभृतयोऽप्याविर्भवन्ति ध्रुवम् ।
लीयन्ते खलु यत्र कल्पविरमे ब्रह्मादयस्तेऽप्यमी
सा त्वं काचिदचिन्त्यरूपगरिमा शक्तिः परा गीयसे ॥१५॥

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वरा-
स्त्रैलोक्यं त्रिपुटी त्रिपुष्करमथ त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः ।
यत्किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गात्मकं
तत्सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः ॥ १६ ॥

लक्ष्मीं राजकुले जयां रणमुखे क्षेमङ्करीमध्वनि
क्रव्याद‌द्विपसर्पभाजि शबरीं कान्तारदुर्गे गिरौ ।
भूतप्रेतपिशाचजृम्भकभये स्मृत्वा महाभैरवीं
व्यामोहे त्रिपुरां तरन्ति विपदस्तारां च तोयप्लवे ॥ १७ ॥

माया कुण्डलिनी क्रिया मधुमयी काली कलामालिनी
मातङ्गी विजया जया भगवती गौरी शिवा शाम्भवी ।
शक्तिश्शङ्करवल्लभा त्रिनयना वाग्वादिनी भैरवी
ह्रींकारी त्रिपुरे परापरमयी माता कुमारीत्यसि ॥ १८ ॥

आईपल्लवितैः परस्परयुतैर्द्वित्रिक्रमाद्यक्षरैः
काद्यैः क्षान्तगतैस्स्वरादिभिरथ क्षान्तैश्च तैस्सस्वरैः ।
नामानि त्रिपुरे भवन्ति खलु यान्यत्यन्तगुह्यानि ते
तेभ्यो भैरवपत्नि विंशतिसहस्रेभ्यः परेभ्यो नमः ॥ १९ ॥

बोद्धव्या निपुणं पदैः स्तुतिरियं कृत्वा मनस्तद्गतं
भारत्या त्रिपुरेत्यनन्यमनसो यत्राद्यपद्यैः स्फुटम् ।
एकद्वित्रिपदक्रमेण कथितस्त्वत्पादसंख्याक्षरै-
र्मन्त्रोद्धारनिधिर्विशेषसहितस्सत्सम्प्रदायान्वितः ॥ २० ॥

सावद्यं निरवद्यमस्तु यदि वा किंवाऽनया चिन्तया
नूनं स्तोत्रमिदं पठिष्यति जनो यस्यास्ति भक्तिस्त्वयि ।

सञ्चिन्त्यापि लघुत्वमात्मनि दृढं सञ्चायमानं हठात्-
त्वद्भक्त्या मुखरीकृतेन सुचिरं यस्मान्मयाऽपि ध्रुवम् ॥२१॥
इति श्रीदेवीलघुस्तुतिस्सम्पूर्णा ॥

---

(२) घटस्तवः

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं
मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य ।
पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥ १ ॥

देवि त्र्यम्बकपत्नि पार्वती सति त्रैलोक्यमात विशे
शर्वाणि त्रिपुरे मृडानि वरदे रुद्राणि कात्यायनि ।
भीमे भैरवि चण्डि शर्वरि कले कालक्षये शूलिनि
त्वत्पादप्रणताननन्यमनसः पर्याकुलान्पाहि नः ॥ २ ॥

देवि त्वां सकृदेव यः प्रणमति क्षोणीभृतस्तं नम-
न्त्याजन्मस्फुरदङ्घ्रिपीठविलुठत्कोटीरकोटिच्छटाः ।
यस्त्वामर्चति सोऽर्च्यते सुरगणैर्यः स्तौति स स्तूयते
यस्त्वां ध्यायति तं स्मरार्तिविधुरा ध्यायन्ति वामभ्रुवः ॥३॥

उन्मत्ता इव सग्रहा इव विषव्यासक्तमूर्च्छा इव
प्राप्तप्रौढमदा इवार्तिविरहग्रस्ता इवार्ता इव ।
ये ध्यायन्ति हि शैलराजतनयां धन्यास्त एवाग्रत-
स्त्यक्तोपाधिविवृद्धरागमनसो ध्यायन्ति तान्सुभ्रुवः ॥ ४ ॥

ध्यायन्ति ये क्षणमपि त्रिपुरे हृदि त्वां
लावण्ययौवनधनैरपि विप्रयुक्ताः ।
ते विस्फुरन्ति ललितायतलोचनानां
चित्तैकभित्तिलिखितप्रतिमाः पुमांसः ॥ ५ ॥

एतं किं नु दृशा पिबाम्युत विशाम्यस्याङ्गमङ्गैर्निजैः
किं वामुं निगराम्यनेन सहसा किं वैकतामाश्रये ।
तस्येत्थं विवशो विकल्पललिताकूतेन योषिज्जनः
किं तद्यन्न करोति देवि हृदये यस्य त्वमावर्तसे ॥ ६ ॥

विश्वव्यापिनि यद्वदीश्वर इति स्थाणावनन्याश्रयः
शब्दः शक्तिरिति त्रिलोकजननि त्वय्येव तथ्यस्थितिः ।
इत्थं सत्यपि शक्नुवन्ति यदिमाः क्षुद्रा रुजो बाधितुं
त्वद्भक्तानपि न क्षिणोषि च रुषा तद्देवि चित्रं महत् ॥ ७ ॥

इन्दोर्मध्यगतां मृगाङ्कसदृशच्छायां मनोहारिणीं
पाण्डूत्फुल्लसरोरुहासनगतां स्निग्धप्रदीपच्छविम् ।
वर्षन्तीममृतं भवानि भवतीं ध्यायन्ति ये देहिन-
स्ते निर्मुक्तरुजो भवन्ति विपदः प्रोज्झन्ति तान्दूरतः ॥ ८ ॥

पूर्णेन्दोः शकलैरिवातिबहलैः पीयूषपूरैरिव
क्षीराब्धेर्लहरीभरैरिव सुधापङ्कस्य पिण्डैरिव ।
प्रालेयैरिव निर्मितं तव वपुर्ध्यायन्ति ये श्रद्धया
चित्तान्तर्निहितार्तितापविपदस्ते सम्पदं बिभ्रति ॥ ९ ॥

ये संस्मरन्ति तरलां सहसोल्लसन्तीं
त्वां ग्रन्थिपञ्चकमिदं तरुणार्कशोणाम् ।
रागार्णवे वहलरागिणि मज्जयन्तीं
कृत्स्नं जगद्दधति चेतसि तान्मृगाक्ष्यः ॥ १० ॥

लाक्षारसस्नपितपङ्कजतन्तुतन्वी-
मन्तस्मरत्यनुदिनं भवतीं भवानि ।
यस्तं स्मरप्रतिममप्रतिमस्वरूपा
नेत्रोत्पलैर्मृगदृशो भृशमर्चयन्ति ॥ ११ ॥
स्तुमस्त्वां वाचमव्यक्तां हिमकुन्देन्दुरोचिषम् ।
कदम्बमालां बिभ्राणमापादतललम्बिनीम् ॥ १२ ॥

मूर्ध्नीन्दोः सितपङ्कजासनगतां प्रालेयपाण्डुत्विषं
वर्षन्तीममृतं सरोरुहभुवो वक्त्रेऽपि रन्ध्रेऽपि च ।
अच्छिन्ना च मनोहरा च ललिता चातिप्रसन्नापि च
त्वामेवं स्मरतः स्मरारिदयिते वाक्सर्वतो वल्गति ॥ १३ ॥

ददातीष्टान्भोगान्क्षपयति रिपून्हन्ति विपदो
दहत्याधीन्व्याधीञ्शमयति सुखानि प्रतनुते ।
हठादन्तर्दुःखं दलयति पिनष्टीष्टविरहं
सकृद्ध्याता देवी किमिव निरवद्यं न कुरुते ॥ १४ ॥

यस्त्वां ध्यायति वेत्ति विन्दति जपत्यालोकते चिन्तय-
त्यन्वेति प्रतिपद्यते कलयति स्तौत्याश्रयत्यर्चति ।
यस्तु त्र्यम्बकवल्लभे तव गुणानाकर्णयत्यादरात्
तस्य श्रीर्न गृहादपैति विजयस्तस्याग्रतो धावति ॥ १५ ॥

किं किं दुःखं दनुजदलिनि क्षीयते न स्मृतायां
का का कीर्तिः कुलकमिलिनि ख्याप्यते न स्तुतायाम् ।
का का सिद्धिः सुरवरनुते प्राप्यते नार्चितायां
कं कं योगं त्वयि न चिनुते चित्तमालम्बितायाम् ॥ १६ ॥

ये देवि दुर्धरकृतान्तमुखान्तरस्था
ये कालि कालघनपाशनितान्तबद्धाः ।
ये चण्डि चण्डगुरुकल्मषसिन्धुमग्ना-
स्तान्पासि मोचयसि तारयसि स्मृतैव ॥ १७ ॥

लक्ष्मीवशीकरणचूर्णसहोदराणि
त्वत्पादपङ्कजरजांसि चिरं जयन्ति ।
यानि प्रणाममिलितानि नृणां ललाटे
लुम्पन्ति दैवलिखितानि दुरक्षराणि ॥ १८ ॥

रे मूढाः किमयं वृथैव तपसा कायः परिक्लिश्यते
यज्ञैर्वा बहुदक्षिणैः किमितरे रिक्तीक्रियन्ते गृहाः ।
भक्तिश्चेदविनाशिनी भगवतीपादद्वयी सेव्यता-
मुन्निद्राम्बुरुहातपत्रसुभगा लक्ष्मीः पुरो धावति ॥ १९ ॥

याचे न कञ्चन न कञ्चन वञ्चयामि
सेवे न कञ्चन निरस्तसमस्तदैन्यः ।
श्लक्ष्णं वसे मधुरमद्मि भजे वरस्त्री-
र्देवी हृदि स्फुरति मे कुलकामधेनुः ॥ २० ॥

नमामि यामिनीनाथलेखालङ्कृतकुन्तलाम् ।
भवानीं भवसन्तापनिर्वाणसुधानदीम् ॥ २१ ॥

इति श्रीपञ्चस्तव्यां घटस्तवस्तृतीयः ।

(३) चर्चास्तुतिः

सौन्दर्यविभ्रमभुवो भुवनाधिपत्यं
सम्पत्तिकल्पतरवस्त्रिपुरे जयन्ति ।
एते कवित्वकुमुदप्रकरावबोध-
पूर्णेन्दवस्त्वयि जगज्जननि प्रणामाः ॥ १ ॥

देविस्तुतिव्यतिकरे कृतबुद्धयस्ते
वाचस्पतिप्रभृतयोऽपि जडीभवन्ति ।
तस्मान्निसर्गजडिमा कतमोऽहमत्र
स्तोत्रं तव त्रिपुरतापनपत्नि कर्तुम् ॥ २ ॥

मातस्तथापि भवती भवतीव्रताप-
विच्छित्तये स्तुतिमहार्णवकर्णधारः ।
स्तोतुं भवानि स भवच्चरणारविन्द-
भक्तिग्रहः किमपि मां मुखरीकरोति ॥ ३ ॥

सूते जगन्ति भवती भवतीं बिभर्ति
जागर्ति तत्क्षयकृते भवती भवानि ।
मोहं भिनत्ति भवती भवती रुणद्धि
लीलायितं जगति चक्रमिदं भवत्याः ॥ ४ ॥

यस्मिन्मनागपि नवाम्बुजपत्रगौरीं
गौरीप्रसादमधुरां भृशमादधासि ।
तस्मिन्निरन्तरमनङ्गशरप्रकीर्णं
सीमन्तिनीनयनसन्ततयः पतन्ति ॥ ५ ॥

पृथ्वीभुजोऽप्युदयनप्रवरस्य तस्य
विद्याधरप्रणतिचुम्बितपादपीठः ।
यच्चक्रवर्तिपदवीं प्रणयः स एष
त्वत्पादपङ्कजरजःकणजः प्रसादः ॥ ६ ॥

कल्पद्रुमप्रसवकल्पितचित्रपूजा-
मुद्दीपितप्रियतमामदरक्तगीतैः ।
नित्यं भवानि भवतीमुपवीणयन्ति
विद्याधराः कनकशैलगुहागृहेषु ॥ ७ ॥

लक्ष्मीवशीकरणकर्मणि कामिनीना-
माकर्षणव्यतिकरेषु च सिद्धमन्त्रः ।
नीरन्ध्रमोहतिमिरच्छिदुरप्रदीपो
देवि त्वदङ्घ्रिजनितो जयति प्रसादः ।। ८ ।।

देवि त्वदङ्घ्रिनखरत्नभुवो मयूखाः
प्रत्युप्तमौक्तिरुचो मुदमुद्वहन्ति ।
सेवानतिव्यतिकरे सुरसुन्दरीणां
सीमन्तसीम्नि कुसुमस्तबकायितं यैः ।। ९ ।।

मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकान्तिमित्रं
मध्येललाटममरायुधरश्मिचित्रम् ।
हृच्चक्रचुम्बिहुतभुक्कणिकानुरूपं
ज्योतिर्यदेतदिदमम्ब तव स्वरूपम् ।। १० ।।

रूपं तव स्फुरितचन्द्रमरीचिगौर-
मालोक्यते शिरसि वागाधिदैवतं यैः ।
निस्सीमसूक्तिरचनामृतनिर्झरिण्य-
स्तेषां प्रकाममधुराः प्रसरन्ति वाचः ।। ११ ।।

सिन्दूरपांसुपटलच्छुरितामिव द्यां
त्वत्तेजसा जतुरसस्नपितामिवोर्वीम् ।
यः पश्यति क्षणमपि त्रिपुरे विहाय
व्रीडां मृडानि सुदृशस्तमनुव्रजन्ति ।। १२ ।।

मातर्मुहूर्तमपि यः स्मरति स्वरूपं
लाक्षारसस्नपिततन्तुनिभं भवत्याः
ध्यायन्त्यनन्यमनसस्तमनङ्गतप्ताः
प्रद्युम्नसीम्नि सुभगत्वगुणास्तरुण्यः ।। १३ ।।

योऽयं चकास्ति गगनार्णवरत्नमिन्दु-
र्योऽयं सुरासुरगुरुः पुरुषः पुराणः ।
यद्वाममर्धमिदमन्धकसूदनस्य
देवि त्वमेव तदिति प्रतिपादयन्ति ।। ४ ।।

इच्छानुरूपमनुरूपगुणप्रकर्ष
सङ्कर्षणत्वमभिसृत्य यदा बिभर्षि ।

जायेत स त्रिभुवनैकगुरुस्तदानीं
देवश्शिवोऽपि भुवनत्रयसूत्रधारः ॥ १५ ॥

त्वां व्यापिनीति सुमना इति कुण्डलीति
त्वां कामिनीति कमलेति कलावतीति ।
त्वां मालिनीति ललितेत्यपराजितेति
देवि स्तुवन्ति विजयेति जयेत्युमेति ॥ १६ ॥

आधारमारुतनिरोधवशेन येषां
सिन्दूररञ्जितसरोजगुणानुकारि ।
तीव्रं हृदि स्फुरति देवि महस्त्वदीयं
ध्यायन्ति तानिह समीहितसिद्धसाध्याः ॥ १७ ॥

ये चिन्तयन्त्यरुणमण्डलमध्यवर्ति-
रूपं तवाम्ब नवयावकपङ्करम्यम् ।
तेषां तथैव कुसुमायुधबाणभिन्न-
वक्षःस्थलामृगदृशो वशगा भवन्ति ॥ १८ ॥

त्वामैन्दवीमिव कलामनुफालदेश-
मुद्भासिताम्बरतलामवलोकयन्ति ।
सद्यो भवानि सुधियः कवयो भवन्ति
त्वं भावनाधिकधियां किल कामधेनुः ॥ १९ ॥

उत्तप्तहेमरुचिरे त्रिपुरे पुनीहि
चेतश्चिरन्तनमघौघवनं लुनीहि ।
कारागृहे निगडबन्धनयन्त्रितस्य
त्वत्संस्मृतो झटिति तन्निगडा गलन्ति ॥ २० ॥

लक्ष्मीवशीकरणचूर्णसहोदराणि
त्वत्पादपङ्कजरजांसि शिवे जयन्ति ।
यानि प्रणाममिलितानि नृणां ललाटे
शंसन्ति धातृलिखितानि दुरक्षराणि ॥ २१ ॥

यः स्तोत्रमेतदनुवासरमम्बिकायाः
श्रेयस्करं पठति वा यदि वा शृणोति ।
तस्येप्सितं फलति राजभिरीड्यतेऽसौ
जायेत स प्रियतमो मदिरेक्षणानाम् ॥ २२ ॥

खड्गं पादुकमञ्जनं च घुटिकां सारस्वतं सम्पदं
मृत्योर्वञ्चनमुग्रकालहरणं देहस्थिते कारणम् ।
भ्रूभङ्गादगतुङ्गवृक्षपतनं वश्यं जगद्योषितां
चर्चा जाप्यमिदं करोति सततं त्वत्पूजकस्येप्सितम् ।। २३ ।।

इति श्रीकालिदासविरचिता चर्चास्तुतिः सम्पूर्णा ।।

---

(४) अम्बास्तुतिः

यामामनन्ति मुनयः प्रकृतिं पुराणीं
विद्येति यां श्रुतिरहस्यगिरो गृणन्ति ।
तामर्धपल्लवितशङ्कररूपमुद्रां
देवीमनन्यशरणश्शरणं प्रपद्ये ।। १ ।।

अम्ब स्तवेषु तव तावदकृत्रिमाणि
कुण्ठीभवन्ति वचसामपि गुम्फनानि ।
डिम्भस्य मे स्तुतिरसावसमञ्जसापि
वात्सल्यनिघ्नहृदयां भवतीं धिनोतु ।। २ ।।

व्योमेति बिन्दुरिति नाद इतीन्दुरेखा-
रूपेति वाग्भवतनूरिति मातृकेति ।
निष्यन्दमानसुखबोधसुधास्वरूपा
विद्योतसे मनसि भाग्यवतां जनानाम् ।। ३ ।।

आविर्भवत्पुलकसंहतिभिश्शरीरै-
र्निष्यन्दमानसलिलैर्नयनैश्च नित्यम् ।
वाग्भिश्च गद्गदपदाभिरुपासते ये
पादौ तवाम्ब भुवनेषु त एव धन्याः ।। ४ ।।

वक्त्रं यदुद्यतमभिष्टुतये भवत्या
स्तुभ्यं नमो यदपि देवि शिरः करोति ।
चेतश्च यत्त्वयि परायणमेव तानि
कस्यापि तैरपि भवन्ति तपोविशेषैः ।। ५ ।।

मूलालवालकुहरादुदिता भवानि
निर्भिद्य षट्सरसिजानि तडिल्लतेव

भूयोऽपि तत्र विशति ध्रुवमञ्चितेन्दु-
निष्यन्दमानपरमामृतवृष्टिरूपा ॥ ६ ॥

दग्धं पुरा मदनमेकमनेकधा ते
मुग्धः कटाक्षविधिरङ्कुरयाञ्चकार ।
धत्ते तदा प्रभृति देवि ललाटनेत्रं
सत्यं ह्रियैव मुकुलीकृतमिन्दुमौलिः ॥ ७ ॥

अज्ञातसम्भवमनाकलितान्ववायं
भिक्षुं कपालिनमवाससमद्वितीयम् ।
पूर्वं करग्रहणमङ्गलतो भवत्या
श्शम्भुं क एव बुबुधे गिरिराजकन्ये ॥ ८ ॥

चर्माम्बरं च शवभस्मविलेपनं च
भिक्षाटनं च वसतिश्च परेतभूमौ ।
बेतालसंहतिपरिग्रहता च शम्भोः
शोभां वहन्ति गिरिजे तव साहचर्यात् ॥ ९ ॥

कल्पोपसंहरणकेलिषु पण्डितानि
चण्डानि खण्डपरशोरपि ताण्डवानि ।
अलोकितेन तव कोमलितानि मात-
र्लास्यात्मना परिणमन्ति जगद्विभूत्यै ॥ १० ॥

जन्तोरपश्चिमतनोस्सति कर्मसाम्ये
निश्शेषपाशपटलच्छिदुरा निमेषात् ।
कल्याणि देशिककटाक्षसमाश्रयेण
कारुण्यतो भवति शाम्भववेधदीक्षा ॥ ११ ॥

मुक्ताविभूषणवती नवविद्रुमाभा
यच्चेतसि स्फुरसि तारकितेव सन्ध्या ।
एकस्स एव भुवनत्रयसुन्दरीणां
कन्दर्पतां व्रजति पञ्चशरीं विनापि ॥ १२ ॥

ये भावयन्त्यमृतवाहिभिरंशुजालै
राप्लाव्यमानभुवनाममृतेश्वरीं त्वाम् ।
ते लङ्घयन्ति ननु मातरलङ्घनीयां
ब्रह्मादिभिस्सुरवरैरपि कालकक्षाम् ॥ १३ ॥

य: स्फाटिकाक्षगुणपुस्तककुण्डिकाढ्यां
व्याख्यानमुद्रितकरां शरदिन्दुशुभ्राम् ।
पद्मासनां च हृदये भवतीमुपास्ते
मातस्स विश्वकवितार्किकचक्रवर्ती ॥ १४ ॥

बर्हावतंसयुतबर्बरकेशपाशां
गुञ्जावलीकृतघनस्तनहारशोभाम् ।
श्यामां प्रवालवसनां शरचापहस्तां
त्वामेव नौमि शबरीं शबरस्य नाथाम् ॥ १५ ॥

अर्धेन किं तव तथा कलितेन मुग्धे
क्रीतं विभो: पुरुषमर्धमिदं शरीरम् ।
आलीजनस्य परिहासवचांसि मन्ये
मन्दस्मितेन तव देवि जडीभवन्ति ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डबुद्बुदकदम्बकसङ्कुलोऽयं
मायोदधिर्विविधतत्त्वतरङ्गमाल: ।
आश्चर्यमम्ब झटिति प्रलयं प्रयाति
त्वद्ध्यानसन्ततिमहाबडवामुखाग्नौ ॥ १७ ॥

दाक्षायणीति कुटिलेति कुहारिणीति
कात्यायनीति कमलेति सरस्वतीति ।
एका सती भगवती परमार्थतोऽपि
संदृश्यसे बहुविधा ननु नर्तकीव ॥ १८ ॥

आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे
नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे
प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं
शंसन्ति नेत्रसलिलै: पुलकैश्च धन्या: ॥ १९ ॥

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं
त्वं चेतनाऽसि पुरुषे पवने बलं त्वम् ।
त्वं स्वादुताऽसि सलिले शिखिनि त्वमूष्मा
निस्सारमेतदखिलं त्वदृते यदि स्यात् ॥ २० ॥

ज्योतींषि यद्दिवि चरन्ति यदन्तरिक्षं
सूते पयांसि यदहिर्धरणीं च धत्ते ।

यद्वाति वायुरनलो यदुदर्चिरास्ते
तत्सर्वमम्ब तव केवलमाज्ञयैव ॥ २१ ॥

सङ्कोचमिच्छसि यदा गिरिजे तदानीं
वाक्तर्कयोस्त्वमसि भूमिरनामरूपा ।
यद्वा विकासमुपयासि यदा तदानीं
त्वन्नामरूपगणनास्सुकरा भवन्ति ॥ २२ ॥

भोगाय देवि भवतीं कृतिनः प्रणम्य
भ्रूकिंकरीकृतसरोजगृहास्सहस्रम् ।
चिन्तामणौ प्रलयकल्पितकेलिशैले
कल्पद्रुमोपवन एव चिरं चरन्ति ॥ २३ ॥

हर्त्री त्वमेव भवसि त्वदधीनमीशे
संसारतापमखिलं दयया पशूनाम् ।
वैकर्तनी किरणसन्ततिरेव नूनं
घर्मं निजं शमयितुं निजया हि दृष्टया ॥ २४ ॥

शक्तिश्शरीरमधिदैवतमन्तरात्मा
ज्ञानं क्रिया करणमासनजालमिच्छा ।
ऐश्वर्यमायतनमावरणानि च त्वं
किं तन्न यद्भवसि देवि शशाङ्कमौलेः ॥ २५ ॥

भूमौ निवृत्तिरुदिता पयसि प्रतिष्ठा
विद्यानले मरुति शान्तिरतीतशान्तिः ।
व्योम्नीति याः किल कलाः कलयन्ति विश्वं
तासां हि दूरतरमम्ब पदं त्वदीयम् ॥ २६ ॥

विद्यां परां कति चिदम्बरमम्ब केचि-
दानन्दमेव कतिचित्कतिचिच्च मायाम् ।
त्वां विश्वमाहुरपरे वयमामनाम
स्साक्षादपारकरुणां गुरुमूर्तिमेव ॥ २७ ॥

यावत्पदं पदसरोजयुगं त्वदीयं
नाङ्गीकरोति हृदयेषु जगच्छरण्ये ।
तावत् विकल्पजटिलाः कुटिलप्रतर्का
स्सर्वेग्रहास्समयिनां प्रलयं न यान्ति ॥ २८ ॥

निर्देवयानपितृयानविहारमेति
कृत्वा मनः करणमण्डलसार्वभौमम् ।
याने निवेश्य तव कारणपञ्चकस्य
पर्वाणि पार्वति नयन्ति निजासनत्वम् ॥ २९ ॥

स्थूलासु मूर्तिषु महीप्रमुखासु मूर्तेः
कस्याश्चनापि तव वैभवमम्ब यस्याः ।
पत्या गिरामपि न शक्यत एव वक्तुं
सापि स्तुता किल मयेति तितीक्षितव्यम् ॥ ३० ॥

कालाग्निकोटिरुचिपुञ्जषडध्वशुद्धा
वाप्लावनेषु भवतीममृतौघवृष्टिम् ।
श्यामां घनस्तनतटां शकलीकृताघां
ध्यायन्ति ये हि जगतां गुरवो भवन्ति ॥ ३१ ॥

कुवलयदलनीलं बर्बरस्निग्धकेशं
पृथुतरकुचभारक्रान्तकान्तावलग्नम् ।
बहुभिरिह किमुक्तैस्स्निग्धरूपं परं न-
स्सकलभुवनमातस्सन्ततं सन्निधत्ताम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीकालिदासकृतौ अम्बास्तुतिः सम्पूर्णा ॥

---

(५) सकलजननीस्तवः

अजानन्तो यान्ति क्षयमवशमन्योऽन्यकलहै-
रमी मायाग्रन्थौ तव परिलुठन्तस्समयिनः ।
जगन्मातर्जन्मज्वरभयतमःकौमुदि वयं
नमस्ते कुर्वाणाः शरणमुपयामो भगवतीम् ॥ १ ॥

वचस्तर्कागम्यस्वरसपरमानन्दविभव-
प्रबोधाकाराय द्युतिदलितनीलोत्पलरुचे ।
शिवाद्याराध्याय स्तनभरविनम्राय महते
नमो यस्मै कस्मैचन भवतु मुग्धाय महसे ॥ २ ॥

लुठद्गुञ्जाहारस्तनभरनमन्मध्यलतिका-
मुदञ्चद्धर्माम्भःकणगुणितवक्त्राम्बुजरुचिम् ।
शिवं पार्थत्राणप्रवणमृगयाकारकरुणं
शिवामन्वग्यान्तीं शरणमहमन्वेमि शबरीम् ॥ ३ ॥

मिथः केशाकेशि प्रधननिधनास्तर्कघटना
बहुश्रद्धाभक्तिप्रणतविषयाश्चापि विधयः ।
प्रसीद प्रत्यक्षीभव गिरिसते देहि चरणौ
निरालम्बे चेतः परिलुठति पारिप्लवमिदम् ॥ ४ ॥

शुनां वा वह्नेर्वा खगपरिषदो वा यदशनं
तदा केन क्वेति क्वचिदपि न कश्चित्कलयति ॥
अमुष्मिन्विश्वासं विजहिहि ममाऽह्लाय वपुषि
प्रपद्येथाश्चेतस्सकलजननीमेव शरणम् ॥ ५ ॥

अनाद्यन्ताभेदप्रणयरचितापि प्रणयिनी
शिवस्याजर्यत्वं परिणयविधौ देवि गृहिणी ।
सवित्री भूतानामपि यदुदभूश्शैलतनया
तदेतत्संसारप्रणयनमहानाटकसुखम् ॥ ६ ॥

ब्रुवन्त्येते तत्त्वं भगवति सदन्ये विदुरस-
त्परे मातः प्राहुस्सदसदपि चान्येऽप्यसदसत् ।
चिरेणैतत्सर्वं समभिदधते देवि सुधिय-
स्तदेतत्त्वन्मायाविलसितमशेषं ननु शिवे ॥ ७ ॥

तडित्कोटिज्योतिर्द्युतिदलितषड्ग्रन्थिगहनं
प्रविष्टं स्वाधारे पुनरपि सुधावृष्टिवपुषा ।
किमप्यष्टाविंशत्किरणशकलीभूतमनिशं
भजे धाम श्यामं कुचभरनतं बर्बरकचम् ॥ ८ ॥

चतुष्पत्रान्तःषड्दलपुटभगान्तस्त्रिवलय-
स्फुरद्विद्युद्वह्निद्युमणिनियुताभद्युतियुते ।
षडश्रं भित्त्वादौ दशदलमथ द्वादशदलं
कलाश्रं च द्व्यश्रं गतवति नमस्ते गिरिसुते ॥ ९ ॥

कुलं केचित्प्राहुर्वपुरकुलमन्ये तव बुधाः
परे तत्सम्भेदं समभिदधते कौलमपरे ।

चतुर्णामेतेषामुपरि किमपि प्राहुरपरे
महामाये तत्त्वं तव कथममी निश्चिनुमहे ॥ १० ॥

प्रकाशानन्दाभ्यामविदितचरी मध्यपदवीं
प्रविश्यैतद्द्वन्द्वं रविशशिसमाख्यं कवलयन् ।
प्रपद्योर्ध्वं नादं लयदहनभस्मीकृतकुलः
प्रसादात्ते जन्तुश्शिवमकुलमम्ब प्रविशते ॥ ११ ॥

षडध्वारण्यानीं प्रलयशिखकोटिप्रतिरुचा
रुचा भस्मीकृत्य स्वपदकमलप्रह्वशिरसम् ।
वितन्वानः शैवं किमपि वपुरिन्दूपलरुचिः
कुचाभ्यामानम्रश्शिवपुरुषकारो विजयते ॥ १२ ॥

मनुष्यास्तिर्यञ्चो मरुत इति लोकत्रयमिदं
भवाम्भोधौ मग्नं त्रिगुणलहरीकोटिलुठितम् ।
कटाक्षश्चेद्यत्र क्वचन तव मातः करुणया
शरीरी सद्योऽयं व्रजति परमानन्दतनुताम् ॥ १३ ॥

षडाधारावर्तैरपरिमितमन्त्रोर्मिपटलै-
र्वलन्मुद्राफेनैर्बहुविधलसद्दैवतझषैः ।
क्रमस्रोतोभिस्त्वं वहसि परनादामृतनदीं
भवानि प्रत्यग्रा चिदचिदमृताब्धिप्रणयिनी ॥ १४ ॥

महीपाथोवह्निश्वसनवियदात्मेन्दुरविभि-
र्वपुर्भिर्ग्रस्तांशैरपि तव कियानम्ब महिमा ।
अमून्यालोक्यन्ते भगवति न कुत्राप्यणुतरा-
मवस्थां प्राप्तानि त्वयि तु परमव्योमवपुषि ॥ १५ ॥

कलां प्राज्ञां मायां समयमनुभूतिं समरसं
गुरुं पारम्पर्यं विनयमुपदेशं शिवपरम् ।
प्रमाणं निर्वाणं प्रकृतिमतिभूतिं परगुहां
विधिं विद्यामाहुस्सकलजननीमेव मुनयः ॥ १६ ॥

प्रलीने शब्दौघे तदनु विरते विन्दुविभवे
ततस्तत्त्वे चाष्टध्वनिवपुरुपाधिन्युपगते ।
गते शाक्ते पर्वण्यपि कलितचिन्मात्रगहनां
स्वयं व्यक्तां योगी रचयति शिवानन्दतनुताम् ॥ १७ ॥

परानन्दाकारां निरवधिकमैश्वर्यवपुषं
निराघातज्ञानप्रकृतिमनवच्छिन्नकरुणाम् ।
सवित्रीं भूतानां निरतिशयमायास्पदपदां
भवो वा मोक्षो वा भवतु भवतीमेव भजताम् ॥ १८ ॥

जगत्काये कृत्वा तदपि हृदये तच्च पुरुषे
पुमांसं बिन्दुस्थं तमपि करुणाख्येऽतिगहने ।
तदेतद् ज्ञानाख्ये तदपि वियदानन्दगहने
महाव्योमाकारस्तदनुभवशीलो विजयते ॥ १९ ॥

विधे विद्ये वेद्ये विनयसुलभे वेदगुलिके
विचित्रे विश्वाद्ये विनयसुलभे वेदजननि ।
शिवाज्ञे शीलस्थे शिवपदवदान्ये शिवनिधे
शिवे मातर्मह्यं त्वयि वितर भक्तिं निरुपमाम् ॥ २० ॥
विधेर्मुण्डं हृत्वा यदकुरुत पात्रं करतले
हरिं शूलप्रोतं यदगमयदंसाभरणताम् ।
अलञ्चक्रे कण्ठं यदपि गरलेनाम्ब गिरिश-
शिवस्थायाश्शक्तेस्तदिदमखिलं ते विलसितम् ॥ २१ ॥

विरिञ्चाख्या मातस्सृजसि हरिसंज्ञा त्वमवसि
त्रिलोकीं रुद्राख्या हरसि निदधासीश्वरदशाम् ।
भवन्ती नादाख्या विहरसि च पाशौघदलना-
त्तदेका नैकासि त्वमसि कृतिभेदैर्गिरिसुते ॥ २२ ॥

मुनीनां चेतोभिः प्रमुदितकषायैरपि मना-
गशक्यं सम्प्रष्टुं चकितचकितैरम्ब सततम् ।
श्रुतीनां मूर्धानः प्रकृतिकठिनाः कोमलतले
कथं वा विन्दन्ते पदकिसलये पर्वतसुते ॥ २३ ॥

पिता माता भ्राता सुहृदनुचरस्सद्म गृहिणी
वपुः पुत्रः क्षेत्रं धनमपि यदा मां विजहति ।
तदा मे भिन्दाना सपदि भवमोहान्धतमसं
महाज्योत्स्ने मातर्भव करुणया सन्निधिकरी ॥ २४ ॥

प्रियङ्गुश्यामाङ्गीमरुणतरवासःकिसलयां
समुन्मीलन्मुक्ताफलकुसुमनेपथ्यसुभगाम् ।

स्तनद्वन्द्वस्फारस्तबकनमितां कल्पलतिकां
सकृद्ध्यायन्तस्त्वामभिदधति सन्तो भगवतीम् ॥ २५ ॥

शिवस्त्वं शक्तिस्त्वं त्वमसि समयस्त्वं समयिनी
त्वमाज्ञा त्वं दीक्षा त्वमयमणिमादिर्गुणगणः ।
अविद्या त्वं विद्या त्वमसि निखिलं तत्त्वमपरं
पृथक्त्वत्तः किंचिद्भगवति न वीक्षामह उमे ॥ २६ ॥

पुरः पश्चादन्तर्बहिरपरिमेयं परिमितं
परं स्थूलं सूक्ष्मं सकलमकलं गुह्यमगुह्यम् ।
दवीयो नेदीयस्सदसदिति विश्वं भगवती
सदा पश्यन्त्याख्यां वहसि भुवनक्षोभजननीम् ॥ २७ ॥

त्वाऽसौ जानीते रचयति भवत्यैव सततं
त्वयैवेच्छत्यम्ब त्वमसि तनवोऽप्यस्य विहिताः ।
जगत्साम्यं शम्भोर्वहसि परमव्योमवपुष-
स्तथाप्यर्धं भूत्वा विहरसि हरस्येति किमिदम् ॥ २८ ॥

मयूखाः पूष्णीव ज्वलन इव तद्दीप्तिकणिकाः
पयोधौ कल्लोलप्रतिभयमहिम्नीव पृषतः ।
उदेत्योदेत्याम्ब त्वयि सह निजैस्सात्त्विकगुणै-
र्भजन्ते तत्त्वौघाः प्रलयमनुकल्पं परवशाः ॥ २९ ॥

सुता दक्षस्यादौ किल सकलमातस्त्वमुदभू-
स्सरोषं तं हित्वा तदनु गिरिराजस्य तनया ।
अनाद्यन्ता शम्भोरपृथगमपि शक्तिर्भगवती
विवाहाज्जायाऽऽसीत्यहह तव को वेत्ति चरितम् ॥ ३० ॥

कलास्त्वद्दीप्तीनां रविशशिकृशानुप्रभृतयः
परं ब्रह्म क्षुद्रास्तव नियतमानन्दकलिताः ।
शिवादिक्षित्यन्तं त्रिवलिततनोर्विश्वमुदरे
तवास्ते भक्तस्य स्फुरसि हृदि चित्रं भगवति ॥ ३१ ॥

शरीरं क्षित्यम्भःप्रभृति रचितं केवलमचित्-
सुखं दुःखं चायं कलयति परश्चेतन इति ।

स्फुटं जानानोऽपि प्रभवति न देही रहयितुं
शरीराहङ्कारं तव जननि बाह्यं गिरिसुते ॥ ३२ ॥

असङ्ख्यैः प्राचीनैर्जननि जननैः कर्मनिलयात्-
सकृज्जन्मन्यते गुरुवपुषमासाद्य वपुषि ।
तवाप्याज्ञां शैवीं शिवतनुमपि त्वां विदितवा-
न्नयेयं त्वत्पूजास्तुतिविरचनेनैव दिवसान् ॥ ३३ ॥

भुवि पयसि कृशानौ मारुते खे शशाङ्के
सवितरि यजमानेऽप्यष्टधाशक्तिरेका ।
वहसि कुचभराभ्यां या विनम्राऽसि विश्वं
सकलजननि सा त्वं पाहि मामित्यवाच्यम् ॥ ३४ ॥

यत्षट्पत्रं कमलमुदितं तस्य या कर्णिकाख्या
योनिस्तस्याः प्रथितमुदरे तत्तदोङ्कारपीठम् ।
तस्याप्यन्तः कुचभरनतां कुण्डलीति प्रसिद्धां
श्यामाकारां सकलजननीं चेतसा चिन्तयामि ॥ ३५ ॥

इति श्रीमत्कविराजराजमकुटरत्नराजितचरणारुणराजीवस्य
राजराजेश्वरीकरुणाकटाक्षलब्धनिखिलानवद्यविद्यस्य
तत्रभवतः श्रीकालिदासस्य कृतिषु[1]
श्रीसकलजननीस्तवः
सम्पूर्णः ॥

---

[1]. सौन्दर्यलहरी के टीकाकार श्रीकामेश्वरसूरि ने पञ्चस्तवी को आचार्य भगवत्पादकृत माना है तथा श्रीलक्ष्मीधर ने कालिदास कृत। कैवल्याश्रम ने इसे धर्माचार्य की रचना माना है। ये महाराज समुद्रगुप्त के धर्माध्यक्ष हरिषेण कालिदास हो सकते हैं।

परिशिष्ट २

नन्दिकेश्वर-काशिका

उपमन्युकृतटीकासंवलिता

नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥ १ ॥

नमः शिवाय देवाय सर्वज्ञाय महात्मने ।
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां व्यक्ताव्यक्तमिदं जगत् ॥ १ ॥
गुरुं शिवं कुमारञ्च शिवतत्त्वविशारदम् ।
प्रणम्य नन्दिकेशादीन् शिवभक्तान् मुहुर्मुहुः ॥ २ ॥
काशिकामादिसूत्राणां नन्दिकेशकृतां शुभाम् ।
लोकोपकारिणीं दिव्यां व्याकरोमि यथामति ॥ ३ ॥

इह खलु सकललोकनायकः परमेश्वरः परमशिवः सनकसनन्दन-सनत्कुमारादीन् श्रोतॄन् नन्दिकेशपतञ्जलिव्याघ्रपाद्वसिष्ठादीनुद्धर्त्तुकामो डमरुनिनादव्याजेन चतुर्दशसूत्र्यात्मकं तत्त्वमुपदिदेश । तदनु ते सर्वे मुनीन्द्रवर्याश्चिरकालमाश्रिताnामस्माकं तत्त्वं चतुर्दशसूत्रात्मकमुपदिदेशेति मत्वा अस्य सूत्रजालस्य तत्त्वार्थं नन्दिकेश्वरो जानातीति नन्दिकेश्वरं प्रणिपत्य पृष्टवन्तः । ततस्तेषु पृष्टवत्सु स षड्विंशतिकारिकारूपेण तत्त्वं सूत्राणामुपदेष्टुमिच्छन्निदमाचचक्षे—*नृत्यावसाने* इति । अहमिति शेषः । 'नटराजराज' इत्यनेन मङ्गलानि दर्शितानि । विश्वरूपविलासवैचित्र्यचमत्कारप्रवीणत्वान्नटराजराजः, ताण्डवाख्यरासमात्रविलासवैचित्र्यचमत्कारप्रवीणत्वस्य त्वन्यत्र नटादावपि सत्त्वात् । स त्वात्मत्त्वं वागाद्यगोचर इति ज्ञापनार्थं ढक्कानिनादव्याजेन सनकादीनुद्धर्त्तुकामो नवपञ्चवारं चतुर्दशवारं स्वान्तर्गतमात्मतत्त्वं प्रकटयितुं नृत्यावसाने ननाद नादितवान् । अहं तदेतद् विततनिनादोद्भूतवर्णात्मकमाद्यमतिरहस्यमेतच्छिवसूत्रजालं शिवसम्बन्धिसूत्रसमूहं कल्याणरूपसूत्रसमूहं वा विमर्शे विचार्य स्फुटीकरोमीत्यर्थः । ('विमर्शे' इति छान्दसं बोध्यम्) ॥ १ ॥

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यवर्णचतुर्दशम् ।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ॥ २ ॥

अनुबन्धाः पाणिन्याद्युद्देश्यका एवेत्याह— *अत्रेति* । एष्वित्यादिरर्थः । अन्त्यं वर्णेति वा पाठः । उभयथापि बहुव्रीहिः । कदम्बमन्यपदार्थः समासान्तः । चतुर्दशेति वा पाठः । तदा तत्पुरुषः । द्व्येकयोरितिवच्चतुर्दशेति प्रयोगः । केषुचित् पुस्तकेषु 'अन्त्यवर्णं चतुर्दशक'मिति पाठः । धात्वर्थंधातुमूलकशब्दशास्त्र-

प्रवृत्त्यर्थमित्यर्थः, अन्त्यवर्णजालं शब्द इति न्यायेन । तथा चोक्तमिन्द्रेण–'अन्त्यवर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्त्तिता' इति ॥ २ ॥

अ इ उ ण् ॥ १ ॥

अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु ।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः ॥ ३ ॥

तत्राद्येन सूत्रेण सर्ववर्णानां समस्तभुवनाञ्च समुद्भवरूपं स्वात्मतत्त्वमुपदिष्टमित्याह—०अकारो ब्रह्मेति० । अः परमेश्वरो निर्गुणः इं मायामाश्रित्य उः व्यापकः सगुणः ईश्वरः ण् आसीत् इति सूत्रार्थः सूचितः । [सर्ववस्तुषु परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यादिषु इं चित्कलामिमित्यत्र गायत्रीमिं चेतिवदीकारो बोध्यः । अत्र ईकारस्तु सूत्रे नोदितः इकार एव प्रकटितः । सर्गसम्भवकाले अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इति वर्णपञ्चकमेव सर्वेषामेकोनपञ्चाशदक्षराणां भूतपञ्चकानां पञ्चवर्गाणां क्रमेण योनिरिति] । अत्र प्रमाणम्—'असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत' इति श्रुतिः । असद् ब्रह्म वै निश्चयेन अग्रे सृष्टेः पूर्वमिदमक्षरात्मकमासीत् । ततोऽक्षरात् असतो वै सत् सगुणमजायत जातमित्यर्थः । तदुक्तं, गीतायाम्, 'अक्षराणामकारोऽस्मी'ति ॥ ३ ॥

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ॥ ४ ॥

अत एवाह—अकार इति । 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यादिरकारोऽन्त्यो हकारः अकारादिहकारान्ता वर्णास्ततः परमात्मनः समभवन्नित्यर्थः । परमः शिव इति पाठान्तरम् ॥ ४ ॥

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत् ।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः स्मृता ॥ ५ ॥
वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः ।
सृष्टयाविर्भावमासाद्य मध्यमा वाक् समा मता ॥ ६ ॥

ईश्वर एवानादिजीवोपाध्याश्रितकर्मप्रेरितप्राणव्यापारानन्तरं नाभौ पराख्यं मायापरिणाममुपेत्य हृदि पश्यन्त्याख्यमुपेत्य विशुद्धचक्रे मध्यमाख्यमुपेत्य पश्चाद्वक्त्रे वैखर्याख्यमवाप्य वेदादिरूपो भवतीत्यर्थः । श्रुतिरपि–"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" इति । सूक्ष्मा वागेव विश्वाकारेण विपरिणमते विवर्त्तते वेति बोध्यम् ॥ श्रुत्यन्तरमपि—'वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तयैवैकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते' इति ॥ ६ ॥

अकारं सन्निधीकृत्य जगतां कारणत्वतः ।
इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात् कारणं गतम् ॥ ७ ॥

जगत् स्रष्टुमभूदिच्छा यदा ह्यासीत्तदाभवत् ।
कामबीजमिति प्राहुर्मुनयो वेदपारगाः ॥ ८ ॥
अकारो ज्ञप्तिमात्रं स्यादिकारश्चित्कला मता ।
उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः ॥ ९ ॥

तत्र सर्वत्रेकारस्यैव स्वतन्त्रतामाह— ❀अकारमिति❀ ॥ ७ ॥
❀जगत् स्रष्टुमिति❀ । उक्तं च—
'स्वप्रकाशपरमात्मवस्तुनो दृश्यमानजगतः सिसृक्षया ।
कामतः परशिवप्रकाशितं कामबीजमिदमेव निश्चितम् ॥' इति,

'बीजं बिन्दुद्वयारूढं सार्धयोनिस्वरूपकम् ।
महाकामकलारूपमात्मानं चिन्तयेत् प्रिये ॥'

इति च ॥ ८ ॥

उक्तमेव द्रढयति—अकार इति । उकार इति उ व्यापकत्वेन ण् ईश्वर आसीदित्यर्थके उणीश्वरः इत्यत्रेति भावः ॥ ९ ॥

ऋ ऌ क् ॥ २ ॥

ऋ ऌ क् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत् ।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत् ॥ १० ॥

ननु सर्ववेदान्तेषु परमेश्वर एक इति निश्चितत्वान्मायामीं चित्कलां समाश्रित्य जगद्रूपोऽभूदित्युक्तेऽद्वैतहानिर्जायेतेत्याशङ्क्याह—ऋ ऌगिति । ऋ परमेश्वरः ऌ मायाख्यां मनोवृत्तिं क् अदर्शयत्, तामेवाश्रित्य स्वेच्छया जगज्जनयामासेत्यर्थः । ऋ परमेश्वर इत्यत्र 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' इति श्रुतिः प्रमाणम् । तं तत्पदार्थं परं ब्रह्म ऋ सत्यमित्यर्थः । श्रुत्यन्तरमपि—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति । श्रीतन्त्रेऽपि—'मत्तो ह्यभून्मनोरूपं ऌकारः परमेश्वरि' इति । ऋऌवर्णौ यथा तादात्म्यमापन्नौ तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते ।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वद् यथा वागर्थयोरपि ॥ ११ ॥

स्वेच्छया स्वस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ ।
वर्णानां मध्यमं क्लीबमृऌवर्णद्वयं विदुः ॥ १२ ॥

तदाह—भेदलेश इति । वास्तव इत्यर्थः ॥ ११-१२ ॥

ए ओ ङ् ॥ ३ ॥

ए ओ ङ् मायेश्वरात्मैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु ।
साक्षित्वात् सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ॥ १३ ॥

ननु 'जनयामास' इत्युक्ते जन्यजनकभावेऽद्वैतहानिः स्यादित्याशङ्क्य 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि'ति श्रुतिमाश्रित्याह—एवोङ्मायेश्वरेति। जन्यजनकत्वं च स्वस्यैव तद्रूपेण वर्तमानत्वादिति नाद्वैतहानिः। अकारोकाराभ्यां निष्पन्नप्रणव-रूपेणौकारेण सगुणनिर्गुणयोरैक्ये बोधिते तेनैव दृष्टान्तेन सर्वत्रैक्यबुद्धौ द्वैतनिरासो ध्वनितः। समष्टिव्यष्टिभेदेन पूर्ववर्णयुतद्वितीयस्य तद्युततृतीयस्य च समन्वय-बोधकमिदं सूत्रम्। अ अक्षरात्मकः इ मायायुक्तः सन् प्रज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा [सर्ववस्तूनामेकत्वात् अद्वैतोपपत्तिः, न नानात्वं जन्यजनकत्वं च।] स्वयं प्रविश्यत तद्रूपेण वर्त्तत इत्यर्थः। वटबीजन्यायेन च पूर्वसूत्रद्वयजनितवर्णपञ्चक-मेव सकलजगत् कारणमिति प्रागुक्तम्। उत्तरसूत्रवर्णानामपि तस्मादेव सम्भवः। समष्टिव्यष्टिभेदेषु पूर्ववर्णयुतद्वितीयस्य पूर्ववर्णयुततृतीयस्य च समन्वयबोधकमिदं सूत्रम्। समन्वयबोधनमप्येकत्वेनोक्तम्। अत्राप्यपरत्वे सर्ववेदसम्मतत्वं च। तथा च सनकदक्षिणामूर्त्तिसंवादमहावाक्यविवरणे—

> 'श्रुणु त्वं सावधानेन चतुर्णामपि साम्यता।
> वेदानां च महाभाग चतुष्काणामिहोच्यते ॥ १ ॥
>
> ब्रह्मशब्देन यद्वस्तु तत्त्वज्ञानमितीरितम्।
> प्रज्ञानं ब्रह्म यस्माद्धि तस्माद् ब्रह्मास्म्यहं ततः ॥ २ ॥
>
> तद् ब्रह्म सर्वसाक्षीति तत्त्वमस्येव तत्त्वतः।
> अन्यत्ववारणत्वायाऽयमात्मेत्यपि वर्ण्यते' ॥ ३ ॥

इति ॥ १३ ॥

ऐ औ च् ॥ ४ ॥

> ऐ औ च् ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत् स्वान्तर्गतं ततः।
> इच्छया विस्तरं कर्त्तुमाविरासीन्महामुनिः ॥ १४ ॥

स्वात्मभूतस्य परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वं कथमित्याशङ्क्याह–ऐ औजिति। ततः स्वान्तर्गतं जगद्विस्तारयितुमिच्छुः ऐ ज्ञानशक्तियुक्त इति अतः पूर्वसूत्रगत एव सः। अकारेकारदीर्घयोगस्यैव ऐकारत्वमेकत्वञ्च। सम्प्रज्ञानस्वरूपपरमेश्वरो यः स पूर्वसूत्रगत एव, अकारदीर्घस्य उकारदीर्घस्यैव योगे औकारत्वम्, यः स प्रज्ञानात्मा मायाशबलितः स एकारो यः स आईआऊ इत्याविर्भावे उक्तः। उक्तं चेश्वरविमर्शिन्याम्—अकारेकारोकाराणां ह्रस्वदीर्घाणां संयोगात् सर्वसम्भूति-रिष्यत इति। इच्छया जगद्विस्तारयितुमुद्युक्त इत्यर्थः। अत्राह—

'प्रणवेन जगद्व्याप्तं मायायाम्भवतिष्ठते ॥'

इति ज्ञानोत्तमे। एवं तत्तत्समुदायानां त्रयोदशवर्णाच्छिवादिप्रकृत्यन्तानामुद्भवः। प्रकृतिपुरुषविवेकमुत्तरत्र कथयत्यस्मिन् सूत्रे उपहारत्वेन पठितम्। अत्र ह्रस्व-दीर्घप्रभेदाच्चतुर्दशस्वराणामेव संकीर्तनं चतुर्दशभुवन-चतुर्दशचक्रचतुर्दशप्रकारा-णामिति निष्कर्षः। तदुक्तं शिवगौरीसंवादे महामन्त्रतत्त्वप्रकाशिन्याम्—

'तव मन्त्रं महेशानि मम रूपं त्वमेव हि।
चतुर्दशात्मकं चक्रं स्वरचक्रमितीरितम्॥
त्रयोदशात्मकं तुर्यमावयोर्मन्त्रमम्बिके।
उच्छूनकाले बिन्द्वात्मा तस्मादक्षरसम्भवः॥
बिन्दुस्फोटनमात्रेण वर्णानां च समुद्भवः।
तस्मादाकाशमुख्यानि भूतानि समजायत॥
बिन्दुः श्रीचक्रराजस्य परब्रह्मात्मकस्त्विति।
चतुर्दशात्मकः पश्चाच्चक्राकारेण सम्भवः॥
उत्पन्नभुवनान्यत्र चतुर्दश चतुर्दशे'ति॥ १४॥

ह य व र ट्॥ ५॥

भूतपञ्चकमेतस्माद्ध-य-व-र-ण्महेश्वरात्।
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत् स एव हि॥ १५॥

तत आत्मनः सकाशादाकाशादिभूतसम्भवमाह—भूतपञ्चकमिति। स एवेति। परमेश्वर एवेत्यर्थः॥ १५॥

हकाराद्व्योमसंज्ञं च यकाराद्वायुरुच्यते।
रकाराद्वह्निस्तोयं तु वकारादिति सैव वाक्॥ १६॥

हकारादित्यादि। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशा-द्वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुतिः॥ १६॥

ल ण्॥ ६॥

आधारभूतं भूतानामन्नादीनां च कारणम्।
अन्नाद्रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणीरितम्॥ १७॥

एतस्मात् परमेश्वराद् भूतपञ्चकमाकाशादिकं प्रपञ्चकारणमासीदित्युक्तम्, तत्र आकाशादिभूतचतुष्टयमेवोक्तम्, न पृथिवीत्याकांक्षायामाह—आधारेति। भूतानां प्राणिजातानामुद्भिज्जस्वेदज-जरायुजाण्डजादीनां प्रधानाधारत्वादाधार-भूता पृथिवी पुनश्चान्नपानादीनां कारणत्वात् प्रत्येकत्वेन लणित्युदीरितमित्यर्थः, अन्नाद्रेत इति न्यायात्॥ १७॥

ञ म ङ ण न म् ।। ७ ।।

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च ञ-म-ङ-ण-न-म् ।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात् सर्ववस्तुषु ।। १८ ।।

ततः पृथिव्यादीनां कारणत्वेन स्थितानां तन्मात्राणामुत्पत्तिक्रममाह— शब्देति । व्योमादीनामिति । व्योमादीनां गुणानेककारणानुत्पत्तिक्रमे तान् जानीयात् । सर्ववस्तुष्विति । अत्र केषांचिद् ग्रन्थे अकारादिक्षकारान्ताः षट्-त्रिंशत्तत्त्वमयाः, कतिचित्तन्त्रराजादिग्रन्थे पञ्चभूतक्रमेण लिपिप्रकारेण । एव-मन्यत्र बीजनिर्णयभेदा बहवः सन्ति, अत्र तु तन्त्रोक्तप्रकारेणोद्धाटितम् ।

'पञ्चवर्गेष्वन्तिमार्णाः शब्दस्पर्शादयो गुणाः ।'

इति वचनात् । सर्वजगत्कारणभूतस्य वर्णरूपपुरुषस्य सर्वेषां चेति व्योमादिगुणा इत्यर्थः ।। १८ ।।

झ भ ञ् ।। ८ ।।

वाक्पाणी च झ-भ-ञासीद्विराड्रूपचिदात्मनः ।
सर्वजन्तुषु विज्ञेयं स्थावरादौ न विद्यते ।।
वर्गाणां तुर्यवर्णा ये कर्मेन्द्रियमया हि ते ।। १९ ।।

घ ढ ध ष् ।। ९ ।।

घढधष् सर्वभूतानां पादपायू उपस्थकः ।
कर्मेन्द्रियगणा ह्येते जाता हि परमार्थतः ।। २० ।।

ततः सूत्राभ्यां कर्मेन्द्रियवर्गमुद्धाटयति—वाक्पाणी चेति । विराड्रूपस्य शिवस्य प्राणिजातस्य च झकारभकारौ स्थावरादिषु विना विराड्रूपं विज्ञेय-मित्यर्थः । अथ क्रमप्राप्तं पादादिकमाह—घढधषिति । परमार्थत इति । परमशिवसकाशात् इमे कर्मेन्द्रियगणाः सर्वजन्तूनां पादपायूपस्थाः घढधवर्णा जाता इत्यर्थः ।। १९-२० ।।

ज ब ग ड द श् ।। १० ।।

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वाधीन्द्रियपञ्चकम् ।
सर्वेषामपि जन्तूनामीरितं ज-ब-ग-ड-द-श् ।। २१ ।।

अथ क्रमप्राप्तं ज्ञानेन्द्रियसम्भवमाह— श्रोत्रेति ।

'वर्गाणां मध्यवर्णोत्थो ज्ञानेन्द्रियगणः स्मृतः' ।

इति वचनशासनाज्जबगडदवर्णसमूहो ज्ञानेन्द्रियगण इति तस्य सर्वत्रस्थस्यैव ज्ञानेन्द्रियगणः समुत्पन्नः इति सर्वत्र सर्वेषां प्राणिजातानामेते वर्णा ज्ञानेन्द्रियाणां जनका इति वा ज्ञातव्यमित्यर्थः ।। २१ ।।

ख फ छ ठ थ च ट त व् ॥ ११ ॥

प्राणादिपञ्चकं चैव मनो बुद्धिरहङ्कृतिः ।
बभूव कारणत्वेन ख-फ-छ-ठ-थ-च-ट-त व् ॥ २२ ॥
वर्गद्वितीयवर्णोत्थाः प्राणाद्याः पञ्च वायवः ।
मध्यवर्गत्रयाज्जाता अन्तःकरणवृत्तयः ॥ २३ ॥

ततः प्राणादिपञ्चकमनोबुद्धयहङ्काराः समुन्मील्यन्ते—प्राणादीति ॥२२॥

वर्गेति । एतैरष्टवर्णैः प्राणादिपञ्चकं मनोबुद्ध्यहङ्कृतयश्च जगतां कारणत्वेन सम्भूता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

क प य् ॥ १२ ॥

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव सर्वेषामेव सम्मतम् ।
सम्भूतमिति विज्ञेयं क-प-य् स्यादिति निश्चितम् ॥ २४ ॥

ततः सर्वप्राणिकारणत्वेनाद्यन्तवर्गद्वयाद्यक्षरग्रहणेन सम्पुटीभावं प्रकृतिपुरुषाभ्यां प्रकाशयति—प्रकृतिमिति । ककारपकारजातौ प्रकृतिपुरुषावित्यर्थः ॥२४॥

श ष स र् ॥ १३ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा ।
समाश्रित्य महादेवः श-ष-स-र् क्रीडति प्रभुः ॥ २५ ॥
शकाराद्राजसोद्भूतिः षकारात्तामसोद्भवः ।
सकारात् सत्त्वसम्भूतिरिति त्रिगुणसम्भवः । २६ ॥

तत्रावस्थात्रयं निरूपयति—सत्त्वमित्यादि । पुरा सृष्टेः प्राक् शषसवर्णसम्भूतान् सत्त्वरजस्तमोगुणानाश्रित्य परमशिवः सर्वभूतेषु क्रीडतीत्यर्थः॥२५-२६॥

ह ल् ॥ १४ ॥

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः ।
अहमात्मा परो हल् स्यामिति शम्भुस्तिरोदधे ॥ २७ ॥

इति नन्दिकेश्वरकृता काशिका समाप्ता ॥

सर्वतत्त्वजनकः स्वयं तत्त्वातीत इति ज्ञापनार्थमेतत् सूत्रं चकारेत्याह—तत्त्वातीत इति । सर्वानुग्रहः साक्षी तत्त्वातीतो हल् स्यामिति ढक्कानिनादव्याजेन सर्वेषां मुनिजनानां तत्त्वमुपदिशन् तिरोदधे इत्यर्थः । हकारः शिववर्णः स्यादिति शैवागमस्थिति'रिति शिवम् ॥ २७ ॥

इति आदिसूत्रनन्दिकेश्वरकाशिकायास्तत्त्वविमर्शिन्युपमन्युकृता टीका सम्पूर्णा ॥

परिशिष्ट ३

वर्णोद्धारतन्त्रोक्त मात्रिकाओं की ध्यान-सम्बन्धी आकृतियाँ

केतकीपुष्पगर्भाभां द्विभुजां हंसलोचनाम् ।
शुक्लपट्टाम्बरधरां पद्ममाल्यविभूषिताम् ॥
चतुर्वर्गप्रदां नित्यं नित्यानन्दमयीं पराम् ।
वराभयकरां देवीं नागपाशसमन्विताम् ॥
एवं ध्यात्वा अकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ अ ॥

ध्यानमस्या: प्रवक्ष्यामि षड्भुजां रक्तलोचनाम् ।
रत्न-कङ्कण-केयूर-हारोज्ज्वलकलेवराम् ॥
सिद्धां सिद्धिप्रदां सौम्यां सिद्धगन्धर्वसेविताम् ।
एवं ध्यात्वा सुरश्रेष्ठां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ आ ॥

धूम्रवर्णां महारौद्रीं पीताम्बरयुतां पराम् ।
कामदां सिद्धिदां सौम्यां नित्योत्साहविवर्द्धिनीम् ॥
चतुर्भुजान्तु वरदां हरिचन्दनभूषिताम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ इ ॥

चतुर्भुजां रक्तवर्णां रक्तपुष्पोपशोभिताम् ।
चारुचन्दनदिग्धाङ्गीं रक्तपङ्कजलोचनाम् ।
रक्तचीरपरीधानां धर्मकामार्थमोक्षदाम् ॥
एवं ध्यात्वा सुरश्रेष्ठां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ई ॥

पीतवर्णां त्रिनयनां पिताम्बरधरां पराम् ।
द्विभुजां जटिलां भीमां सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ।
एवं ध्यात्वा सुरश्रेष्ठां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ उ ॥

द्विभुजां शुक्लवर्णां च जटामुकुटशोभिताम् ।
शुल्कमाल्याम्बरधरां चारुचन्दनभूषिताम् ॥
चतुर्वर्गप्रदां नित्यां रक्तपङ्कजलोचनाम् ।
एवं ध्यात्वा तु तन्मन्त्रं दशधा जपमाचरेत् ॥ ऊ ॥

षड्भुजां नीलवर्णां च नीलाम्बरधरां पराम् ।
नानालङ्कारभूषाढ्यां सर्वालङ्कृतमस्तकाम् ।
भक्तिप्रदां भगवतीं भोगमोक्षप्रदायिनीम् ॥
एवं ध्यात्वा सुरश्रेष्ठां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ऋ ॥

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि द्विभुजां पद्मलोचनाम् ।
सन्तप्तस्वर्णवर्णाभां सर्वालङ्कारभूषिताम् ॥
रक्तपद्मेक्षणां देवीं रत्नहार-विभूषिताम् ।
एवं ध्यात्वा सुरश्रेष्ठां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ॠ ॥

स्वर्णचम्पकवर्णाभ्च स्वर्णालङ्कारविग्रहाम् ।
चतुर्भुजां त्रिनयनां रक्तचन्दनचर्चिताम् ॥
प्रणमामि सदा देवीं धर्मकामार्थमोक्षदाम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ऌ ॥

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि पीतवर्णां चतुर्भुजाम् ।
पीताम्बरपरीधानां नानालङ्कारमस्तकाम् ॥
विचित्रमाल्याभरणां देवदानवसेविताम् ।
चतुर्वर्गप्रदां नित्यां नित्योत्साहविवर्द्धिनीम् ॥
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ॡ ॥

रक्ताम्बरपरीधानां षड्भुजां रक्तलोचनाम् ।
विचित्राभरणां नित्यां चतुर्वर्गप्रदायिनीम् ।
ईषद्धास्यमुखीं सौम्यां देवगन्धर्वसेविताम् ॥
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ए ॥

विचित्ररूपिणीं देवीं विचित्राम्बरधारिणीम् ।
विचित्रमाल्याभरणां चतुर्बाहुसमन्विताम् ॥
नानालङ्कारसंयुक्तां चतुर्वर्गफलप्रदाम् ।
देवदानवगन्धर्वैः सेवितां मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ऐ ॥

रत्नालङ्कारसंयुक्तां पद्मरागप्रभां शुभाम् ॥
शरत्पूर्णेन्दुवदनां विचित्रवसनान्विताम् ॥
चतुर्भुजां त्रिनयनां स्मेरास्यां नीलकुन्तलाम् ।

विद्युद्दामसमानाङ्गीं मुक्तापङ्क्तिस्रजं भजे ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ओ ।।

चतुर्भुजां त्रिनयनां जटामुकुटमण्डिताम् ।
श्वेत-रोहित-पीतादि-पुष्पहारोपशोभिताम् ।
सदास्मेरमुखीं सौम्यां चतुर्वर्गप्रदायिनीम् ।।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। औ ।।

जपादाडिमपुष्पाभां द्विभुजां रक्तलोचनाम् ।
रक्ताम्बरपरीधानां रक्तालङ्कारभूषिताम् ।
चतुर्वर्गप्रदां सौम्यां वरदां नागशेखराम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। अं ।।

सन्तप्तहेमवर्णाभां सर्वालङ्कारभूषिताम् ।
रत्नयज्ञोपवीतां च रत्नकङ्कणराजिताम् ।।
पूर्णेन्दुवदनां सौम्यां तुरीयकरसंयुताम् ।।
चन्द्रसूर्याग्निरूपेण नयनत्रितयान्विताम् ।
साधकाभीष्टदां नित्यां धर्मकामार्थमोक्षदाम् ।।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। अः ।।

जपायावकसिन्दूरसदृशीं कामिनीं पराम् ।
चतुर्भुजां त्रिनेत्रां बाहुवल्लीविराजिताम् ।।
कदम्बकोरकाकार-स्तनयुग्म-विराजिताम् ।
रत्नकङ्कण–केयूर–हार-नूपुर–भूषिताम् ।
एवं ककारं ध्यात्वा तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। क ।।

बन्धूकपुष्पसङ्काशां रत्नालङ्कारभूषिताम् ।
वराभयकरां नित्यामीषद्धास्यमुखीं पराम् ।
एवं ध्यात्वा खकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ख ।।

दाडिमपुष्पशङ्काशां चतुर्बाहुसमन्विताम् ।।
रक्ताम्बरधरां नित्यां रक्तालङ्कारभूषिताम् ।
एवं ध्यात्वा गकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ग ।।

मालतीपुष्पवर्णाभां षड्भुजां रक्तलोचनाम् ।
शुक्लाम्बरपरीधानां शुक्लमाल्यविभूषिताम् ।

सदास्मेरमुखीं रम्यां लोचनत्रयराजिताम् ।
एवं ध्यात्वा घकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। घ ।।

धूम्रवर्णां महाघोरां ललज्जिह्वां चतुर्भुजाम् ।
पीताम्बरपरीधानां साधकाभीष्टसिद्धिदाम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ङ ।।

तुषारकुन्दपुष्पाभां नानालङ्कारभूषिताम् ।
सदा षोडशवर्षीयां वराभयकरां पराम् ।।
शुक्लवस्त्रावृतकटिं शुक्लवस्त्रोत्तरीयिणीम् ।
वरदां शोभनां रम्यामष्टबाहुसमन्विताम् ।
एवं ध्यात्वा चकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। च ।।

ध्यानमस्याः प्रवक्ष्यामि द्विभुजान्तु त्रिलोचनाम् ।
पीताम्बरधरां नित्यां वरदां भक्तवत्सलाम् ।।
एवं ध्यात्वा छकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। छ ।।

नानालङ्कारसंयुक्तैर्भुजैर्द्वादशभिर्युताम् ।
रक्तचन्दनदिग्धाङ्गीं चित्राम्बरविधारिणीम् ।
त्रिलोचनां जगद्धात्रीं वरदां भक्तवत्सलाम् ।
एवं ध्यात्वा जकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ज ।।

सन्तप्तहेमवर्णाभां रक्ताम्बरविभूषिताम् ।
रक्तचन्दन-लिप्ताङ्गीं रत्नमाल्यविभूषिताम् ।
चतुर्दशभुजां देवीं रत्नहारोज्ज्वलां पराम् ।
एवं ध्यात्वा झकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। झ ।।

चतुर्भजां धूम्रवर्णां कृष्णाम्बरविभूषिताम् ।
नानालङ्कारसंयुक्तां जटामुकुटराजिताम् ।।
ईषद्धास्यमुखीं नित्यां वरदां भक्तवत्सलाम् ।
एवं ध्यात्वा ञकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ञ ।।

मालतीकुन्दपुष्पाभां पूर्णचन्द्रनिभेक्षणाम् ।
दशबाहुसमायुक्तां सर्वालङ्कारभूषिताम् ।
परमोक्षप्रदां नित्यां सदा स्मेरमुखीं पराम् ।
एवं ध्यात्वा टकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ट ।।

पूर्णचन्द्रनिभां देवीं विकसत्पङ्कजेक्षणाम् ।
सुन्दरीं षोडशभुजां धर्मकामार्थमोक्षदाम् ।
एवं ध्यात्वा ठकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ठ ॥

जपासिन्दूरसङ्काशां वराभयकरां पराम् ।
त्रिनेत्रां वरदां नित्यां परमोक्षप्रदायिनीम् ।
एवं ध्यात्वा डकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ड ॥

रक्तोत्पलनिभां रम्यां रक्तपङ्कजलोचनाम् ।
अष्टादशभुजां भीमां महामोक्षप्रदायिनीम् ।
एवं ध्यात्वा ढकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ढ ॥

द्विभुजां वरदां वन्द्यां भक्ताभीष्टप्रदायिनीम् ।
राजीवलोचनां नित्यां धर्मकामार्थ-मोक्षदाम् ॥
एवं ध्यात्वा णकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ण ॥

चतुर्भुजां महाशान्तां महामोक्षप्रदायिनीम् ॥
सदा षोडशवर्षीयां रक्ताम्बरधरां पराम् ॥
नानालङ्कारभूषां वा सर्वसिद्धिप्रदायिनीम् ।
एवं ध्यात्वा तकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ त ॥

नीलवर्णां त्रिनयनां षड्भुजां वरदां पराम् ।
पीतवस्त्रपरीधानां सदा सिद्धिप्रदायिनीम् ॥
एवं ध्यात्वा थकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ थ ॥

चतुर्भुजां पीतवस्त्रां नवयौवन-संस्थिताम् ।
अनेक-रत्नघटित-हारनूपुर-शोभिताम् ।
एवं ध्यात्वा दकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ द ॥

षड्भुजां मेघवर्णां च रक्ताम्बरधरां पराम् ।
वरदां शुभदां रम्यां चतुर्वर्गप्रदायिनीम् ॥
एवं ध्यात्वा धकारं तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ध ॥

दलिताञ्जनवर्णाभां ललज्जिह्वां सुलोचनाम् ।
चतुर्भुजां चकोराक्षीं चारुचन्दनचर्चिताम् ॥
कृष्णाम्बरपरीधानामीषद्धास्यमुखीं सदा ।
एवं ध्यात्वा नकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ न ॥

विचित्रवसनां देवी द्विभुजां पङ्कजेक्षणाम् ।
रक्तचन्दनलिप्ताङ्गीं पद्ममालाविभूषिताम् ।।
मणिरत्नादिकेयूरहारकेयूरविग्रहाम् ।
चतुर्वर्गप्रदां नित्यां नित्यानन्दमयीं पराम् ।।
एवं ध्यात्वा पकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। प ।।

प्रलयाम्बुदवर्णाभां ललज्जिह्वां चतुर्भुजाम् ।
भक्ताभयप्रदां नित्यां नानालङ्कारभूषिताम् ।
एवं ध्यात्वा फकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। फ ।।

नीलवर्णां त्रिनयनां नीलम्बरधरां पराम् ।
नागहारोज्ज्वलां देवीं द्विभुजां पद्मलोचनाम् ।।
एवं ध्यात्वा बकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। ब ।।

तडित्प्रभां महादेवीं नागकङ्कणशोभिताम् ।
चतुर्वर्गप्रदां देवीं साधकाभीष्टसिद्धिदाम् ।।
एवं ध्यात्वा भकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। भ ।।

कृष्णां दशभुजां भीमां, पीयलोहितलोचनाम् ।
कृष्णाम्बरधरां नित्यां धर्मकामार्थमोक्षदाम् ।।
एवं ध्यात्वा मकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। म ।।

धूम्रवर्णां महारौद्रीं षड्भुजां रक्तलोचनाम् ।
रक्ताम्बरपरीधानां नानालङ्कार-भूषिताम् ।
महामोक्षप्रदां नित्यामष्टसिद्धिप्रदायिनीम् ।।
एवं ध्यात्वा यकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। य ।।

ललज्जिह्वां महारौद्रीं रक्तास्यां रक्तलोचनाम् ।
रक्तवर्णामष्टभुजां रक्तपुष्पोपशोभिताम् ।
रक्तमाल्याम्बरधरां रक्तालङ्कारभूषिताम् ।।
महामोक्षप्रदां नित्यामष्टसिद्धिप्रदायिकाम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ।। र ।।

चतुर्भुजां पीतवस्त्रां रक्तपङ्कजलोचनाम् ।
सर्वदा वरदां भीमां सर्वालङ्कारभूषिताम् ।।
योगीन्द्रसेवितां नित्यां योगिनीं योगरूपिणीम् ।

चतुर्वर्गप्रदां देवीं नागहारोपशोभिताम् ।
एवं ध्यात्वा लकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ल ॥

कुन्दपुष्पप्रभां देवीं द्विभुजां पङ्कजेक्षणाम् ।
शुक्लमाल्याम्बरधरां रत्नहारोज्ज्वलां पराम् ॥
साधकाभीष्टदां सिद्धां सिद्धिदां सिद्धसेविताम् ।
एवं ध्यात्वा वकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ व ॥

चतुर्भुजां चकोराक्षीं चारुचन्दनचर्चिताम् ।
शुक्लवर्णां त्रिनयनां वरदां च शुचिस्मिताम् ॥
रत्नालङ्कारभूषाढ्यां श्वेतमाल्योपशोभिताम् ।
देववृन्दैरभिवन्द्यां सेवितां मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥
एवं ध्यात्वा शकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ श ॥

शुक्लाम्बरां शुक्लवर्णां द्विभुजां रक्तलोचनाम् ।
श्वेतचन्दनलिप्ताङ्गीं मुक्ताहारोपशोभिताम् ॥
गन्धर्वगीयमानाञ्च सदानन्दमयीं पराम् ।
अष्टसिद्धिप्रदां नित्यां भक्तानन्दविवर्द्धिनीम् ।
एवं ध्यात्वा षकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ष ॥

करीषभूषिताङ्गीं च साट्टहासां दिगम्बरीम् ।
अस्थिमाल्यामष्टभुजां वरदामम्बुजेक्षणाम् ।
नागेन्द्रहारभूषाढ्यां जटामुकुटमण्डिताम् ॥
सर्वसिद्धिप्रदां नित्यां धर्मकामार्थमोक्षदाम् ।
एवं ध्यात्वा सकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ स ॥

चतुर्भुजां रक्तवर्णां शुक्लाम्बरविभूषिताम् ।
रत्नालङ्कारसंयुक्तां वरदां पद्मलोचनाम् ॥
ईषद्धास्यमुखीं लोलां रक्तचन्दनचर्चिताम् ।
·········चतुर्वर्गप्रदां सौम्यां मनोहराम् ।
गन्धर्वसिद्धदेवाद्यैर्ध्यातामाद्यां सुरेश्वरीम् ।
एवं ध्यात्वा हकारं तु तन्मन्त्रं दशधा जपेत् ॥ ह ॥

परिशिष्ट ४

मात्रिकाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि

वैदिक[1] साहित्य में मातृका

ऋग्वेद (१।१०२।४) में सोम बनाने के वर्णन में सात माताओं का उल्लेख है।

अस्यवामीय सूक्त के—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्र-
मेको अश्वो वहति सप्तनामा । २ ।
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः
सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्तस्वसारो अभि सं नवन्ते
यत्र गवां निहिता सप्त नाम । ३ ।
अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः । ४ ।

इन मन्त्रों में सप्तमातृकाओं का सन्धान करना असङ्गत न होगा।

स्मृति-पुराणादिकों में मातृका

[2]गोभिलस्मृति (१।११-१२) ने १४ मातृकाओं, मार्कण्डेयपुराण (८८।११-

---

१. श्री पी. वी. काणे ने 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में लिखा है कि गृह्य-सूत्रों में मातृका की चर्चा नहीं मिलती। किन्तु आगे चलकर नामकरणसंस्कार के प्रकरण में वहीं इन्होंने स्वीकार किया है कि हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र ने १२ आहुतियों की चर्चा की है जिनमें ४ मातृकाओं को, ४ अनुमति को २ राका को एवं २ सिनीवाली को दी जाती हैं।

२. गभिलस्मृति, प्रथम प्रपाठक :—

गौरी पद्मा शची मेधा सावित्री विजया जया ।
देवसेना स्वधा स्वाहा मातरो लोकमातरः ॥ ११ ॥
धृतिः पुष्टिस्तथा तुष्टिरात्मदेवतया सह ।
गणेशेनाधिकास्त्वेता वृद्धौ पूज्याश्चतुर्दश (षोडश) ॥ १२ ॥

२० एवं ३३) ने मातृगण के नाम से ७ माताओं, मत्स्यपुराण[1] (१७९।९-३१) ने एक सौ से अधिक माता देवियों के नाम गिनाये गये हैं। वराहमिहिर की

कर्मादिषु तु सर्वेषु मातरः सगणाधिपाः।
पूजनीयाः प्रयत्नेन पूजिताः पूजयन्ति ताः ॥ १३ ॥

प्रतिमासु च शुभ्रासु लिखित्वा वा पटादिषु।
अपि वाऽक्षतपुञ्जेषु नैवेद्यैश्च पृथग्विधैः ॥ १४ ॥

कुडचलग्नां वसोर्धारां सप्तधारां घृतेन तु।
कारयेत्पञ्चधारां वा नातिनीचां न चोच्छ्रिताम् ॥ १५ ॥

अनिष्ट्वा तु पितॄन् श्राद्धे न कुर्यात्कर्मवैदिकम्।
तत्रापि मातरः पूर्वं पूजनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६ ॥

१. मत्स्यपुराण १९७ अध्याय :—

ऋषय ऊचुः।

श्रुतः पद्मोद्भवस्तात विस्तरेण त्वयोदितः।
समासाद्भवमाहात्म्यं भैरवस्य विधीयताम् ॥ १ ॥

सूत उवाच।

तस्यापि देवदेवस्य शृणुध्वं कर्म चोत्तमम्।
आसीद् दैत्योऽन्धको नाम भिन्नाञ्जनचयोपमः ॥ २ ॥

तपसा महता युक्तो ह्यवध्यस्त्रिदिवौकसाम्।
स कदाचिन्महादेवं पार्वत्या सहितं प्रभुम् ॥ ३ ॥

क्रीडमानं तदा दृष्ट्वा हर्तुं देवीं प्रचक्रमे।
तस्य युद्धं तदा घोरमभवत्सह शम्भुना ॥ ४ ॥

आवन्त्ये विषये घोरे महाकालवनं प्रति।
तस्मिन्युद्धे तदा रुद्रश्चान्धकेनातिपीडितः ॥ ५ ॥

सुषुवे बाणमत्युग्रं नाम्ना पाशुपतं हि तत्।
रुद्रबाणविनिर्भेदाद्रुधिरादन्धकस्य तु ॥ ६ ॥

अन्धकाश्च समुत्पन्नाः शतशोऽथ सहस्रशः।
तेषां विदार्यमाणानां रुधिरादपरे पुनः ॥ ७ ॥

बभूवुरन्धका घोरा यैर्व्याप्तमखिलं जगत्।
एवं मायाविनं दृष्टवा तञ्च देवस्तथान्धकम् ॥ ८ ॥

बृहत्संहिता (५८।५६) में मातृदेवियों की मूर्तियों की ओर सङ्केत है। कृत्य-रत्नाकर ने सात माताओं की मूर्तियों की चर्चा की है। देवी पुराण में मातृका-पूजन के प्रसङ्ग में उनके प्रिय पुष्पों के नाम बताये गये हैं।

पानार्थमन्धकास्रस्य सोऽसृजन्मातरस्तदा।
माहेश्वरी तथा ब्राह्मी कौमारी मालिनी तथा॥ ९॥

सौपर्णी ह्यथ वायव्या शाक्री वै नैर्ऋता तथा।
सौरी सौम्या शिवा दूती चामुण्डा चाथ वारुणी॥ १०॥

वाराही नारसिंही च वैष्णवी च चलच्छिखा।
शतानन्दा भगानन्दा पिच्छिला भगमालिनी॥ ११॥

बला चातिबला रक्ता सुरभी मुखमण्डिका।
मातृनन्दा सुनन्दा च विडाली शकुनी तथा॥ १२॥

रेवती च महारक्ता तथैव विलपिच्छिका।
जया च विजया चैव जयन्ती चापराजिता॥ १३॥

काली चैव महाकाली दूती चैव तथैव च।
सुभगा दुर्भगा चैव कराली नन्दिनी तथा॥ १४॥

अदितिश्च दितिश्चैव मारी वै मृत्युरेव च।
कर्णमोटी तथा ग्राम्या उलूकी च घटोदरी॥ १५॥

कपाली वज्रहस्ता च पिशाची राक्षसी तथा।
भुशुण्डी शाङ्करी चण्डा लाङ्गली कुटभी तथा॥ १६॥

खेटा सुलोचना धूम्रा एकवीरा करालिनी।
विशालदंष्ट्रिणी श्यामा त्रिजटी कुक्कुटी तथा॥ १७॥

वैनायकी च वैताली उन्मत्तोदुम्बरी तथा।
सिद्धिश्च लेलिहाना च केकरी गर्दभी तथा॥ १८॥

भ्रुकुटी बहुपुत्री च प्रेतयाना विडम्बिनी।
क्रौञ्चा शैलमुखी चैव विनता सुरसा दनुः॥ १९॥

उषा रम्भा मेनका च सलिला चित्ररूपिणी।
स्वाहा स्वधा वषट्कारा धृतिर्ज्येष्ठा कपर्दिनी॥ २०॥

अभिलेखों में मातृका

विश्ववर्मन् का गंगधार लेख

(मालव सं० ४८०–सन् ४२३-२४)—

मातृणाञ्च प्रमुदितघनात्यर्थनिर्ह्लादिनीनाम् ।
तन्त्रोद्भूतप्रबलपवनोद्वर्तिताम्भोनिधीनाम् ।

माया विचित्ररूपा च कामरूपा च सङ्गमा ।
मुखे विला मङ्गला च महानासा महामुखी ॥ २१ ॥

कुमारी रोचना भीमा सदाहासा मदोद्धता ।
अलम्बाक्षी कालपर्णी कुम्भकर्णी महासुरी ॥ २२ ॥

केशिनी शङ्खिनी लम्बा पिङ्गला लेहितामुखी ।
घण्टारवाथ दंष्ट्राला रोचना काकजङ्घिका ॥ २३ ॥

गोकर्णिकाऽजमुखिका महाग्रीवा महामुखी ।
उल्कामुखी धूमशिखा कम्पिनी परिकम्पिनी ॥ २४ ॥

मोहना कम्पना क्ष्वेला निर्भया बाहुशालिनी ।
सर्पकर्णी तथैकाक्षी विशोका नन्दिनी तथा ॥ २५ ॥

ज्योत्स्नामुखी च रभसा निकुम्भा रक्तकम्पना ।
अविकारा महाचित्रा चन्द्रसेना मनोरमा ॥ २६ ॥

अदर्शना हरत्पापा मातङ्गी लम्बमेखला ।
अबाला वञ्चना काली प्रमोदा लाङ्गलावती ॥ २७ ॥

चिन्ता चित्तजला कोणा शान्तिकाघविनाशिनी ।
लम्बस्तनी लम्बसटा विसटा वासचूर्णिनी ॥ २८ ॥

स्खलन्ती दीर्घकेशी च सुचिरा सुन्दरी शुभा ।
अधोमुखी कटुमुखी क्रोधनी च तथाशनी ॥ २९ ॥

कुटुम्बिका मुक्तिका च चन्द्रिका बलमोहिनी ।
सामान्या हासिनी लम्बा कोविदारी समासवी ॥ ३० ॥

शङ्कुकर्णी महानादा महादेवी महोदरी ।
हुङ्कारी रुद्रसटा रुद्रेशी भूतडामरी ॥ ३१ ॥

पिण्डजिह्वा चलज्ज्वाला शिवा ज्वालामुखी तथा ।
एताश्चान्याश्च देवेश: सोऽसृजन्मातरस्तदा ॥ ३२ ॥

··················गतमिदं डाकिनीसम्प्रकीर्णम् ।
वेश्मात्युग्रं नृपतिसचिवो (ऽ–) कारयत्पुण्यहेतोः ॥ २३ ॥

यहाँ विश्ववर्मा के मन्त्री मयूराक्ष द्वारा बनवाये गये मातृ·वेश्म की चर्चा की गई है।

स्कन्दगुप्त का विहारस्तम्भ लेख—

भद्रार्यया भाति गृहं नवाभ्रनिर्मोकनिर्मुक्त······॥ ८ ॥
स्कन्दप्रधानैर्भुवि मातृभिश्च
लोकान्स सुष्य··················॥ ९ ॥

संस्कृत-साहित्य में मातृका

मृच्छकटिक, अङ्क १ :—

चारुदत्त :—तद्वयस्य । कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः । गच्छ, त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर ।

कादम्बरी, अनुच्छेद ६४ :—

अभिनवलिखितमातृपटपूजाव्यग्रधात्रीजनम् ।

प्रस्तरकला में मातृका

दक्षिण में इलोरा की गुहा में सप्तमातृका की सुन्दर मूर्तियाँ हैं। मथुरा तथा काशी-कला भवन में भी इनकी मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

जबलपुर से बारह मील पर भेड़ाघाट नामक नर्मदा का प्रपात है। वहाँ संगमर्मर की चट्टानों पर गौरीशङ्कर जी के मन्दिर में चौसठ योगिनियों की मूर्तियाँ हैं इन्हें चौसठ वर्ण·मातृका समझना अनुचित न होगा।

ओङ्कारेश्वर से तीन मील पूर्व नर्मदा के तट पर एक शक्तिपीठ है। यह स्थान सातमात्रा के नाम से कहा जाता है। इसका शुद्ध नाम सप्तमातृका है। यहाँ ब्राह्मी आदि सात मातृकाओं के मन्दिर हैं।

मोहनजोदड़ो के उत्खनन में माता·देवियों की आकृतियों की उपलब्धि की बात सर जॉन मार्शल के एतद्विषयक ग्रन्थों (जि० १, पृष्ठ ७ एवं ४९·५२ तथा चित्र १२, ५४ और ५५) से ज्ञात होती है।

कादम्बरी के अनुच्छेद ५६ में मातृ·भवन की चर्चा आई है। मातृदेवियों की पूजा के लिए प्रायः प्रत्येक गाँव के पास मातृ-भवन होता था जिसमें अनेक

मातृदेवियों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। अहिच्छत्रा की खुदाई में एक मातृभवन पाया गया था जिसमें मातृदेवियों की पचासों मूर्तियाँ मिली थीं।—
'कादम्बरी : एक अध्ययन'।

यज्ञोपवीत तथा विवाह संस्कार में आज भी दीवाल पर मातृकाओं की स्थापना की जाती है जिसे 'माई थापना' कहते हैं। संस्कार के अनन्तर मातृकाओं का विसर्जन भी निकटस्थ सरोवर में किया जाता है।

उद्धृत सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

	ग्रन्थ	लेखक
१	अणुभाष्य (ब्रह्मसूत्र-भाष्य)	श्री वल्लभाचार्य
२	आश्वलायनश्रौतसूत्र	
३	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा	उत्पलाचार्य
४	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी	आचार्य अभिनवगुप्त
५	उत्पलवृत्ति (शिवदृष्टि-वृत्ति)	उत्पलाचार्य
६	उत्तररामचरित	भवभूति
७	उद्योत (स्वच्छन्दतन्त्र की टीका)	क्षेमराज
८	ऋग्वेद	
९	ऋग्विधान	शौनक
१०	ऋगर्थदीपिका (ऋग्वेदभाष्य)	वेङ्कटमाधव
११	कठोपनिषद्	
१२	कर्पूरादिस्तोत्र	महाकाल
१३	कात्यायनश्रौतसूत्र	
१४	कामधेनु (काव्यालङ्कारसूत्र-टीका)	गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल
१५	कामधेनुतन्त्र	हस्तलेख
१६	कामकलाविलास	पुण्यानन्दाचार्य
१७	गीतार्थसंग्रह (गीता की टीका)	अभिनवगुप्त
१८	चिद्गगनचन्द्रिका	कालिदास
१९	छान्दोग्य उपनिषद्	
२०	तत्त्वसन्दोह	राजानक आनन्दाचार्य
२१	तत्त्वसंग्रह	शान्तरक्षित
२२	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त
२३	तन्त्रालोक	आचार्य अभिनवगुप्त
२४	तन्त्राभिधान-भूमिका	आर्थर अवलन
२५	तत्त्ववैशारदी (योगसूत्रभाष्य-टीका)	वाचस्पति मिश्र
२६	तात्पर्यदीपिका (सूतसंहिता टीका)	माधवाचार्य
२७	ताण्डच ब्राह्मण	
२८	तैत्तिरीय उपनिषद्	
२९	तैत्तिरीय आरण्यक	
३०	तैत्तिरीय ब्राह्मण	

३१	त्रिपुरामहिम्नस्तोत्रटीका	नित्यानन्द
३२	दीपिका (योगिनीहृदय-टीका)	अमृतानन्दयोगी
३३	दुर्गासप्तशती	
३४	देव्यथर्वशीर्ष उपनिषद्	
३५	नन्दिकेश्वरकाशिका	नन्दिकेश्वर
३६	नित्या षोडशिकार्णव (वामकेश्वर तन्त्रान्तर्गत)	
३७	निरुक्त	यास्काचार्य
३८	नेत्रतन्त्र	
३९	नेत्रतन्त्रोद्योत	क्षेमराज
४०	पञ्चस्तवी	कालिदास
४१	पदप्रकाश (वाक्यपदीय-टीका)	हेलाराज
४२	पदार्थादर्श (शारदा-तिलक-तन्त्र-टीका)	राघवभट्ट
४३	परशुरामकल्पसूत्र	परशुराम
४४	परात्रिंशिका	अभिनवगुप्त
४५	पाणिनीयशिक्षा	पाणिनि
४६	पूर्वपाणिनीयसूत्र	,,
४७	प्रकाश (वाक्यपदीय-टीका)	पुण्यराज
४८	प्रकारान्तरमन्त्राभिधान (तन्त्राभिधानान्तर्गत)	
४९	प्रश्नोपनिषद्	
५०	प्रपञ्चसारतन्त्र	शङ्कराचार्य
५१	प्रयोगक्रमदीपिका (प्रपञ्चसा० त० विवरण-टीका)	अज्ञातकर्तृक
५२	भास्करी-भूमिका	डा० के० सी० पाण्डेय
५३	मन्त्राभिधान	
५४	महार्थमञ्जरी	गोरक्षापरपर्याय महेश्वरानन्द
५५	महाभाष्य	पतञ्जलि
५६	महिम्नस्तोत्र	पुष्पदन्त
५७	मातृकाचक्रविवेक	
५८	मातृकानिघण्टु	
५९	मातृकाविलास	वंशीधर सङ्कलित
६०	मालिनीविजयोत्तरतन्त्र	
६१	मिताक्षरा	विज्ञानेश्वर
६२	यजुर्वेद (मा० सं०)	

६३ याज्ञवल्क्यस्मृति	
६४ योगसूत्र	पतञ्जलि
६५ योगिनीहृदय (वामकेश्वर तन्त्रान्तर्गत)	
६६ रघुवंश	कालिदास
६७ ललितासहस्रनाम (ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत)	
६८ लक्ष्मीधरा (सौन्दर्य-लहरी-टीका)	लक्ष्मीधर
६९ लोचन (ध्वन्यालोकटीका)	अभिनवगुप्त
७० वरिवस्यारहस्य	भास्करराय
७१ वरिवस्यारहस्यप्रकाश	,,
७२ वाक्यपदीय	भर्तृहरि
७३ वाचस्पत्यम् (कोष)	
७४ वायवीयसंहिता (शिवपुराणान्तर्गत)	
७५ वामकेश्वरीमतम्	
७६ वामकेश्वरीमतविवरण	राजानक जयरथ
७७ विवरण (प्रपञ्चसारतन्त्र-टीका)	पद्मपादाचार्य
७८ विवेक (तन्त्रालोक-टीका)	राजानक जयरथ
७९ विज्ञानभैरवतन्त्र	
८० विज्ञानभैरवविवृति	शिवोपाध्याय
८१ विज्ञानभैरवोद्योत	क्षेमराज
८२ वेदान्तपारिजात (ब्रह्मसूत्रभाष्य)	निम्बार्काचार्य
८३ वेददीप (माध्यन्दिन-संहिता-भाष्य)	महीधर
८४ बृहदारण्यक उपनिषद्	
८५ ब्रह्मसूत्र	वादरायण
८६ शक्तिमहिम्नस्तोत्र	क्रोधभट्टारक-दुर्वासा
८७ शतपथब्राह्मण	
८८ शारदातिलक तन्त्र	लक्ष्मणदेशिकेन्द्र
८९ शिवसूत्र	
९० शिवदृष्टि	सोमानन्दपाद
९१ शिवसूत्रवार्तिक	भट्टभास्कराचार्य
९२ शिवसूत्रविमर्शिनी	क्षेमराज
९३ श्रीकरभाष्य	श्रीपतिपण्डित
९४ श्रीकण्ठभाष्य	श्रीकण्ठ
९५ श्रीमद्भगवद्गीता	
९६ साम्बपञ्चाशिका	

९७ सांख्यप्रवचनभाष्य — विज्ञानभिक्षु
९८ सूतसंहिता
९९ सेतुबन्ध (नित्याषोड० टीका) — भास्करराय
१०० सौभाग्यभास्कर (ललितास० टीका) — ,,
१०१ सौन्दर्यलहरी — शङ्कराचार्य
१०२ स्वच्छन्दतन्त्र
१०३ स्फोटसिद्धि — भरतमिश्र
१०४ स्पन्दकारिका — वसुगुप्त
१०५ स्पन्दसन्दोह — क्षेमराज

हिन्दी

१०६ रामचरितमानस — सन्तकवि तुलसीदास

अंग्रेजी

१०७ गारलैण्ड आफ लेटर्स — सर जान उडरफ
१०८ कश्मीर शैविज्म — जगदीशचन्द्र चटर्जी
१०९ ऋग्वेदिक कल्चर आफ दि प्रिहिस्टारिक इण्डस — स्वामी शङ्करानन्द

अनुद्धृत सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

१ अजड़प्रमातृसिद्धि — उत्पलदेव
२ ईशानशिवगुरुदेवपद्धति — सं० गणपति शास्त्री
३ कुलचूड़ामणि तन्त्र
४ तन्त्रसमुच्चय
५ ताराभक्तिसुधार्णव
६ त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड
७ प्राणतोषिणीतन्त्र — रामतोष भट्टाचार्य
८ महानिर्वाणतन्त्र
९ माहेश्वरतन्त्र
१० मेरुतन्त्र
११ मृगेन्द्रतन्त्र
१२ रुद्रयामल (उत्तरतन्त्र)
१३ शक्तिसङ्गमतन्त्र
१४ श्री दक्षिणामूर्तिसंहिता

हिन्दी

१५ तान्त्रिक दृष्टि (कल्याण-साधनाङ्क) — महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज
१६ शक्तिपात-रहस्य ,, — ,,
१७ शक्तिसाधना (कल्याण शक्ति अङ्क) — ,,
१८ शाक्ताद्वैतवाद ,, — पं० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय
१९ श्रीयन्त्र का स्वरूप ,, — ललिताप्रसाद डबराल
२० शक्ति सम्बन्धी साहित्य (कल्याण शक्ति अङ्क) — दीवानबहादुर श्री नर्मदाशङ्कर देवशङ्कर मेहता

अंग्रेजी

२१ अभिनवगुप्त — डा० के० सी पाण्डेय
२२ हिन्दू मिस्टिसिज्म, भाग २ — सरजान उडरफ
मिस्टिसिज्म आफ दि तन्त्राज (आर्थर अवलन)
२३ इन्ट्रोडक्शन टु तन्त्र-शास्त्र — ,,

२४	इन्ट्रोडक्शन (त्रिपुरारहस्य)	पं० गोपीनाथ कविराज
२५	लाइट्स आन दि तन्त्राज़	एम० पी० पण्डित
२६	महामाया : दि वर्ल्ड ऐज़ पावर : पावर ऐज़ कांशसनेस	सरजान उडरफ
२७	प्रिंसिपल आफ तन्त्र	प्रमथनाथ मुखोपाध्याय
२८	शक्ति एण्ड शाक्त	सरजान उडरफ
२९	दि सरपेण्ट पावर	,,
३०	दि शाक्त पीठाज़	डी० सी० सरकार, एम० ए०, पी० एच० डी०

ग्रन्थकार-परिचयः

गङ्गाया गरिमाणं मौलिमुकुटसङ्घटितगिरिश्रेष्ठम् ।
गुरुणादरेण बिभ्रद्विलसत्यत्रोत्तरो देशः ॥ १ ॥

यत्रास्ते वैसवारावनिरखिलगुणखनिर्या जनिर्जित्वराणा-
मारावाराप्रसाराभिगतशतमहारातिमारान्तकानाम् ।
श्रीवेनीमाधवानां विसरदसिलतोद्यद्यशःसौरभाणां,
जृम्भन्तेऽद्यापि येषां रणरमणकथाश्चारु-रानाभिधानाम् ॥ २ ॥

यस्याङ्के शोभते ग्रामः श्रीसुमेरुपुराभिधः ।
पूर्वाञ्चले सदानीरा भाति लोननदी मुदा ॥ ३ ॥

दक्षिणस्यां च खरही पलाशवनसंवृता ।
प्रतीच्यां वहती चैव वर्षासून्मदकलेवरा ॥ ४ ॥

वशिष्ठस्य गणे जात उपमन्युर्महायशाः ।
गोत्रप्रवर्तकः कश्चिदासीच्छैवोत्तमो महान् ॥ ५ ॥

वशिष्ठ इन्द्रप्रमदो महर्षिश्च भरद्वसुः ।
अस्यैते पूर्वजा आसन् प्रवरा ऋषयस्त्रयः ॥ ६ ॥

तस्योपमन्योर्महतो गोत्रे जातो नरर्षभः ।
आसीत्प्रभाकरः श्रीमानस्माकं कोऽपि पूर्वजः ॥ ७ ॥

यद्विषये वंशजस्यैव कस्यचित्सूक्तिरीर्यते—
'न दक्षिणाशाप्यवलम्बिता क्वचित्
कृतोऽमुना नैव कदाप्यधः करः ।
तथापि लक्ष्मीं सुहृदे समर्पयन्
प्रभाकरोऽभूदपरः प्रभाकरः ॥'
तस्यावस्थीत्यन्ववायः प्रसिद्धो,
विद्यावृद्धः कान्यकुब्जद्विजेषु ।
उन्नावाख्ये मण्डले ग्रामउक्ते,
तस्मिन्वंशे सम्प्रसूतोऽहमस्मि ॥ ८ ॥

चन्द्रमती यस्याम्बा रामकुमारो भिषग्वरस्तातः ।
आवसथिककुलशैलः सततं प्राभाकरो जयति ॥ ९ ॥

साहित्ये कृतधीरधीतिनिपुणैरन्तेवसद्भिः सदा ।
संवीतो नवनीतिकौशलजुषी यस्याभवच्छेमुषी ॥
गीतागानचणः पितृव्यचरणो जैरामसंज्ञः सुधीः ।
वैदुष्यं हि वितीर्य मे सुरगिरो मामञ्जसान्वग्रहीत् ॥ १० ॥

श्रुत्यन्ते प्रथिता मतिः स्मृतिपुराणादौ च पूर्णा गति-
र्यस्याभूद्रघुवंश इत्यभिधया ख्यातः पितृव्यो गुरुः ।
संसत्सु प्रतिवादिवृन्दविभदीकारप्रकारे पटु-
र्मुम्बाया नगरे वसञ्शुचिधिया लेभेऽवदातं यशः ॥ ११ ॥

अष्टाध्यायी हि यस्याः स्मृतिसरणिमिता या क्रमव्युत्क्रमेण,
तस्या अङ्के स्वतातस्वसुरखिलमहो शैशवं येन नीतम् ।
कौमुद्याः फक्किकासु प्रणिहितहृदयः शेखरप्रोतचित्तः ।
ब्रह्मानन्दाभिधानः गुरुरपर इहाऽभूद्यस्य धन्यो पितृव्यः ॥ १२ ॥

सूर्यनारायणः शुक्लो वाराणस्यां गुरुर्मम ।
आसीज्ज्ञानरुचौ सूर्यनारायण इवापरः ॥ १३ ॥

नित्यं रसावसेकाज्जीवनधारां प्रपूरयन्ती या ।
श्रीरिव गेहे कलिता सा मे ललिता सती भाति ॥ १४ ॥

तत्तिग्मांशोर्दहरकुहरे चेतसालम्ब्य बिम्बं
तत्राम्बाया विरचितवता चारु पञ्चोपचारम् ।
नित्यं सक्तेन हि जपविधौ भूयसा वेदमातु—
रन्तर्यागप्रकटविधिनोत्थापिता नागकन्या ॥ १५ ॥

सिन्दूरारुणतरुणीं तरणीं भवजालजलधिहरीणाम् ।
करुणावीक्षणनिपुणामम्बामविलम्बमालम्बे ॥ १६ ॥